गुरु विरजानन्द दण्डी
सन्दर्भ पु
पु संग्रहण कर्यांक 2760
दयानन्द महिला महाविद्यालय, कुरुक्षेत्र

मानवधर्मशास्त्रम् ॥

लोकोपकारमनीषया भीमसेनशर्म्मकृतमानवधर्ममीमां-
साभिधव्याख्योपेतम् ॥
संस्कृतभाषया लोकभाषया च व्याख्यातम् ॥

२ भागे } ॥ मासिकपत्रम् ॥ { २—३ खण्डः

सज्जनानां साहाय्येन स्वीय सरस्वतीयन्त्रालये
मुद्रापयित्वा प्रकाशितम् ॥

प्रयाग

सन् १८९५ ईस्वी संवत् १९५१ माघ
की रजिष्टरी कराई गयी है किसी को छापने का अधिकार नहीं ॥
वार्षिक मूल्य २॥)

१५०० मूल्य प्रति अङ्क ६)॥

मूल्यप्राप्तिस्वीकार ॥

७२ पं० शिवव्रकश शर्म्मा जी मुम्बई २)
४७४ पं० अम्बालाल जी डूंगरपुर २)
४७५ श्रीसंगप्पा हवलदार पूना किर्की २॥)
३२७ रा.रा.रामजीभगवानसोनीमुम्बई२॥)
२९८ बा० टीकाराम जी कासगज २॥)
२ पं० सीताराम शर्म्मा मुम्बई " २)
२१२ श्रीमोहनलाल जी लट्ठा " २)
१५ सेठ बेलजी लखमसी " २)
३ सेठ उयेठाप्रेम जी " २)
२९३ पब्लिक लाईब्रेरियन नीमच १)
१९५ पं० अनन्तराम जी शर्म्मा बड़ागांव २)
३८४ बा० किशोरीलालजीवकील आरा२॥)
४३२ बा० नीलम्बरप्रसाद जी बांकीपुर २॥)
३७० बा० देवीप्रसाद जी जहानाबाद २॥)
३२९ बा० गिरधारीलाल जी मैनपुरी २॥)
३५५ ब० रामदीन जी कोरह २॥)
४५७ ब० अयोध्याप्रसाद जी हर्दोई २॥)
४२ मुरलीधरअलखधारी जी चीचली २॥)
२३२ बा० गोपालसहायजी फीरोजपुर २॥)
५०२ श्रीरामदयाल जी कल्याण २॥)
५०५ लाला जयदयाल जी उक्रियानी २॥)
५०६ पं० जानकीप्रसाद जी उक्रियानी २॥)
[illegible]वाधार रामाधीन जी मुम्बई २॥)
३१० स्वामी लक्ष्मणानन्द सहारनपुर २॥)
१९३ न्यादरमल-शंकरलालजी
नजीबाबाद २॥)
३६० बालकृष्ण जी बाबन ॥)
९२ ब्रह्मानन्द जी दीनापुर २)
५१० जगसिंह जी गढ़िया २॥)
५१२ भगवानदास जी [illegible] २॥)
१३५ कृष्णसहाय जी स्टे० चाम्बल २॥)
३२२ सुलतानीराम जी अमृतसर ॥)
५८८ श्रीनारायणविट्ठल जी मुम्बई २॥)
३३३ श्रीयुगलकिशोर जी रुहतक ४॥)
४७२ श्रीबलदेवप्रसाद जी बरेली २॥)
२७ श्री परमात्मादीन जी रंजितपुरवा २॥)
५०७ श्रीप्रयागदत्त जी [illegible]बाद २॥)
५५१ मनमोहनलाल जी
भगवानपुर जि० पटना २॥)
३३७ महाराजकिशोर जी बदायूं २॥)
४४३ ब्रह्मदत्त शर्मा रुस्तमपुर २॥)
५४२ श्रीरामसिंह जी फतहपुर २॥)
५५३ जयदेवभगीरथ जी
नैनीताल तल्लीताल २॥)
५५२ ला० रामप्रसाद जी नैनीताल २॥)
५१२ पं० रमादत्त त्रिपाठी नैनीताल २॥)
५५७ श्रीमाधोराव सबओवरसियर
नागपुर २॥)
५५८ मुकुन्दीलाल जी काजिमाबाद २॥)
५३४ दीनदयाल शर्मा जी सैफाबाद २॥)
३७७ श्री रामाबाबा चित्रकूट २)
५३७ सूर्यप्रसाद शर्मा जी रायबरेली
५५९ लक्ष्मीनारायणसिंह जी रायबरेली
५५० मुं० मेघबरनसिंह जी रायब[illegible]
४९४ पं० सघनलाल जी मंध[illegible]
६४ पं० पुत्तूलाल जी शिव[illegible]
५४१ विश्वेश्वर शर्मा प[illegible]
५३९ श्री हीरानन्द [illegible]

भा०-अत्र तप आदीन्युपलक्षणार्थानि। तप इति शारीरिककर्मणामुपलक्षकं वाक्पदेन तद्वताः सर्वे विशेषा गृह्यन्ते। रत्यादिपदैर्मानसकर्मभेदा उपलक्ष्यन्ते। तेन मानसं वाचिकं शारीरं च सर्वं कर्म परमेश्वरणेमाः प्रजाः स्रष्टुमिच्छन्सृष्टमित्याशयोऽनेन पद्येन प्रकाशितो भवति ॥ २५ ॥

अ०—(इमाः) इन प्रत्यक्ष (प्रजाः) प्रजाओं को (स्रष्टुम्,इच्छन्) रचना चाहते हुए ब्रह्मा ने (तपः) सरदी गर्मी का सहनारूप वा चान्द्रायणादि व्रतों का अनुष्ठान (वाचम्) वाणी का व्यवहार (रतिम्) काम से होने वाले सुख का अनुभव (चैव) उस के तुल्य अन्य सुख का अनुभव (कामम्) मैथुन की अभिलाषा (च) और संकल्पादि मानस वृत्ति (क्रोधम्) द्वेष (एव च) ईर्ष्या असूया मत्सरतादि (इमाम्) इस तप आदि नामवाली (चैव) और पीछे कही कालादि नामक वा वक्ष्यमाण (सृष्टिम्) सृष्टि को (ससर्ज) बनाया ॥

सं०-इन प्रजाओं को रचने की इच्छा वाले ईश्वर ने तप वाणी काम सुख कामभोग की इच्छा क्रोध और इन के सहयोगि इत्यादि प्रकार की सृष्टि को रचा ॥

भा०-इस श्लोक में तप आदि उपलक्षणार्थ हैं। तप शब्द से शरीरसम्बन्धी सब कर्म, वाक् पद से वाणी की सब विशेषता और रति आदि पदों से मनसम्बन्धी कर्म लिये हैं। इस प्रकार मानस वाचिक और कायिक सब कर्म परमेश्वर ने प्रजा को रचने की इच्छा से रचे यह आशय इस श्लोक से प्रकट होता है ॥ २५ ॥

कर्मणां च विवेकार्थं धर्माधर्मौ व्यवेचयत्।
द्वन्द्वैरयोजयच्चेमाः सुखदुःखादिभिः प्रजाः २६

सं०-त्रिविधकर्मणां विवेकार्थं धर्माधर्मौ व्यवेचयत्। प्रत्यक्षीकभावापन्नैस्तत्फलैः सुखदुःखादिभिरिमाः प्रजा अयोजयत् ॥

अ०-(च) पुनस्त्रिविधकर्मसर्गानन्तरम्। स स्रष्टा (कर्मणाम्) मानसवाचिककायिकानाम् (विवेकार्थम्) इदं शुभं कर्त्तव्यं

कर्मेदं चाशुभमकर्त्तव्यमित्यादिप्रकारेण भेदपरिज्ञानाय (धर्माधर्मौ) यस्मिन् क्रियमाणे कृते वा लज्जा शङ्का भयं वा किञ्चिदपि नोत्पद्यतेऽपितु कालत्रये चेतः प्रसीदति स धर्मो यस्मिंश्च क्रियमाणे कृते वा लज्जा शङ्का भयं चोत्पद्यते सर्वदा चेतो ग्लायति सोऽधर्मः। एवम्भूतौ धर्माधर्मौ (व्यवेचयत्) भिन्नौ कृतवान् (द्वन्द्वैः) परस्परं विरुद्धैर्धर्माधर्मफलैः (सुखदुःखादिभिः) अत्रादिपदेन कामक्रोधरागद्वेषलोभमोहादयो गृह्यन्ते। तैः सर्वैः (इमाः) सृज्यमानाः (प्रजाः) मनुष्याद्याः (.च) पुनः (अयोजयत्) संयोजितवान् ॥

भा०-चेतोमालिन्यसम्पादकोऽधर्मश्चेतःप्रसादकारको धर्मश्च। एवं सति यन कर्मणान्तःकरणं शुद्धं छलकपटादिरहितं परोपकारप्रियं जायेत तद्धर्मसञ्चयहेतुत्वाच्छुभं कर्त्तव्यं कर्म येन चान्तःकरणं छलकपटादिसहितं हिंसादिपरापकारलग्नं सत् मलिनी भवति तदधर्मसञ्चयहेतुत्वादकर्त्तव्यमशुभं कर्म निश्चेयम्। एवं धर्माधर्मयोर्विवेकः शुभाशुभकर्मणोर्भेदपरिज्ञाने कारणमित्याशयः। तैः शुभाशुभकर्मभिस्तत्फलैरिष्टानिष्टैः सम्पन्नाः सर्वे प्राणिनः सर्गारम्भ एवेश्वरेण कृताः। शुभकारिणोऽप्यनिष्टेन योजिता इति नात्र शङ्कनीयम्। किन्तु पूर्वकल्पावशिष्टैः शुभाशुभमिश्रितकर्मकारणसञ्चयेनैव शरीरधारणं प्राप्ताः। अतस्तेषामुभयविधकर्मणामुभयविधेष्ठ भोगो न्यायानुकूल एव दत्त इति ध्येयम्। शुभाशुभकर्मसञ्चयतार तम्येन च सुखदुःखभोगस्य तारतम्यमपि न विरुध्यते। एवं स शुभाशुभकर्महेतुकं जन्मेति शास्त्रसिद्धान्तो न व्याहन्यते। क संस्कारवासनानामभावे हि मोक्ष इत्यपि निर्विघ्नं तिष्ठति

सं०—तीन प्रकार के मानस वाचिक कायिक कर्मों का भेद जानने के लिये धर्म अधर्म का विभाग सृष्टिकर्त्ता ने किया और परस्परविरुद्ध धर्माधर्म के फल सुखदुःखादि से प्रजाओं को संयुक्त किया ॥

अ०—(च) फिर तीन प्रकार के कर्मों की रचना कहने पश्चात् उस सृष्टिकर्त्ता ने (कर्मणाम्) मानस वाचिक कायिक कर्मों के (विवेकार्थम्) यह करने योग्य शुभ कर्म है तथा यह न करने योग्य अशुभ कर्म है इत्यादि प्रकार से भेद जानने के लिये (धर्माधर्मौ) जिस को करते समय वा कर लेने पर लज्जा शङ्का तथा भय कुछ भी उत्पन्न नहीं होता किन्तु जिस कर्म के आगे पीछे वा वर्त्तमान तीनों काल में चित्त प्रसन्न होता है वह धर्म और जिस के सेवन से तीनों काल में लज्जा शङ्का भय उत्पन्न होते और जिस से सर्वदा चित्त में ग्लानि वा मलीनता होती है वह अधर्म ऐसे धर्माधर्मों को (व्यवेचयत्) भिन्न २ किया (द्वन्द्वैः) परस्परविरुद्ध धर्म अधर्म के (सुखदुःखादिभिः) सुख दुःख काम क्रोध राग द्वेष लोभ मोहादि फलों से (इमाः) इन रचे गये (प्रजाः) मनुष्यादि प्राणियों को (अयोजयत्) संयुक्त किया ॥

भा०—चित्त को मलीन करने वाला अधर्म तथा चित्त को प्रसन्न वा शुद्ध करने वाला धर्म है। ऐसा होने पर जिस कर्म से अन्तःकरण शुद्ध छलकपटादि रहित परोपकारप्रिय दयाशील हो वह धर्मसञ्चय का हेतु होने से शुभ करने योग्य कर्म है और जिस कर्म से अन्तःकरण छलकपटादि युक्त, हिंसादि द्वारा दूसरों को दुःख पहुंचाने में तत्पर हुआ मलीन होता है वह अधर्मसंचय का हेतु होने से अकर्त्तव्य अशुभ कर्म जानना चाहिये। इस प्रकार धर्म अधर्म का विवेक शुभ अशुभ कर्मों के भेद को जानने में कारण है। उन शुभ अशुभ कर्मों और के इष्ट अनिष्टफलों से युक्त सब प्राणी सृष्टि के आरम्भ में परमेश्वर ने किये ही प्रवाह अब तक चला आता और प्रलयपर्यन्त ऐसा ही चला जायगा। शुभ कर्म करने वालों को भी अनिष्ट दुःखादि से युक्त किया यह शङ्का करनी चाहिये क्योंकि पूर्वकल्प के शेष रहे शुभाशुभमिश्रित कर्मरूप कारण के संचय से ही जब शरीरधारण को प्राप्त हुए तो इसी कारण उन के दोनों प्रकार के अच्छे बुरे कर्मों के फल दोनों सुख दुःख का भोग न्यायानुकूल दिया यह विचारना चाहिये। और शुभ अशुभ कर्मसंचय की न्यूनाधिकता होने से सुख

दुःख भोग की न्यूनाधिकता भी विरुद्ध नहीं होती। ऐसा होने पर ही "शुभाशुभ कर्म ही जन्म का कारण है" यह शास्त्र का सिद्धान्त भी नहीं बिगड़ता तथा कर्मों के क्षीण होने पर अर्थात् संस्कार से हुई भोग की वासनाओं के अभाव में मोक्ष होना भी निर्विघ्न ठहर जाता है ॥ २६ ॥

अणव्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्द्धानां तु याः स्मृताः। ताभिः सार्द्धमिदं सर्वं सम्भवत्यनुपूर्वशः ॥२७॥

सं०—दशार्द्धानां पञ्चमहाभूतानां या अणव्यो विनाशिन्यो मात्राः स्मृता अभिमतास्ताभिः सार्द्धमिदं सर्वं स्थूलं जगदनुपूर्वशः क्रमशः सम्भवति ॥

अ०—(दशार्धानाम्) पञ्चमहाभूतानाम् (याः) (अणव्यः) अणुरूपाः सूक्ष्माः (विनाशिन्यः) प्रलयावसरे स्वकारणेऽहङ्कारे लीयन्ते विनश्यन्ति तस्माद्विनाशिन्यः (मात्राः) तन्मात्राख्याः (स्मृताः) अभिमताः स्थूलस्य जगत उपादानत्वेन स्वीकृताः (ताभिः, सार्द्धम्) ता उपादायैव (इदम्, सर्वम्) दृश्यमानं स्थूलं जगत् (अनुपूर्वशः) क्रमशः सूक्ष्मतरात्सूक्ष्मं सूक्ष्मात्स्थूलं स्थूलात्स्थूलतरं स्थूलतरात्स्थूलतममित्यादिक्रमेण (सम्भवति) उत्पद्यते ॥

भा०—यद्यप्यप एव ससर्जादावित्यादिना प्रकृत्यादिजडोपादानादेव स्थूलजगत्सर्गो व्याख्यातस्तथाप्युपसंहारे तदेव द्रढयितुमिदमुच्यते। दृश्यमानस्य स्थूलजगतश्चाव्यवहितं तन्मात्रारं साक्षादुपादानकारणमित्यप्यनेन सूच्यते। तन्मात्राख्यमेव सूक्ष्मं स्थूलस्य जगत उपादानमित्यवधारयता धर्मशास्त्रकारेणर्षिणा ब्रह्मण उपादानत्वं वदन्तो निराकृता इति विशिष्टं प्रयोजनमी-

क्षणीयम् । अनुपूर्वशः इति कथनेनोक्ताण्डाकारादिक्रमेण जगदुत्पत्तिः स्मार्य्यते । अतो नेदमपूर्वं वचः ॥ २७ ॥

सं०—पंचमहाभूतों के जो विनाशयुक्त अनित्य सूक्ष्म अंश तन्मात्रानामक माने गये हैं उन्हीं से यह सब स्थूल जगत् क्रमपूर्वक उत्पन्न होता है ॥

अ०—(दशार्धानाम्) पांच महाभूतों के (याः) जो (विनाशिन्यः) प्रलय के समय अपने उपादान कारण अहङ्कार में लीन वा अदृश्य होने से विनाशयुक्त (अणव्यः)अणुनामक सूक्ष्म (मात्राः) तन्मात्र नामक अवयव (स्मृताः) स्थूलजगत् के उपादानकारण माने गये हैं (ताभिः, सार्द्धम्) उन को लेकर ही (इदम्,सर्वम्) यह सब दृश्यमान स्थूल जगत् (अनुपूर्वशः) अतिसूक्ष्म से सूक्ष्म सूक्ष्म से स्थूल स्थूल से स्थूलतर स्थूलतर से स्थूलतम इत्यादि क्रम से (सम्भवति) उत्पन्न होता है॥

भा०—यद्यपि "अप एव ससर्जादौ" इत्यादि श्लोकों द्वारा प्रकृति आदि जड उपादानकारण से ही स्थूलजगत् की रचना का व्याख्यान किया है तो भी यहां प्रकरण की समाप्ति में उसी अंश को दृढ़ करने के लिये यह श्लोक कहा है । दृश्यमान स्थूलजगत् का निकटवर्त्ती तन्मात्रानामक साक्षात् उपादानकारण है यह भी इस से सूचित होता है । सूक्ष्म तन्मात्र नामक ही स्थूल जगत् का उपादानकारण है ऐसा निश्चित करते हुए धर्मशास्त्रकर्त्ता महर्षि ने ब्रह्म को उपादान कारण मानने वालों का खण्डन किया यह विशेष प्रयोजन भी शोचने योग्य है । अनुपूर्वशः कहने से अण्डाकारादि क्रम से जगत् की उत्पत्ति का स्मरण कराया है इस कारण यह अपूर्व कथन नहीं किन्तु पूर्वोक्त प्रकरण के पुष्ट्यर्थ है ॥ २७ ॥

यन्तु कर्मणि यस्मिन्स न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः ।
स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनः पुनः ॥२८॥

सं०—स प्रभुरीश्वरः प्रथमं यं प्राणिनं यस्मिन् कर्मणि न्ययुङ्क्त स पुनःपुनः सृज्यमानस्तदेव कर्म स्वयं भेजे ॥

अ०—(तु) पुनः (सः) ब्रह्मा (प्रभुः) सर्वाध्यक्षः सर्वं स्रष्टुं समर्थः प्रादुर्भूतसर्जनशक्तिरीश्वरः (प्रथमम्) सर्गारम्भे (यम्) प्राणिनम् (यस्मिन्, कर्मणि) यज्जातीयकर्मविशेषे (न्ययुङ्क्त)

नियोजितवान् (सः) तज्जातीयः प्राणी तस्मिन् जातिविशेषे (पुनःपुनः) (सृज्यमानः) कर्तृभूतेन तज्जातीयकर्मणोत्पद्यमानः (तदेव) स्वजातीयम् (कर्म) (स्वयम्) कस्यापि प्रेरणया विनैव (भेजे)स्वभावादेव सेवितवान् ॥

भा०—अनेन पद्येन जातिभेदककर्मणः प्राबल्यं प्रतिपाद्यते सर्गारम्भे सृष्टिकर्त्रा जातिभेदनियोगावसरेऽतीतकल्पानुष्ठितकर्मानुकूलं यः प्राणी यस्यां जातौ न्यायतो नियोज्य आसीत्तं तज्जातावुत्पाद्य तज्जातीयकर्मणि नियोजितवान् । यद्यपि कल्पकल्पान्तरप्रवाहेण जातीयकर्माण्यपि नित्यानि तथापि बहुकालीनप्रलये तमोऽभिभूतानां जीवात्मनां तदानीमभ्यासस्यातिविच्छेदात्तज्जातीयकर्मसु स्वयं प्रवृत्तिरसम्भवा । सर्गारम्भे यज्जातीयकर्मणि यो नियुक्तः स प्रलयावधि तदेव कर्म सेवते । एतत्कथनस्य नायमाशयो यन्मनुष्यजातौ सृष्टाः प्राणिनः कल्पावधि मनुष्यजातावेव जायन्ते म्रियन्ते च । एवं सति "मानसैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः" इत्यादिवक्ष्यमाणवचांसि व्याहन्येरन्। तस्माद्यं जीवात्मानं यज्जातीयकर्मणि सर्गारम्भे यथा स्रष्टा नियोजितवान् स च मनुष्यादिभिरन्यजातीयकर्मणि नियोजितोऽपि मरणावधि तत्कर्म त्यक्तुमशक्तः किन्तु तदेव सेवते। यथामार्जारजातौ जायमान आत्मा मूषिकभक्षणादिकर्मणि नियुक्तः स बहुप्रकारैस्तस्मात्कर्मणो निवर्त्त्यमानोऽपि सर्वोत्तमभक्ष्यवस्तुषु संनिहितेष्वपि स्वभावप्राबल्यान्मूषिकभक्षणं न जहाति । तथैव मनुष्याद्यन्यजातिस्थो मृतः प्राणी जन्मान्तरे यस्यां जातौ जायते तज्जातीयकर्माणि यावज्जीवनं सेवते । सर्गारम्भे कृतो नियमः

कल्पावधि तथैव प्रवर्त्तते। साम्प्रतमपि यो यज्जातौ प्राणी जायते स तज्जातीयकर्माणि स्वभावादेव सेवते। संस्कारात्प्रबलाजातिरिति जनश्रुतिरस्मादेव धर्मशास्त्रवाक्याशयाद्विद्वद्भिर्निस्सारितेत्यनुमीयते। एवं सति "यं ब्राह्मणादिं यस्मिन्यागादिकर्मणि नियोजितवान् स तदेव कर्म भेजे" इत्यादि राघवानन्दादिभाष्यकाराणां कथनमसंगतम्। प्रत्यक्षविरोधात्। दृश्यन्ते हि ब्राह्मणाद्युत्तमवर्णे सृज्यमाना निकृष्टकर्मरता निकृष्टवर्णजाताश्चोत्तमकर्मभाज इति। तस्मान्मनुष्यादिसामान्यजातिभेदकगुणकर्मनियोगप्रदर्शनार्थमेवेदं कथनमिति बोध्यम् ॥ २८ ॥

सं०—उस परमेश्वर ने पहिले सृष्टि के आरम्भ में जिस प्राणी को जिस कर्म में लगाया वह बार २ शरीरधारण करता हुआ उसी कर्म का स्वयमेव सेवन करता गया ॥

अ०—(तु) फिर (सः) उस (प्रभुः) सब को रचने में समर्थ प्रकट हुई रचने की शक्ति जिस में ऐसे सब के अध्यक्ष सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा ने (प्रथमम्) प्रथम सृष्टि के आरम्भ में (यम्) जिस प्राणी को (यस्मिन्,कर्मणि) जिस मनुष्यादि जाति के विशेष कर्म में (न्ययुङ्क्त) नियुक्त किया (सः) वह मनुष्यादि जाति वाला प्राणी उस जाति विशेष में (पुनःपुनः) बार २ (सृज्यमानः) उस २ जातिसम्बन्धी कर्म से शरीरधारण को प्राप्त हुआ (तदेव) उसी अपने जातीय (कर्म) कर्मको (स्वयम्) स्वयमेव किसी की प्रेरणा के विना ही (भेजे) स्वभाव से सेवन करता गया ॥

भा०—इस श्लोक से जाति को भिन्न २ ठहराने वाले कर्म की प्रबलता दिखायी है। सृष्टि के आरम्भ में सृष्टिकर्त्ता ने जातिभेद को नियत करने के समय पूर्वकल्प में सेवन किये कर्मों के अनुकूल जिस प्राणी को जिस जाति में न्यायपूर्वक नियुक्त करना उचित था उस को उस जाति में उत्पन्न करके उस जाति के नियत कर्म में नियुक्त किया। यद्यपि कल्पकल्पान्तर के प्रवाह से जातीय कर्म भी नित्य हैं तथापि बहुत काल तक रहे प्रलय में तमोगुणरूप अन्धकार से आच्छादित जीवात्माओं के जातीय कर्म सेवन के अभ्यास के बहुत काल तक छूट जाने से उस समय उस पूर्वकल्पानुभूत जाति के कर्मों में स्वयं प्रवृत्ति

होना असम्भव था। सृष्टि के आरम्भ में जिस जातिसम्बन्धी कर्म में जो प्राणी नियुक्त किया वह प्रलयपर्यन्त उसी कर्म का सेवन करता है इस कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि जो मनुष्यजाति में प्राणी रचे गये वे कल्प भर मनुष्य जाति में ही जन्मते मरते रहें। ऐसा हो तो "बड़े २ मानस पापों के संचित होने से मनुष्य स्थावरयोनि को प्राप्त होता अर्थात् मरणानन्तर स्थावरयोनि में जन्म लेता है" इत्यादि आगे कहे वचनों से विरोध आजावे परस्पर विरुद्ध दो कथनों में एक ही सत्य हो सकता है। इस लिये जिस जीवात्मा को जिस प्रकार के कर्म में स्रष्टा ने जैसे सृष्टि के आरम्भ में नियुक्त किया वह मनुष्यादि अन्य जाति के काम में नियुक्त किया भी मरणपर्यन्त अपने स्वाभाविक कर्म को नहीं छोड़ सकता किन्तु उसी का सेवन करता है। जैसे मार्जार—बिलाव जाति में उत्पन्न हुआ आत्मा मूषभक्षणादि कर्म में नियुक्त किया गया वह बहुत प्रकारों से उस कर्म से हटाये जाने पर भी अथवा सर्वोत्तम अन्य भक्ष्य वस्तुओं के पास होने पर भी मूषिक भक्षण कर्म को नहीं छोड़ता। वैसे ही मनुष्यादि अन्यजाति का मरा प्राणी जन्मान्तर में जिस जाति में उत्पन्न होता है उस जाति के स्वाभाविक कर्मों का जीवन भर सेवन करता है। सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर ने किया यह नियम कल्प भर वैसा ही चला जाता है। इस समय भी जो प्राणी जिस जाति में उत्पन्न होता है वह उस जाति के कर्मों का स्वभाव से ही सेवन करता है "संस्कार से जाति प्रबल है" यह प्रसिद्ध कहावत भी इसी धर्मशास्त्र के आशय से विद्वानों ने निकाली है ऐसा अनुमान होता है। ऐसा होने पर "जिस ब्राह्मणादि को जिस यागादि कर्म में पहिले नियुक्त किया उस ने वही कर्म सेवन किया" इत्यादि राघवानन्दादि भाष्यकारों का कथन प्रत्यक्ष से विरुद्ध होने के कारण असंगत है। क्योंकि ब्राह्मणादि उत्तम वर्णों में उत्पन्न हुए अनेक निकृष्ट कर्म करते और नीच कुलों में उत्पन्न हुए उत्तम कर्म करते प्रत्यक्ष दीखते हैं। इसलिये मनुष्यादि सामान्य जाति को भिन्न करने वाले गुण कर्मों का नियम दिखाने के लिये यह कथन है ऐसा जानो ॥ २८ ॥

हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते ॥
यद्यस्य सोऽदधात्सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत् २९

सं०—हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते एषां मध्याद्यदर्थं यत्स स्रष्टाऽदधात्तत्तस्य सर्गे स्वयमाविशत् ॥

अ०—(सः) स्रष्टा ब्रह्मा (हिंस्राहिंस्रे) हिंस्रं कर्म व्याघ्रादेरहिंस्रं च हरिणादेः (मृदुक्रूरे) मृदु कोमलं दयाप्रधानं ब्राह्मणादेः क्रूरं क्षत्रियादेः (धर्माधर्मौ) धर्मो भृत्यादिरूपोऽधर्मः परद्रव्याभीप्सादिरूपः (ऋतानृते) ऋतं शास्त्राज्ञानुकूलमाचरणमनृतं शास्त्रविरुद्धमाचरणम् । एतयोर्द्वयोर्द्वयोर्मध्यात् (यस्य) प्राणिनः (यत्) कर्म (अदधात्) संचितप्रधानकर्मानुकूलं नियोजितवान् (तस्य) प्राणिनः (तत्) कर्म हिंस्रादिकम् (सर्गे) पुनःपुनरुत्पत्तौ (स्वयम्, आविशत्) स्वयमेव प्राप्तं भवति नहि तत्कर्म पुनः प्रेरकमपेक्षते ॥

भा०—यथा सर्गारम्भे पूर्वकल्पावशिष्टकर्मानुकूला जात्यायुर्भोगा ब्रह्मणैव नियतास्तदनुकूलं च सर्वप्राणिभिर्जन्मादिकमाप्यते तथैव सृष्टिस्थितावपि यदा कश्चिन्म्रियते तदानीमेव तदवशिष्टसञ्चितप्रधानकर्मानुकूलं जात्यादिकमीश्वरेण यथा नियम्यते तन्नियमप्रेरित आत्मा जन्मावसरे तथैव जात्यादिकमाप्नोति । नतु जन्मावसरे कोऽपि गृहीत्वा क्वापि प्रवेशयति। स्वाभाविकं च कर्म जन्मावधि तत्र तत्राविर्भूतं तिरोभूतं वा तिष्ठत्येव न कदापि नश्यति परिणमते वा यच्च नष्टं परिणतं वा भवति न तत्स्वाभाविकमित्यनुसन्धेयम् । यथा सिंहस्य हिंसाकर्म स्वाभाविकम् । यद्यपि निकृष्टस्वभाववारणाय क्रियमाणः प्रयत्नः सम्प्रति विशिष्टफलसाधको नास्ति तथापि जन्मान्तरे इष्टप्राप्तिसाधनत्वात्सफलएव मन्तव्यः ॥२९॥

सं०-मारना न मारना, कोमल कठोर, धर्म अधर्म और सत्य झूठ इन में से जिस के लिये जो कर्म उस सृष्टिकर्त्ता ने पहिले से निश्चय किया वह उस को उत्पन्न होते ही मिलता है ॥

अ०-उस सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा ने सृष्टि के आरम्भ में (हिंस्राहिंस्रे) सिंहादि का हिंसा कर्म और हिरण आदि का अहिंसा कर्म (मृदुक्रूरे) ब्राह्मणादि का कोमलता को लिये दया प्रधान कर्म, क्षत्रियादि का क्रूर कठोर कर्म (धर्माधर्मौ) धैर्यादिरूप धारणात्मक धर्म और परद्रव्य ग्रहण की अभिलाषादिरूप अधर्म (ऋतानृते) शास्त्र की आज्ञानुसार आचरण सत्य वा ऋत तथा शास्त्राज्ञा से विरुद्ध आचरण अनृत वा मिथ्या इन दो २ में से (यस्य) जिस प्राणी का (यत्) जो कर्म (अदधात्) संचित प्रधानकर्मों के अनुकूल नियत किया (तस्य) उस प्राणी का (तत्) वह कर्म हिंसादि (सर्गे) बार २ उत्पन्न होने पर अर्थात् गर्भावस्था में जीवात्मा के प्रवेश के साथ ही (स्वयम्, आविशत्) स्वयमेव प्राप्त हो जाता है किन्तु वह कर्म अन्य प्रेरक की अपेक्षा नहीं रखता ॥

भा०-जैसे सृष्टि के आरम्भ में पूर्वकल्प के अन्त में प्रलय होते समय भोगने को शेष बचे कर्मों के अनुकूल जाति-किसी निज योनि में जन्म, आयु का नियत होना और भिन्न २ प्रकार का सुखदुःख भोग मिलना ये तीनों बातें सृष्टिकर्त्ता ने ही नियत की हैं उसी के अनुकूल सब प्राणी जाति आयु और भोग पाते हैं अर्थात् सृष्टि की स्थिति में भी यही नियम चल रहा है कि जब कोई मरता है तभी उस के अवशिष्ट संचित प्रधान कर्मों के अनुकूल जाति आदि का जैसा नियम ईश्वर ने किया है उसी नियम से प्रेरित आत्मा जन्म समय में वैसे ही जाति आदि को प्राप्त होता है अर्थात् जन्म समय में कोई पकड़ कर गर्भाशय में प्रविष्ट नहीं करता। जन्मान्तर के कर्मानुकूल तथा माता पिता के शरीर से गर्भाशय में साथ ही उत्पन्न हुआ कर्म वा स्वभाव प्रत्येक प्राणी में मरण पर्यन्त वहां २ प्रकट वा दबा हुआ बना ही रहता है नष्ट कदापि नहीं हो सकता और न वह बदलता है। क्योंकि जो नष्ट वा परिणाम को प्राप्त हो वह स्वाभाविक नहीं यह निश्चित जानना चाहिये। जैसे सिंह जाति में हिंसा स्वाभाविक कर्म है। यदि कोई सिंहादि किसी देश वा काल में अवसर पाकर भी किसी प्राणी की हिंसा न करे तो उस दशा में किसी कारण उस का स्वभाव तिरोभूत माना जायगा।

कदाचित् कोई सिंह व्यक्ति कहीं हिंसा को सर्वथा भी छोड़ दे तो भी स्वभाव के सामान्य नियम का बाधक यह अपवाद नहीं हो सकता। अर्थात् सामान्य नियम से प्रत्येक शरीरधारी का स्वाभाविक गुण अवारणीय है। इस दशा में यद्यपि निकृष्ट स्वभाव छुड़ाने के लिये किया प्रयत्न वर्त्तमान में सर्वथा सार्थक नहीं तथापि धीरे २ उस निकृष्ट स्वभाव के शिथिल होते जाने से कुछ अच्छा फल वर्त्तमान शरीर में भी होना सम्भव है तथा जन्मान्तर में इष्ट प्राप्ति का साधन होने से स्वाभाविक दुर्गुण वा दुष्कर्म के निवारण का प्रयत्न सफल अवश्य मानना चाहिये अर्थात् मनुष्यादि के स्वाभाविक दुर्गुणादि को हटाने के लिये भी उपाय करना उचित वा लाभकारी वा सार्थक है। इसी रीति वा युक्ति के अनुसार असाध्य रोग को हटाने के लिये औषध्यादि उपाय का विधान वा नियत विपाक प्रबलता से संचित हुए प्रबल दुष्कर्म के महादुःख रूप निकृष्ट फल भोग से बचने के लिये धर्मशास्त्रकारों ने बताये शुभाचरण रूप उपाय का विधान भी सार्थक वा सफल ठहर सकता है। परन्तु प्रबल स्वभाव को दबाने के लिये उपाय उस से भी अधिक प्रबल होना चाहिये ॥ २९ ॥

यथर्त्तुलिङ्गान्यृतवः स्वयमेवर्त्तुपर्यये ।
स्वानिस्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः ३०

सं०—यथा ऋतुपर्यये ऋतवः स्वानि स्वानि ऋतुलिङ्गानि स्वयमेवाभिपद्यन्ते तथा देहिनः स्वानिस्वानि पूर्वानुष्ठितकर्माणि प्राप्नुवन्ति ॥

अ०—(यथा) (ऋतुपर्यये) ऋतोः परिवर्तने (ऋतवः) वसन्ताद्याः (स्वयम्,एव) (स्वानिस्वानि) (ऋतुलिङ्गानि) (अभिपद्यन्ते) अभितः प्राप्नुवन्ति (तथा) (देहिनः) मनुष्यादयः प्राणिनः स्वानिस्वानि सञ्चितकर्मफलानि यथावसरं स्वयमेव प्राप्नुवन्ति ॥

भा०—सर्वस्मिन् जगति यस्य येन साकं कथमपि सम्बन्धो जायते स बहूनां प्राप्तावपि तमेव स्वसम्बन्धिनं तत्सम्बन्धबला-

दाकर्षति यथा गोसमुदाये महत्यपि सर्वे वत्साः स्वांस्वां मातरमनायासेनैवाप्नुवन्ति तथैव तानि २ कर्माणि स्वस्य स्वस्य कर्त्तारं जन्मान्तरे स्वयमेवावाप्य तदनुकूलान् जात्यायुर्भोगान् कुर्वन्ति। अनेन नियतविपाकस्य दृष्टजन्मवेदनीयस्य संचितकर्मणः प्राबल्यं प्रदर्शितं नतु सर्वशुभाशुभफलदातुः परमात्मनोऽनपेक्षत्वमपितु कर्मानुकूलमेव प्राणिना फलं प्राप्यतइति नियमेनेश्वरस्य न्यायपरताऽपि सूचितैव। नहि नियामकमन्तरेण जगति नियमपुरस्सराणि कर्माणि क्वापि दृष्टानि येनेतरत्रानुमातुं शक्येत। तस्मात्तेषां यो नियामकः सएवेश्वरः सर्वाध्यक्ष उपास्यदेवोऽस्ति ॥३०॥

सं०—जैसे पिछले ऋतु के बदलने वा समाप्ति पर वसन्तादि अगले २ ऋतु अपने २ चिह्नों को स्वयमेव प्राप्त हो जाते वा धारण करने लगते हैं वैसे ही प्राणी मात्र अपने २ पूर्व संचित कर्मों को स्वयमेव समय आजाने पर प्राप्त हो जाते हैं॥

अ०—(यथा) जैसे (ऋतुपर्यये) पिछले ऋतु के परिवर्त्तन होने पर अर्थात् दोनों ऋतुओं की सन्धि में (ऋतवः) आगामी वसन्तादि ऋतु (स्वयमेव)अपने आपही किसी की प्रेरणा के विना ही (स्वानि स्वानि) अपने २ (लिङ्गानि) चिह्नों को (अभि पद्यन्ते) सब ओरसे प्राप्त होजाते हैं (तथा) वैसे (देहिनः) मनुष्यादि सब प्राणी अपने २ संचित कर्मों के फलों को यथावसर विना किसी की प्रेरणा के स्वयमेव प्राप्त होजाते हैं॥

भा०—सब जगत् में यह नियम है कि जिस का जिस के साथ किसी प्रकार सम्बन्ध हो जाता है वह अन्य बहुतों के इकट्ठे होने पर भी उस पूर्व हुए सम्बन्ध के आकर्षण से उसी अपने सम्बन्धी को आकर्षित करता है। जैसे गौओं के बड़े भारी झुण्ड में सब बछरा अपनी २ माता को सहजही में खोज कर प्राप्त कर लेते हैं वैसे ही वे २ पूर्व संचित कर्म अपने २ कर्त्ता को जन्मान्तर में स्वयमेव प्राप्त होके यथोचित जाति अवस्था और भोगों को प्राप्त कराते हैं। इस कथन से संचित नियत विपाक अदृष्टजन्मवेदनीय कर्म के फलभोग की प्रबलता वा आवश्यकता दिखायी है। किन्तु कर्मफलभोग में शुभाशुभ फलदाता परमात्मा की

आवश्यकता का निषेध नहीं परन्तु प्राणियों को कर्मों के अनुकूल फलभोग मिलता है इस नियम से ईश्वर की न्यायपरता भी सूचित होती है। अर्थात् कर्मानुकूल ही सब को सुख दुःख का भोग मिले इस का नियन्ता परमेश्वर है। जब नियम प्रत्यक्ष है तो उस से नियामक का अनुमान से बोध करना उचित हुआ। क्योंकि जगत् में नियमानुकूल चलने वाला कोई काम ऐसा नहीं दीखता जिस का कोई नियन्ता न हो इसलिये जो इस कर्मगति का नियामक है वही सर्वाध्यक्ष उपास्यदेव परमेश्वर है ॥ ३० ॥

लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः ।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्त्तयत् ॥३१॥

सं०—स स्रष्टा तु लोकानां विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः क्रमेण ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रान् निरवर्त्तयत् ॥

अ०—(तु) पुनः कर्मनियोगसर्गानन्तरम् (लोकानाम्) जनानां मनुष्याणां पृथिव्यादीनां वा (विवृद्ध्यर्थम्) विविधोन्नत्यै विशिष्टपोषणाय वा (मुखबाहूरुपादतः) मुखबाहूरुपादैः प्राधान्येन साध्यानि कर्माण्याश्रित्य पुरस्कृत्य वा [ल्यब्लोपेत्र पञ्चमी] यथासङ्ख्यम् (ब्राह्मणं, क्षत्रियं, वैश्यं, शूद्रं, च) निरवर्तयत्) सामान्यमनुष्यजातौ मुखाद्याश्रयेण ब्राह्मणादीन् निर्वर्त्तितवान् ॥

भा०—सति कुड्ये चित्रं भवतीति न्यायात्सतो हि मांसपिण्डस्य देवदत्त इति सञ्ज्ञा क्रियते। तथैवात्रापि स्रष्टायां मनुष्यसामान्यजातौ ब्राह्मणादयः सञ्ज्ञाः कर्त्तुं शक्याः। नैवात्र ब्राह्मणादीनां स्थूलशरीरसर्गे तात्पर्यमपि तु यथा यदर्थं यस्माच्च हेतोः सृष्टिकर्त्रा सर्गारम्भे ब्राह्मणादयो वर्णा विभक्तास्तत्प्रदर्शनेत्र

तात्पर्यमस्ति। अतएवोत्पादनार्थप्रधाना क्रियात्र न दृश्यते ब्राह्मणादिवर्णानां विभागेन विना मनुष्यसमुदायस्योन्नतिरसम्भवा। यथा मुखेन भाषणभक्षणादिकं बाहुभ्यामन्नस्य पाचनादिकं बाहुनैव च ग्रासमुत्थाप्य मुखे चालनं पादाभ्यां कार्यार्थमितस्ततो भ्रमणमपानवायोर्निस्सरणं मलमूत्रयोस्त्यागः। इत्यादिचतुर्विधशरीरप्रदेशसाध्यकर्मभिः सहैव शरीरं धार्यते जीव्यते च। यथा चैकस्मिन् शरीरे विद्याबलं बाहुबलं व्यापारबलमाचार्यादिमान्यानां शुश्रूषणशक्तिश्चैतद्बलचतुष्टमितरेतरसम्बन्धेन प्राणिनः पूर्णेष्टसाधकं भवति। कस्यचिद्बलस्याभावे हीने वा पूर्णा कार्यसिद्धिरसम्भवा तथैव मनुष्यसमुदायरूपदेहस्य साङ्गोपाङ्गाः स्वस्वकर्मसु तत्पराश्चत्वारो वर्णा अङ्गाङ्गिभावेन यथोचितकार्यसाधकाः सर्वस्योन्नतिहेतवो भवन्ति। एवं सर्वत्रैव प्रत्यक्षविषये सर्वावयवेषु यथावस्थितेषून्नतेषु तेषामवयव्यप्युन्नतएव जायते तथैव मनुष्यसमुदायस्य चतुर्ष्वप्यवयवरूपेषु ब्राह्मणादिवर्णेषु स्वस्वकर्मण्यवस्थितेषु मनुष्याणामुन्नतिर्वक्तुं शक्या। ब्राह्मणादिभिः क्रियमाणैर्यज्ञादिकर्मभिर्जायमानेन वृष्ट्यादिकर्मणा पृथिव्यादीनां पुष्टिः सम्यक्कार्यसाधनक्षमता च जायते। अतो वर्णविभागः सम्यक्प्रवृत्तो जगतः स्थितिदशां सम्यग्रक्षति। वर्णविभागस्य हीनदशायां च शरीरधारिणां हीना दशा सम्भवति सा च प्रत्यक्षा। परमात्मकृतो वर्णविभागः केनापि खण्डयितुमशक्यः। यत्रयत्र विद्याधर्मादीनां प्रचारस्य प्राधान्यं ते ब्राह्मणा बाहुबलसाध्यकर्मप्रधानाः क्षत्रिया व्यापारकुशला वैश्याः सेवनरताश्च शूद्रा एवम्भूतो वर्णविभाग उत्तममध्यमनिकृष्टदशासु सर्गारम्भात्प्रलयावध्यवश्यं

तिष्ठति प्राणिनां सर्वकार्याणां सम्यङ्निर्वाहेण सम्यक्सुखं शान्तिः स्थितिश्च स्यादेवमर्थं परमात्मना सर्गारम्भे मुखाद्यवयवसाध्यकर्मभिर्ब्राह्मणादयो वर्णा विभक्तास्तेषां चान्वयव्यतिरेकेण समस्तकर्त्तव्यज्ञापनाय वेदा उपदिष्टास्तदाशयप्रचाराय च महर्षिभिर्ब्राह्मणादिनामका बहवो निबन्धाः प्रणीता अतो देशोन्नतिकाङ्क्षिभिर्वर्णाश्रमधर्मप्रतिपादको वेदएवाश्रयणीयस्तदाश्रयेण च सर्वोन्नतिसम्भव इति मन्वाशयः ॥ ३१ ॥

सं०—फिर उस सृष्टिकर्त्ता ने चराचर जगत् की सुदशा वा उन्नति के लिये मुख से ब्राह्मण बाहु से क्षत्रिय जङ्घा से वैश्य और पग से शूद्र वर्ण को नियत किया वा बनाया ॥

अ०—(तु) फिर कर्मों के नियम की सृष्टि दिखाने के अनन्तर (लोकानाम्) मनुष्यों वा पृथिव्यादि तीनों लोक की (विवृद्ध्यर्थम्) अनेक प्रकार की उन्नति के लिये वा विशेष पुष्टि के लिये (मुखबाहूरुपादतः) मुख बाहु वा मदरा जङ्घा और पगों से मुख्य कर सिद्ध होने वाले कर्मों के भेद से यथासंख्य (ब्राह्मणम्) मुख संबन्धी वेदादिक पढ़ना पढ़ाना वा धर्मोपदेशादि के साथ ब्राह्मण वर्ण (क्षत्रियम्) मुख्य कर बाहुबल से होने वाले श्रेष्ठों की रक्षा दुष्टों की ताड़नादि कर्मों के साथ क्षत्रिय वर्ण (वैश्यम्) मुख्य कर गोड़ों से सबन्ध रखने वाले कृषि पशुपालन वा व्यापारार्थ भ्रमणादि तथा सन्तानोत्पत्ति वा मैथुनादि कर्म के साथ वैश्य वर्ण (च) और (शूद्रम्) पगसेवा के तुल्य निकृष्ट कर्म के साथ शूद्र वर्ण को (निरवर्त्तयत्) सामान्य मनुष्य जाति में भिन्न २ नियत किया ॥

भा०—भित्ति के बन जाने पर उस में चित्रकारी हो सकती है । इस जन श्रुति वा कहावत के अनुसार ही यह भी कथन है कि विद्यमान मांसपिण्ड को देवदत्त संज्ञा हो सकती है अर्थात् अन्य धातुओं की अपेक्षा मांस धातु जिस में अधिक है ऐसे बच्चे के उत्पन्न होने पर देवदत्तादि नाम रख सकते हैं वैसे यहां नियम यहां भी लगाना चाहिये कि मनुष्य जाति की रचना हो जाने पर उसमें यथा योग्य ब्राह्मणादि संज्ञा कर सकते हैं जैसे कोई भिन्न २ कामों के अधिकारी बनाना चाहे तो वे मनुष्यव्यक्तियां अधिकारी बनाने से पूर्व अवश्य विद्यमान होनी

चाहियें इसलिये मनुष्यजाति की उत्पत्ति पूर्वोक्त क्रमसे होने पर ब्राह्मणादि वर्ण नियत किये गये यही मानना ठीक है। इस श्लोक में ब्राह्मणादि के स्थूल शरीर की सृष्टि दिखाने से तात्पर्य नहीं है। किन्तु जिस प्रयोजन के लिये जिस कारण और जिस प्रकार सृष्टि करर्ताने सृष्टि के आरम्भ में ब्राह्मणादि वर्णों का विभाग किया उस को दिखना श्लोक का अभिप्राय है। इसी लिये उत्पत्ति अर्थ को मुख्य कर दिखाने वाली कोई क्रिया इस श्लोक में नहीं दीखती जैसे कोई कहे कि अमुक मनुष्य ग्रामाधीश वा राजा बन गया वा अमुक को सब का राजा बनाया यहां बन जाने का यह अर्थ नहीं है कि राजा का शरीर घड़े के समान उत्पन्न किया किन्तु राजा बन जाने का अर्थ हैं कि राज्याधिकार पर नियत होना। वैसे यहां भी संस्कृत के निर्वृत्ति शब्द का अर्थ उसी प्रकार ब्राह्मणादि का बनना वा नियत होना है। इसी आशय के ठीक होने से ब्रह्मा के मुखादि अङ्गों से ब्राह्मणादि कैसे बन गये? यह शङ्का भी मिट सकती है क्योंकि मुखादि शब्दों करके यहां उस २ अवयव से साध्य कर्मों के साथ ब्राह्मणादि का नियत होना मुख्य सिद्धान्त है। और श्लोक में यह भी नहीं कहा कि विराट् वा ब्रह्मा के मुखादि से ब्राह्मणादि हुए केवल मुखादि कहे हैं इस से ब्रह्मा के मुखादि की कल्पना व्यर्थ है। यदि कोई कहे कि मनुष्य समुदाय के उत्पन्न होने पर ब्राह्मणादि वर्ण बने तो जन्म से वा जड़ से ब्राह्मणादि वर्ण नहीं मानने चाहिये इस का उत्तर यह है कि जैसे जिस मनुष्य को अध्यापक बनाते हैं उस में अध्यापन की शक्ति पहिले से ही विद्यमान है तथा उस शक्ति का मूल शक्ति प्रकट होने से बहुत पहिले जड़ से ही मानना होगा उस शक्ति के होने से ही वह अध्यापक बनाया जाता है। इसी प्रकार यहां भी ब्राह्मणत्वादि की शक्ति उन २ में पहिले जड़ से ही विद्यमान है। इस लिये ब्राह्मणादि वर्ण निर्मूल वा बीच से बनावटी नहीं हैं किन्तु सृष्टि के प्रारम्भ से वा कल्पान्तर से ही उन के मूल का सम्बन्ध लगा है। सृष्टि के आरम्भ में ब्राह्मणादि वर्णों का विभाग हुए बिना मनुष्य समुदाय की उन्नति ठीक २ कभी नहीं हो सकती। जैसे मुख से बोलना खानादि बाहु वा हाथ से अन्नादि का पकाना लाना वा मुख में ग्रासादि का ले जाना, अपानवायु का निकलना मल मूत्रादि का त्याग और पगों से इधर उधर कार्यसिद्धि के लिये आना जाना इत्यादि चार प्रकार के भागों में बांटे हुए मुखादि शरीराङ्गों से सिद्ध होने वाले सब कर्मों

के मिल के यथावत् होते जाने से ही शरीर का धारण वा जीवन होता है। और जैसे एक २ शरीर सम्बन्धी कार्यों की सिद्धि के लिये विद्याबल, बाहुबल, व्यापार साध्य धन का बल और आचार्यादि मान्यों की सेवा का यह चारो प्रकार का बल परस्पर सम्बन्ध से मनुष्य के पूर्ण अभीष्ट का साधक होता है। इन में से किसी बल के अभाव में वा कम होने पर सम्पूर्ण कार्यों की यथावत् सिद्धि होना असम्भव है। वैसे ही मनुष्य समुदायरूप शरीर के साङ्गोपाङ्ग अपने २ कर्मों में तत्पर चारों वर्ण अङ्गाङ्गिभाव से यथोचित कार्यों के साधक वा सब की उन्नति के हेतु होते हैं। इसी प्रकार सर्वत्र प्रत्यक्ष विषय में सब अवयवों के यथावस्थित ठीक २ उन्नत होने पर ही वह २ समुदाय उन्नति को प्राप्त हो जाता है। वैसे ही मनुष्य समुदाय के अवयवरूप ब्राह्मणादि चारों वर्ण के यथावत् अपने २ कर्मों में अवस्थित होने पर ही मनुष्यमात्र की उन्नति कही वा मानी जा सकती है। ब्राह्मणादि ने किये यज्ञादि कर्मों से होने वाले यथोचित शुद्ध वर्षा आदि कर्म से पृथिव्यादि लोकों की पुष्टि और सम्यक् कार्यसिद्धि की योग्यता हो जाती है। इसलिये ठीक २ हुआ वर्णविभाग जगत् की स्थिति दशा की ठीक २ रक्षा करता है। वर्णविभाग की हीनदशा में प्राणियों की हीन दशा का होना सम्भव है जो शास्त्र और युक्ति दोनों से सिद्ध है सो प्रत्यक्ष भी दीखता ही है। परन्तु परमेश्वर का नियत किया वर्णविभाग सृष्टि के आरम्भ से प्रलयावधि किसी के हटाने योग्य नहीं है। जिस २ समय में जिस २ व्यक्ति में विद्या वा धर्मादि के प्रचार की प्रधानता है वह २ व्यक्ति उस २ समय ब्राह्मण, बाहुबल से सिद्ध होने वाले कर्म में प्रधान क्षत्रिय, व्यापार में कुशल वैश्य और सेवन में तत्पर शूद्र हैं। इस प्रकार का वर्णविभाग उत्तम मध्यम वा नीच दशा में सृष्टि के आरम्भ से प्रलय पर्यन्त कुछ न कुछ अवश्य ही बना रहता है। प्राणियों के सब कामों का ठीक २ निर्वाह होने के साथ सम्यक् सुख और शान्ति की स्थिति हो इस लिये परमेश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में ही मुखादि अवयव साध्य कर्मों के साथ ब्राह्मणादि का विभाग किया और उन वर्णों के अन्वय व्यतिरेक द्वारा समस्त कर्म जताने के लिये वेदों का उपदेश किया उस वेद के आशय का प्रचार करने के लिये आगे २ महर्षि लोगों ने ब्राह्मणादि बहुत पुस्तक बनाये। इसलिये देशोन्नति चाहने वालों को वर्णाश्रमधर्म के प्रतिपादक वेद का आश्रय लेना अति उचित है क्योंकि वेद के आश्रय से ही ब्राह्मणादि की यथार्थ उन्नति द्वारा सब मनुष्य समुदाय की उन्नति का सम्भव है ॥ ३१ ॥

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्धेन नारी तस्यां विराजमसृजत्प्रभुः ॥३२॥

सं०-सप्रभुर्ब्रह्माऽऽत्मनो देहं द्विधा कृत्वा स्वदेहस्य समानं भेदद्वयं सम्पाद्यार्धेन पुरुषोऽर्धेन च नारी जाता तस्यां नार्य्यां विविधप्रकारेण राजमानं सर्वं चराचरं यथोक्तं यथाक्रममसृजत् ॥

अ०—(प्रभुः) स्रष्टुं शक्तः स ईश्वरः (आत्मनः) स्वस्य (देहम्) सूक्ष्मकारणान्मध्यावस्थापन्नं स्थूलसर्गायोपचितं कारणं कस्यापि कार्यं वा (द्विधा) द्विभेदापन्नम् (कृत्वा) तयोर्भागयोः (अर्धेन) एकेन खण्डेन (पुरुषः) बीजप्रदानशक्तिमान् पुमान् (अर्धेन) द्वितीयार्धेन (नारी) नरानुगामिनी नराकाङ्क्षिणी वा क्षेत्ररूपा सन्ततेराधारस्वरूपा स्त्रीशक्तिः (अभवत्) सम्पन्ना (तस्याम्) स्त्रीशक्तौ पुरुषशक्तिसंयोगेन (विराजम्) सर्वं चराचरम् (असृजत्) सृष्टवान् ॥

भा०—सम्प्रति विचारेण समीक्षिते स्थावरं जङ्गमं च सर्वं जगत्स्त्रीपुरुषरूपशक्तिद्वयसंयोगेनैवोत्पद्यतइति विदुषां सम्मतम्। प्रात्यहिकसर्गे लये च ये नियमाः प्रत्यक्षमनुभूयन्ते ते सर्गारम्भे परमात्मनैवारब्धा इति निश्चितम्। पूर्वं स्त्रीपुरुषशक्तिद्वयसंयोगेन सृष्टिरारब्धा तथैवेदानीमपि दृश्यते। तन्मात्रविषयाकारेणोपचितं कार्यकारणयोर्मध्यावस्थं सर्वस्य वस्तुनः पूर्वरूपं स्थूलस्य जगतः कारणं परमेश्वरेण द्विधास्त्रीपुरुषरूपेण विभक्तम्। तथैवाद्यापि सर्वस्मिन् चराचरे वस्तुनि स्त्री पुरुषश्चेति भेदद्वयं प्रत्यक्षमुपलभ्यते स्त्रीशक्तावेव च क्षेत्रभूतायां सर्वमुत्पद्यते ॥३२॥

सं०—उस सर्वशक्तिमान् सृष्टिकर्त्ता ने अपने सञ्चित कारण के बराबर वाले दो भाग ठीक सिद्ध करके दो नाम रक्खे आधे एक भाग का नाम पुरुष और आधा भाग स्त्री हुआ। उस एक भाग खेतरूप स्त्रीशक्ति में नानाप्रकार से शोभा युक्त सब चराचर जगत् को पूर्वोक्त रीति से क्रमपूर्वक उत्पन्न किया ॥

अ०—(प्रभु) सब को रचने की शक्ति वाले ईश्वर ने (आत्मनः) अपने (देहम्) सूक्ष्म कारण से मध्यावस्था में लाये हुए स्थूल जगत् की रचना के लिये इकट्ठे किये किसी सूक्ष्म के कार्य वा स्थूल के कारण को (द्विधा) दो भाग युक्त (कृत्वा) करके उन दो भागों में से (अर्धेन) एक भाग से (पुरुषः) बीज देने की शक्ति वाला पुरुष (अर्धेन) द्वितीय अर्द्धभाग से (नारी) नर नाम पुरुष की अनुगामिनी वा नर की काङ्क्षा रखने वाली सन्तति का आधार [जिस में उत्पन्न होकर मनुष्यादि की सृष्टि का प्रवाह प्रलय पर्यन्त चले ऐसी] स्त्रीशक्ति (अभवत्) हुई (तस्याम्) उस स्त्रीशक्ति में पुरुष शक्ति का संयोग करके (विराजम्) सब चराचर जगत् को (असृजत्) रचा ॥

भा०—वर्त्तमान समय में विचार पूर्वक देखें तो स्थावर और जङ्गम सब जगत् स्त्री पुरुष रूप दो शक्तियों के संयोग से ही उत्पन्न होता यह सब विद्वानों के सम्मत है। नित्यप्रति के छोटे २ वा थोड़े २ उत्पत्ति विनाशों में जो २ नियम हमारे प्रत्यक्ष अनुभव में आते हैं उन का सृष्टि के आरम्भ में परमेश्वर ने ही प्रारम्भ किया यह निश्चित है। पहिले स्त्री पुरुष दो शक्तियों के संयोग से संसार की उत्पत्ति का आरम्भ उस ने किया वैसा ही नियम अब भी प्रत्यक्ष दीखता है। अर्थात् बीजरूप पुरुष शक्ति का स्त्रीरूप पृथिवी और जलों के साथ संयोग होने से ही वृक्ष वनस्पत्ति और घासादि की भी उत्पत्ति होती है। कदाचित् हमारा विचार छोटा होने से हमको कहीं सन्देह रह जाय परन्तु संसार में स्त्री पुरुष रूप दो शक्तियों का संयोग हुए विना कोई भी वस्तु कभी उत्पन्न नहीं हो सकता। तन्मात्र नामक विषयरूप से संचित कार्य कारण की बीच की दशा सब सृष्टवस्तु के पूर्व रूप स्थूल जगत् के कारण को परमेश्वर ने स्त्री पुरुष रूप से दो प्रकार विभक्त किया। वैसा ही अब तक सब चराचर वस्तु में स्त्री पुरुष शक्ति रूप दो भेद प्रत्यक्ष प्रतीत होते हैं। और खेतरूप स्त्रीशक्ति में ही अब वा आगे सदा सब कुछ उत्पन्न होता है ॥ ३२ ॥

तपस्तप्त्वाऽसृजद्यन्तु स स्वयं पुरुषो विराट् ।
तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः ॥३३॥
अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम् ।
पतीन् प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश ॥३४॥
मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।
प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च ॥३५॥
एते मनूंस्तु सप्तान्यानसृजन् भूरितेजसः ।
देवान् देवनिकायांश्च महर्षींश्चामितौजसः ॥३६॥
यक्षरक्षःपिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान् ।
नागान् सर्पान् सुपर्णांश्च पितॄणां च पृथग्गणान् ॥३७॥
विद्युतोऽशनिमेघांश्च रोहितेन्द्रधनूंषि च ।
उल्कानिर्घातकेतूंश्च ज्योतींष्युच्चावचानि च ॥३८॥
किन्नरान् वानरान् मत्स्यान् विविधांश्च विहङ्गमान् ।
पशून् मृगान् मनुष्यांश्च व्यालांश्चोभयतोदतः ॥३९॥
कृमिकीटपतङ्गांश्च यूकामक्षिकमत्कुणम् ।
सर्वं च दंशमशकं स्थावरं च पृथग्विधम् ॥४०॥
[यथाकर्म यथाकालं यथाप्रज्ञं यथाश्रुतम् ।
यथायुगं यथादेशं यथावृत्ति यथाक्रमम् * ॥]
एवमेतैरिदं सर्वं मन्नियोगान्महात्मभिः ।
यथाकर्म तपोयोगात्सृष्टं स्थावरजङ्गमम् ॥४१॥

* इदं पद्यं केषु चिदेव पुस्तकेषूपलभ्यतेन सर्वेषु तेनानुमीयतेऽल्पकालादेव केनचित्प्रक्षिप्तमिति ।

अ०—हे द्विजसत्तमाः प्रष्टारो महर्षयः । स विराट्पुरुषः स्वयं तपस्तप्त्वा यन्तु पुरुषविशेषमसृजत्तं मामस्य विद्यमानस्य चराचरस्य जगतः स्रष्टारं वित्त जनीत ॥३३॥ पश्चात्प्रजाः स्रष्टुमिच्छन्नहं सुदुश्चरं तपस्तप्त्वाऽऽदितः पूर्वं प्रजानां पतीन् वक्ष्यमाणान् दश महर्षीनसृजम् ॥ ३४ ॥ मरीचिः, अत्रिः, अङ्गिराः, पुलस्त्यः, पुलहः, क्रतुः, प्रचेताः, वसिष्ठः, भृगुः, नारदः, इति पूर्वोक्ताः स्रष्टा दश महर्षयः ॥ ३५ ॥ एते मरीच्यादयो भूरितेजसोऽन्यान्सप्त मनून् देवान् देवनिकायान् देवानां वासस्थानानि—अन्यान् स्वतोभिन्नानमितौजसोऽतुलपराक्रमयुक्तान् महर्षींश्चासृजन् ॥३६॥ यक्षान् रक्षांसि पिशाचान् गन्धर्वान् अप्सरसः असुरान् नागान् सर्पान् सुपर्णांश्च पितॄणामग्निष्वात्तादीनां च पृथक्पृथग् गणान्। विद्युतः अशनीन् मेघां रोहितानीन्द्रधनूंषि च उल्काः निर्घातान् केतूंश्च च पुनरन्यानि न्यूनाधिकपरिमाणविशिष्टानि ध्रुवादिज्योतींषि । किन्नरान् वानरान् मत्स्यान् विविधप्रकारान् विहङ्गमांश्च पशून् मृगान् मनुष्यांश्च व्यालान् सिंहादीन् उभयतो दन्ता येषां तान् सर्वांश्च । कृमीन् कीटान् पतङ्गांश्च यूकान् मक्षिकाः, मत्कुणान् सर्वान् दंशान् मशकांश्च पृथक्पृथक्प्रकारं सर्वं स्थावरं च कर्माद्यनुकूलतया उक्ता महर्षयोऽसृजन्निति पूर्वेणान्वयः । एवं मन्नियोगान्मदाज्ञानुवर्त्तिभिरेतैर्दशमरीच्यादिमहात्मभिस्तपः सम्बन्धात् स्थावरं जङ्गमं च सर्वमिदं यथाकर्म स्रष्टम् ॥३७।३८।३९।४०।४१॥

अ०—हे द्विजों में अतिश्रेष्ठ ब्राह्मण वर्णस्थ पूछने वाले महर्षि लोगो ! को ब्रह्मा जी ने अपने अर्धभाग से उत्पन्न की स्त्री में उत्पन्न किया (सः, विराट्,-पुरुषः) उस विराट् पुरुष ने (स्वयम्) आप ही (तपः, तप्त्वा) तप कर के (यन्तु) जिस पुरुष विशेष को (असृजत्) उत्पन्न किया (तम्,माम्) उस मुझ

[मनु] को (अस्य,सर्वस्य) इस सब विद्यमान चराचर जगत् का (स्रष्टारम्) बनाने वाला (वित्त) जानो अर्थात् मैंने ही इस जगत् को बनाया है ॥ ३३ ॥ पीछे (प्रजाः) प्रजा को (स्रष्टुम्, इच्छान्) रचने की इच्छा वाले (अहम्) मैंने (सुदुश्चरम्) अति कठिन (तपः,तप्त्वा) तप कर के (आदितः) पहिले (प्रजानाम्) प्रजाओं के (पतीन्) स्वामी वा रक्षक आगे कहे दशमरीच्यादि (महर्षीन्) महर्षियों को (असृजम्) बनाया ॥ ३४ ॥ मरीचि । अत्रि । अङ्गिरा । पुलस्त्य । पुलह । क्रतु । प्रचेता । वसिष्ठ । भृगु । नारद ये पूर्वोक्त उत्पन्न किये दश महर्षियों के नाम हैं ॥ ३५ ॥ (एते) इन मरीच्यादि महर्षियों ने (भूरितेजसः) बड़े २ तेजस्वी (अन्यान्) मुझ से अन्य (सप्त) सात (मनून्) मनुओं (देवान्) देवतों (देवनिकायान्) देवताओं के निवासस्थान स्थान स्वर्गादि को (च) तथा अन्य अपने से भिन्न (अमितौजसः) अतुल पराक्रमयुक्त (महर्षीन्) महर्षियों को (असृजन्) उत्पन्न किया ॥ ३६ ॥ (यक्षरक्षःपिशाचान्, च) और यक्षों राक्षसों पिशाचों (गन्धर्वाप्सरसः) गन्धर्वों अप्सराओं (असुरान्) असुरों (नागन्) वासुकि तक्षकादि नामक नागों [यहां सर्पों से भिन्न नागों की उत्पत्ति कही है । इस से प्रतीत होता है कि नाग जाति सर्प जाति से भिन्न विलक्षण है । सम्भव है कि किसी खास देश के निवासी मनुष्य जाति का नाग नाम हो तभी तक्षक नाग की कन्या का जरत्कारु ऋषि के साथ महाभारत में विवाह लिखा है सो कथा सम्भव मानी जासकती है और राजा परीक्षित को दुःख विशेष के साथ मारडालने से उनके पुत्र जनमेजय का नाग जातीय मनुष्यों के साथ वैर हो जाना भी सम्भव है । अनुमान होता है कि नाग नाम सर्पों का भी है इसी से भ्रान्ति हुई हो और नाग करके सर्प जाति मानली हो] (सर्पान्) सर्पों (च) और (सुपर्णान्) विशेष जाति सुपर्णों [विहङ्गम पक्षि सामान्य जाति की उत्पत्ति आगे भिन्न कही है इस से सुपर्ण जाति भी पक्षियों से भिन्न प्रतीत होती है] (च) और (पितृणाम्) अग्निष्वात्तादि नामक पितृयों के (पृथक्) पृथक् २ कक्षानुकूल (गणान्) समुदायों (विद्युतः) मेघ में चमकने वाली विद्युतों (अशनिमेघान्,च) वृक्षादि का विनाश करने वाली शक्ति अशनियों और मेघों (च) और (रोहितेन्द्रधनूंषि) नमायी हुई लकड़ी वा कमान के समान वर्षा होने पश्चात् आकाश में दीखने वाले अनेक रंग के इन्द्रधनुष् अर्थात् किरणों से बने सूर्य के धनुषों

(उल्काः) अन्तरिक्ष से रेखा के समान नीचे को गिरने वाली ज्योतियों (निर्घात-केतूंश्च) और पृथिवी वा आकाश में होने वाली उत्पात की ध्वनि नामक निर्घातों तथा केतु नाम पुच्छलेयुक्त तारों (च) और (उच्चावचानि) ऊंचे नीचे वा बड़े छोटे अन्य ध्रुवादि ताराओं (किन्नरान्) घोड़े के तुल्य मुख वाली किन्नर जाति को (वानरान्) बन्दरों (मत्स्यान्) मच्छियों (च) और (विविधान्) नानाप्रकार की जाति वाले पक्षियों (पशून्) गौ आदि पशुओं (मृगान्) हिरणादिकों (च) और (मनुष्यान्) मनुष्यों (च) तथा (व्यालान्) सिंह व्याघ्रादिकों (उभयतोदतः) दोनों ओर दांत वाले अन्य सब प्राणियों (कृमिकीटपतङ्गांश्च) तथा विष्ठादि में उत्पन्न होने वाले कृमियों उन से कुछ मोटे कीटों पतङ्गों नाम पखों से उड़ने वाले कीड़ों (यूकामक्षिकमत्कुणान्) जुओं लीखों मक्खियों खटमलों (च) और (सर्वम्) सब (दंशमशकम्) डांश मशां (च) और (पृथग्विधम्) पृथक् २ जाति वाले (स्थावरम्) पीपल आदि वृक्ष वनस्पतियों की सब जातियों को कर्मादि के अनुकूल उक्त मरीच्यादि महर्षियों ने रचा यह पूर्व छत्तीसवें श्लोक की क्रिया के साथ सम्बन्ध जानना चाहिये ॥ मनु जी कहते हैं कि (एवम्) इस पूर्वोक्त प्रकार (मन्नियोगात्) मेरी आज्ञा से (एतैः) इन दशमरीच्यादि (महात्मभिः) महात्माओं ने (तपोयोगात्) अपने तप के प्रभाव से (इदम्, सर्वम्) इस सब (स्थावरजङ्गमम्) स्थावर जङ्गम चराचर जगत् को (यथाकर्म) उन २ के पूर्वकर्मों के अनुसार (सृष्टम्) रचा ॥ ३७ । ३८ । ३९ । ४० । ४१ ॥

इमानि नवपद्यानि पश्चात्कैश्चित्प्रक्षिप्तानीति भूमिकायामुक्तं मया। तत्र तदेव तत्त्वं प्रतिभाति हेतवश्च तथैवोपलभ्यन्ते तद्यथा—पूर्वं सर्गारम्भे परमात्मनैव सर्वं स्थावरजङ्गमं सृष्टमित्यष्टमपद्यादुपक्रम्य सर्वं वर्णितम्। एतच्च वेदोपनिषदादिसर्वशास्त्रानुकूलमेवास्ति। अत्र च पञ्च स्रष्टारः प्रतिभान्ति। एकं साक्षात्परं ब्रह्म। द्वितीयो ब्रह्मा। तृतीयो विराट्। चतुर्थो मनुः। पञ्चमाश्च मरीच्यादयः। तथा च केनेदं सर्वं सृष्टमित्यध्यवसितुमशक्यम्। सर्वैर्मिलित्वा सृष्टमित्यपि वक्तुमशक्यम्। पृथक्पृथक्

सर्वेषां सर्गप्रतिपादनात् परमात्मनः सर्वशक्तित्वेदोषारोपणाच्च । जन्माद्यस्य यतः । यतो वा इमानि भूतानि जायन्तइत्याद्यसङ्ख्यप्रमाणवाक्येषु केवलात्परमात्मतएव सर्वभूतसृष्टिः स्पष्टमुक्ता तस्माच्चैतद्विरुध्यते । सुगमतया बोधाय पुरुषाकारेण कल्पितं विराट्पदवाच्यं सर्वं चराचरं जगत् सर्वानुमत्या सर्वप्राज्ञैर्गृह्यते । ततश्च कश्चित्पुरुषविशेषो विराडित्यसङ्गतम् । यदा च विराट्पुरुषेण मनुरुत्पादितः पुनस्तस्य ब्रह्मणः पुत्रत्वकथनमसङ्गम् । यदा च साकारा स्त्री ब्रह्मणा पूर्वं सृष्टा तस्यामेव च विराट्पुरुषो मैथुनेनोत्पादितइति स्पष्टं प्रतीयते पुनर्विराट्पुरुषेण मनुर्मनुना च मरीच्यादयस्तपसा सृष्टाइति कथनमपि नैव संगच्छते । यतः साकारस्त्रीसर्गात्पूर्वमेव मानसी सृष्टिः सम्भति मैथुनेन सृष्ट्यर्थमेव स्त्रीसर्गस्य सार्थकत्वात् । यदा च मनुः स्वयमेव प्रतिजानीते—"अस्य सर्वस्य स्रष्टारं मां वित्त" इति पुनर्मरीच्यादिभिः सर्वं स्थावरजङ्गमं सृष्टमिति परस्परं विरुध्यते । एवमनेकदोषग्रस्तत्वात्प्रक्षिप्तानीमानि नव पद्यानीति प्रतिज्ञातम् । यदि कश्चित्कथमपि सर्वान्दोषान्समादध्याद्येनसम्यक्सन्तोषःसम्भवेत्तदा नास्ति ममाग्रहो यत्प्रक्षिप्तान्येव ब्रूयामिति सदसद्विवेचका विवेकं कुर्युरेतदर्थमेवमयं सर्वः प्रस्तावः कृतइति जानन्तु कृतधियः ॥

ये पूर्वोक्त ३३–४१ तक नौ श्लोक पीछे किन्हीं लोगों ने मनुस्मृति में मिलाये यह मैंने मनुभूमिका में कहा है । उस विषय में वही ठीक प्रतीत होता है और प्रक्षिप्त होने के अनेक कारण भी प्रत्यक्ष दीखते हैं । कुछ कारण यहां दिखाये भी जाते हैं—पहिले सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ने ही सब चराचर जगत् को उत्पन्न किया यह बात इस प्रथमाध्याय के आठवें श्लोक से लेकर वर्णन की गयी । और यही सिद्धान्त वेद वा उपनिषदादि सब शास्त्रों के अनुकूल है कि सृष्टि-

कर्त्ता एक ही सर्वशक्तिमान् है परन्तु यहां पांच वा १४ सृष्टिकर्त्ता प्रतीत होते हैं। एक साक्षात्परब्रह्म, द्वितीय ब्रह्मा जी, तीसरे विराट्, चौथे मनु जी और पांचवीं कक्षा में दश मरीच्यादि महर्षि। इस दशा में इस सब को किस ने बनाया यह निश्चय कदापि नहीं हो सकता। सब ने मिल कर बनाया यह भी नहीं कह सकते क्योंकि सब के लिये भिन्न २ लिखा है कि अमुक ने सब को बनाया। तब शोचिये किसने सब को बनाया ?। और अन्यों को सृष्टि करने में परमेश्वर का सहायक मानें तो उस को सर्वशक्तिमान् नहीं मान सकते। वेदान्तादि शास्त्रों में परमेश्वर का लक्षण वा उस के सर्वशक्तिमान् होने में जगत् और वेद की उत्पत्ति को ही प्रधान कारण माना है कि यह चित्र विचित्र जगत् जिस से उत्पन्न हुआ वही ब्रह्म है और ऐसे विलक्षण शिल्पविद्या युक्त जगत् वा सर्व विद्याओं के भण्डार वेद को कोई अल्पशक्ति देहधारी नहीं बना सकता किन्तु ऐसा काम कोई अनन्तशक्ति वाला ही कर सकता है इस कारण इस सब का बनाने वाला एक अनन्तशक्ति युक्त ब्रह्म ही है। इस प्रकार असंख्य प्रमाणों में एक ब्रह्म से ही सम्पूर्ण सृष्टि स्पष्ट कही है उस के साथ अनेक सृष्टिकर्त्ता होने पर बड़ा विरोध आवेगा। यदि कोई कहे कि मुख्य सृष्टिकर्त्ता एक ब्रह्मही माना जाय और मनुष्यसृष्टि में ब्रह्माजी आदि को यथोचित स्रष्टा मान लो तो कुछ विरोध न आवेगा क्योंकि मनुष्यसृष्टि में ब्रह्माजी आदि ने भी अपने सन्तान वा अन्य जीव जन्तुओं की उत्पत्ति का उद्योग अवश्य किया मानने पड़ेगा। तो इस का उत्तर यह है कि इस प्रकार यदि अन्य लोगों को सृष्टि कर्त्ता माना जाय तो सृष्टि के आरम्भ से अब तक असंख्य प्राणियों ने अपने २ सन्तानों को उत्पन्न किया गौ आदि के बछड़े ब्याने का उपाय भी किया अनेक घर बाग बगीचे कुआ तालाब आदि बनवाये और अब भी सभी लोग सन्तानों को उत्पन्न करते अनेक नवीन २ वस्तुओं को नित्य २ बनाते हैं वे सभी सृष्टिकर्त्ता क्यों नहीं माने जाते ? ऐसा होतो ५ वा १४ ही सृष्टिकर्त्ता हों यह नहीं बन सकता। और ऐसा वर्णन भी नहीं किया गया किन्तु सृष्टि करने में पूरा २ अधिकार सब को दिखाया गया है सो असम्भव है। इस से एक ही सृष्टि कर्त्ता मानना चाहिये और सृष्टि करते समय उस ब्रह्म का ही ब्रह्मा नाम है यह सिद्धान्त भी बहुत ही ठीक है ॥

विराट् पदवाच्य जगत् के विद्वान् लोगों ने पुरुष के तुल्य कल्पना इस लिये की है कि सुगमता के साथ उस का अवयवज्ञान हो जावे यही सब शास्त्रकारों का अविरुद्ध मत है। तब कोई पुरुष विशेष शरीरधारी विराट् मानना असंगत है। और जब विराट् पुरुष ने मनु को उत्पन्न किया फिर मनु को ब्रह्मा का पुत्र कहना वा मानना असंगत है। और जब ब्रह्मा जीने पहिले साकार शरीर धारिणी स्त्री रची और उसी स्त्री में मैथुन के द्वारा विराट् पुरुष को उत्पन्न किया ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। फिर विराट् पुरुष ने मनु को और मनुजीने मरीच्यादि दश ऋषियों को तप से बनाया वा उत्पन्न किया यह कहना भी ठीक नहीं क्योंकि साकार स्त्री की रचना से पूर्वही मानसी सृष्टि हो सकती है। क्योंकि मैथुन से सृष्टि रचना के लिये ही तो स्त्री रचना की सार्थकता है। यदि रूप दीखने के लिये नेत्र बनाया गया और नेत्र बनजाने पर भी विना आंख के ही रूप देखलिया जाय तो आंख की उत्पत्ति व्यर्थ मानी जायगी। इसी प्रकार यहां स्त्री के उत्पन्न होने पर भी यदि विना स्त्री के अन्य प्रकार से मनुष्यादि की उत्पत्ति हो तो स्त्री का उत्पन्न करना निरर्थ हुआ। और जब मनु जी आप ही प्रतिज्ञा करते हैं कि "इस सब विद्यमान सृष्टि का रचने वाला मुझ को जानो" फिर मरीच्यादि ऋषियों ने सब चराचर को रचा यह परस्पर विरुद्ध है। इस प्रकार अनेक दोषों से ग्रस्त होने के कारण ये नौ श्लोक मैंने प्रक्षिप्त ठहराये हैं। यदि कोई पुरुष किसी प्रकार सब दोषों का समाधान कर देवे कि जिस से सम्यक् संदेहों की निवृत्ति हो सके तो मेरा आग्रह भी नहीं है कि जो प्रक्षिप्त ही कहता जाऊं। सत्यासत्य की विवेचना करने वाले विद्वान् लोग विवेक करें इस लिये मैंने यह सब प्रस्ताव किया है ऐसा विचारशील महाशय ध्यान रक्खें॥

येषां तु यादृशं कर्म भूतानामिह कीर्त्तितम्।
तत्तथा वोऽभिधास्यामि क्रमयोगं च जन्मनि ४२

सं०—इह जगति येषां भूतानां यादृशं कर्म परमात्मना वेदेषु कीर्त्तितं तत्कर्म तथा वेदानुकूलमेव वो युष्मभ्यमहं मनुरभिधास्यामि। पृथक् पृथक् जन्मनि क्रमयोगमपि वक्ष्यामि॥

अ०-(इह) संसारे (येषाम्) (भूतानाम्) प्राणिनामप्राणिनां वा (यादृशम्) जातिसम्बद्धं स्वभावजं शुभमशुभं वा (कर्म) परमेश्वरेण वेदादिद्वारा (कीर्त्तितम्) प्रकटीकृतम् (तत्) कर्म (तथा) वेदानुकूलमेव हे महर्षयः! (वः) युष्मभ्यमहं मनुः (अभिधास्यामि) अस्मिन् शास्त्रे कथयिष्यामि (च) तथा (जन्मनि) जन्मनो निमित्तं कर्मणाम् (क्रमयोगम्) क्रमसम्बन्धमपि वक्ष्यामि ॥

भा०-कर्मनिमित्तो जातिभेदः कर्मभिरेव च जातिषु रूपान्तरापत्तिश्च भिद्यते। तन्नामरूपभेदकं कर्म सर्गारम्भे मूलरूपतया परमेश्वरेण वेदद्वारोपदिष्टम्। तमेव मूलं वेदशास्त्रं पुरस्कृत्यास्मिन् धर्मशास्त्रे कर्मणो विशिष्टं व्याख्यानं करिष्यामि येन कस्य किं स्वभावजं कर्म केन च किं कर्म प्रयत्नेनानुष्ठेयम्। केनचानुष्ठितेन कर्मणा कीदृशी भाविनी जातिः सम्भाव्यत इत्यादिकं सुगमतया ज्ञास्यन्ति। इदं च पद्यं सामान्येन सर्वस्य शास्त्रोक्तविषयस्य ज्ञापनार्थमुक्तम् विशेषतया चात्रैवाध्याये वक्ष्यमाणस्य सन्निकृष्टविषयस्य बोधकम् ॥ ४२ ॥

सं०—इस जगत् में जिन प्राणियों के परमेश्वर ने जैसे कर्म वेदों में कहे हैं उन वेदानुकूल कर्मों को ही मैं (मनु) तुम्हारे लिये कहूंगा और पृथक् २ योनियों में जन्म का क्रम भी कहूंगा ॥

अ०—(इह) इस संसार में (येषाम्) जिन (भूतानाम्) प्राणी वा अप्राणियों का (यादृशम्) जैसा जाति के साथ सम्बन्ध रखने वाला स्वभावज शुभ वा अशुभ (कर्म) कर्म परमेश्वर ने वेदद्वारा (कीर्त्तितम्) प्रकट किया है (तत्) उस कर्म को (तथा) वेदानुकूल ही हे महर्षि लोगों मैं मनु (अभिधास्यामि) इस धर्मशास्त्र में कहूंगा (च) और (जन्मनि) जन्म के निमित्त कर्मों के (क्रम-

योगम्) क्रमसम्बन्ध को भी मैं इस शास्त्र में कहूंगा कि कौन कर्म किस प्रकार के जन्म का निमित्त कारण है ॥

भा०-मनुष्यादि जाति के वा ब्राह्मणादि की जाति के भेद का निमित्त कारण कर्म है । कर्मों से ही भिन्न २ जातियों में आकृति वा बनावट का भेद होता है। उस नाम और रूप को भिन्न २ प्रतीत कराने वाले कर्म का सृष्टि के आरम्भ में परमेश्वर ने मूलरूप से पहिले वेदद्वारा उपदेश किया । उसी मूल वेदशास्त्र का आश्रय लेकर इस धर्मशास्त्र में कर्मगति का मैं विशेष व्याख्यान करूंगा कि जिस से किस का स्वाभाविक कर्म क्या है वा किस को किस कर्म का अनुष्ठान प्रयत्न के साथ करना चाहिये। और किस अनुष्ठान किये कर्म से आगे कैसी योनि में जन्म होना सम्भव है इत्यादि बातों का सुगमता से लोगों को बोध होगा । यह श्लोक सामान्य कर इस धर्मशास्त्र में कहे सब विषय को जताने के लिये है और विशेष कर इसी अध्याय में कहे अगले विषय को जताने के लिये है ॥४२॥

पशवश्च मृगाश्चैव व्यालाश्चोभयतोदतः ।
रक्षांसि च पिशाचाश्च मनुष्याश्च जरायुजाः ४३

सं०—पशवो मृगा उभयतोदतो व्याला रक्षांसि पिशाचा मनुष्याश्च जरायुजाः सन्ति ॥

अ०-(पशवः) गवादयः (मृगाः) हरिणादयः (उभयतोदतः) उभयतो दन्ता येषां ते (व्यालाः) सिंहादयः (रक्षांसि) स्वार्थसाधनाय परहितविनाशकाः स्वदेहपोषणाय हिताहितं धर्माधर्मं वाऽविचार्यैव प्राणिवधतत्परा मनुष्यविशेषा एव (पिशाचाः) पैशुन्यरता अपक्वरुधिराक्तमांसभक्षिणो वनमानुषादयो मनुष्यविशेषाएव (च) तथा (मनुष्याः) शुभाशुभमिश्रिताचरणा मध्यमकोटिस्था मनुष्याः सर्व इमे (जरायुजाः) जरायु गर्भशय्या तस्यामेते गर्भनिर्माणकाले जायन्ते ॥

भा०—यद्यपि पशुसामान्ये मृगा मृगसामान्ये च व्याला अन्तर्भवितुमर्हन्ति । तथापि विशेषनाम्ना निर्देशे विशिष्टं प्रयोजनमीक्षणीयम् । पूर्वकर्मानुकूलः प्राणिनां योनिभेदः । तत्रतत्र पूर्वकर्मानुकूलमेव सन्निविष्टावयवं सुखदुःखभोगाश्रयः शरीरं तादृशमेव निष्पद्यते । येन तादृशमेव पूर्वसञ्चितकर्मानुकूलं फलं भोक्तुं शक्यते तादृशान्येव च बाह्यानि साधनान्यनायासं सञ्चीयन्ते । अतो जरायुजादिभेदेन साकं शुभाशुभकर्मणां सुखदुःखभोगभेदोऽपि मनुना स्पष्टं सूचित इति ध्येयम् । नहि कारणभेदेन प्रयोजनभेदेन वा विना कस्यापि भेदो वक्तुं शक्यते । अत्र रक्षःपिशाचानां गर्भाधानपुरस्सरं मनुष्यादिवत्साकारशरीरोत्पत्तौ तात्पर्यम् । तेन मनुष्यादिवत्तेषामपि सृष्टौ विद्यमानता विज्ञेया ॥४३॥

सं०—पशु, मृग दोनों और दांतों वाले सिंहादि राक्षस पिशाच और मनुष्य ये सब जरायु से उत्पन्न होने वाले जरायुज हैं ॥

अ०—(पशवः) गौआदि पशु (मृगाः) हरिण आदि मृग (उभयतोदतः) दोनों ओर दन्तों वाले (व्यालाः) सिंहादि (रक्षांसि) स्वार्थसिद्धि के लिये परहित के नाशक अर्थात् अपने कार्य की सिद्धि के लिये दूसरों का नाश करने वाले अथवा हिताहित वा धर्माधर्म के विचार को छोड़ कर मांसभक्षण से अपने शरीर की पुष्टि के लिये प्राणियों की हत्या करने कराने में तत्पर मनुष्य राक्षस नामक (पिशाचाः) चुगली करने में तत्पर वा रुधिर सहित कच्चे मांस के खाने वाले बनमानुषादि मनुष्य पिशाच नामक (च) और (मनुष्याः) शुभ अशुभ मिले हुए आचरणों वाले मनुष्य नामक ये सब (जरायुजाः) जरायु नामक गर्भशय्या में गर्भ बनने के समय उत्पन्न होते हैं ॥

भा०—यद्यपि पशुओं के सामान्य ग्रहण में मृगों का और मृगों के सामान्य ग्रहण में सिंहादि का ग्रहण हो सकता है तथापि मृग और व्यालों का विशेष नामों से निर्देश करने में विशेष प्रयोजन सोच लेना चाहिये कि पशु शब्द मुख्य

कर गौआदि मनुष्य के उपकारी ग्राम के पशुओं का बोधक ही मनु जी को इष्ट है। इसी कारण वैश्य के पशु पालन कर्म में गौआदि विशेष उपकारी पशुओं का ही पालन लिया जा सकता है। हरिणादि का पालन व्यर्थ वा निष्प्रयोजन होने से पशुपालन में नहीं गिना जायगा। इसी प्रकार मुख्य कर मृगपद हरिणादि अहिंसकों का वाचक है और व्यालादि हिंसाशील हैं उन का ग्रहण मृगपद से अपेक्षित नहीं है। पूर्वकल्प वा पूर्वजन्म के कर्मानुकूल ही प्राणियों की जाति वा योनि का भेद होता है। उस २ जाति में पूर्व कर्मों के अनुकूल ही जिस में अवयवों की बनावट होती ऐसा सुख दुःख के भोग का आधार शरीर वैसा ही कर्मानुकूल बनता है जिस शरीर से वैसा ही पूर्व संचित कर्म के अनुकूल मनुष्यादि प्राणी फल भोग सकते हैं। और उन्हीं कर्मों के अनुसार ही बाहरी साधन अनायास संचित हो जाते हैं। इस कारण जरायुज आदि भेद के साथ शुभाशुभ कर्मों के सुख दुःख भोग का भेद भी मनुजी ने स्पष्ट जताया है यह ध्यान रखना चाहिये। क्योंकि कारण वा प्रयोजन का भेद हुए विना किसी का भेद नहीं कहा जा सकता। जैसे तिल और सरसों दो प्रकार के कारण से ही दो प्रकार का तेल निकल सकता है इसी प्रकार जातिभेद से कर्मभेद का अनुमान अत्यन्त स्पष्ट सिद्ध हो जाता है। इस श्लोक से राक्षस और पिशाचों की गर्भाधान पूर्वक मनुष्यादि के तुल्य साकार शरीर की उत्पत्ति दिखाने से मनु जी का अभिप्राय यह है कि मनुष्यादि के तुल्य उन राक्षसादि को भी सृष्टि में विद्यमान समझो। जैसे मनुष्यादि जरायुजों के शरीर सब कामों में सब को प्रत्यक्ष दीखते हैं वैसे राक्षसादि भी वर्त्तमान मनुष्यादि में कोई भेद अवश्य मानना चाहिये। यह कदापि नहीं हो सकता कि गेहूं की रोटी साकार बने और जौ की रोटी निराकार हो जाय जो किसी को दीख भी न पड़े। इसी प्रकार साकार कारण से उत्पन्न राक्षसादि की निराकार वा अदृष्ट आकृति की कल्पना करना सर्वथा अयुक्त निरर्थक वा निष्प्रयोजन माननी चाहिये क्योंकि यह प्रत्यक्षादि से विरुद्ध है ॥ ४३ ॥

अण्डजाःपक्षिणःसर्पानक्रामत्स्याश्चकच्छपाः
यानि चैवं प्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च ४४

स्वेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम् ।
ऊष्मणश्चोपजायन्ते येचान्ये केचिदीदृशाः४५

सं०—सर्पाः पक्षिणो नक्रा मत्स्याः कच्छपाश्च तथाविधाः स्थलजा नकुलादयो जलजाश्च मण्डूकादयोऽण्डजाः ॥ दंशा मशका यूका मक्षिका मत्कुणा अन्ये च ये केचिदीदृशाः पिपीलिकावृश्चिकादयः सन्ति ते सर्वे स्वेदजाः ॥

अ०—(पक्षिणः) शुकवकादयः पक्षैरुड्डीयमानाः (सर्पाः) पादोदराः स्थलजाः (नक्राः) (मत्स्याः,कच्छपाः,च) प्रसिद्धा जलजाः (यानि,च,एवम्प्रकाराणि) पक्ष्यादितुल्यानि प्राणिशरीराणि (स्थलजानि) नकुलकृकलासादीनाम् (च,औदकानि) जलौकामण्डूकादीनां च तानि सर्गारम्भादेवाण्डाकृतौ गर्भे जायन्ते । (दंशमशकम्, यूकामक्षिकमत्कुणम्) क्षुद्रजन्तूनां द्वन्द्व एकवत् (ये,च,ईदृशाः,केचिदन्ये) पिपीलिकावृश्चिकशतपद्यादयः सन्ति ते (ऊष्मणः) ऊष्मोद्भावितेन स्वकारणेन (उपजायन्ते) कारणकालानन्तरमेव सद्यो जायन्त इत्युपोपसृष्टक्रियायाः प्रयोजनम् ॥

भा०—अण्डजा द्विविधाः स्थलजा जलजाश्च तत्र पक्ष्यादीनां प्रधानत्वाद्ग्रहणमुपलक्षणार्थं नतु परिगणनाय । स्वेदजाश्च स्थलजा एव सन्ति तेषु दंशमशकादयोऽप्युपलक्षणार्था एव नतु परिगणनार्थाः । अत्रोष्मपदेनोष्मत्वगुणविशिष्टं दंशादिशरीरद्रव्याणां कारणं द्रव्यमेव विज्ञेयम् । नच क्वापि गुणोपादानमात्रेण द्रव्योत्पत्तिः सम्भवति । गुणशब्दैश्च तत्तद्गुणविशिष्टं द्रव्यं प्रायेण प्राज्ञैः स्वीक्रियतएव यथा श्वेतो धावतीत्यादिवाक्येषु द्रव्यस्यैव धावनसम्भवादश्वादिप्राणिशरीरधावनं विज्ञापयते ॥ ४४ । ४५ ॥

सं०—सांप पक्षी नाके मच्छी और कछुए तथा इसी प्रकार के न्यौला आदि स्थल में उत्पन्न हुए और मण्डूक आदि जलजन्तु अण्डेरूप गर्भ में बन के उत्पन्न होने वाले हैं इस से अण्डज कहाते और डांश मशे जुआं मक्खी और खटमल तथा अन्य जो इसी प्रकार उत्पन्न होने वाले चीटी बिच्छू आदि हैं वे सब स्वेदज कहाते हैं ॥

अ०—(पक्षिणः) पंखों से उड़ने वाले तोता बगुला आदि (सर्पाः) पेटरूप पगसे चलने वाले सांप ये स्थल में उत्पन्न होते (नक्राः) नाके (मत्साः) मच्छी (च) तथा (कच्छपाः) कछुए ये सब जल में उत्पन्न होने वाले प्रसिद्ध हैं (स्थलजानि) नकुल वा केंचु आदि (च) और (औदकानि) जौंक मण्डूक आदि (यानि, च, एवं प्रकाराणि) और भी जो पक्षी आदि के तुल्य उत्पन्न होने वाले प्राणियों के शरीर हैं वे सब सृष्टि के आरम्भ से ही अण्डारूप गर्भ में उत्पन्न होते हैं। (दंशमशकम्, यूकामक्षिकमत्कुणम्) डांश मशे जुआं मक्खी खटमल (च) तथा (ये, केचित्, अन्ये, ईदृशाः) जो कोई अन्य ऐसे चीटी बिच्छू गिंजाई आदि हैं वे सब (ऊष्मणः) गर्मी की अधिकता से प्रकटता को प्राप्त हुए अपने कारण से (उपजायन्ते) कारण की प्रकटता के समय शीघ्र ही उत्पन्न होजाते हैं ॥

भा०—अण्डे से उत्पन्न होने वाले प्राणी दो प्रकार के हैं एक पृथिवी आदि पर रहने वाले पक्षी आदि और दूसरे नाके आदि जलजन्तु । उन में पक्षी आदि का प्रधानता होने से उपलक्षणार्थ ग्रहण है किन्तु परिगणन के लिये नहीं । स्थल के अण्डज प्राणियों में पक्षी आदि प्रधान हैं उन को आदि लेके सभी वैसे अण्डज जानो । और स्वेदज प्राणी केवल स्थल में ही रहते हैं उन में भी डांश मशे आदि उपलक्षणार्थ ही हैं किन्तु परिगणन के लिये नहीं अर्थात् डांश आदि स्वेदजों में मुख्य हैं उन को आदि ले सभी का ग्रहण है । इस श्लोक में ऊष्मपद से उष्णता गुणयुक्त दंश आदि के शरीरस्थद्रव्यों का द्रव्य ही कारण जानना चाहिये । क्योंकि केवल गुण उपादान से द्रव्य की उत्पत्ति होना सम्भव नहीं है । और गुणवाची शब्दों से उस २ गुण से युक्त द्रव्य का ग्रहण प्रायः पण्डित लोग करते ही हैं । जैसे—श्वेत भागा जाता है, इस वाक्य में केवल श्वेत गुण का भागना असम्भव होने और भागना रूप क्रिया का द्रव्य से ही सम्बन्ध होसकने से श्वेतगुण युक्त किसी देहधारी पशु आदि का ग्रहण करने पड़ता है वैसे यहां भी केवल उष्णता गुण से द्रव्योत्पत्ति असम्भव होने से उस गुण से युक्त कारण द्रव्य को जानना चाहिये ॥ ४४ ४५ ॥

उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः ।
ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ४६

सं०—बीजप्ररोहिणः काण्डप्ररोहिणश्च सर्वे स्थावरा उद्भिज्जाः पृथिवीमुद्भिद्य जायन्ते । तेषु बहुपुष्पफलोपगाः फलपाकान्ता ओषध्यः सन्त्यन्येषां वक्ष्यमाणानि नामानि ॥

अ०—(बीजकाण्डप्ररोहिणः) केचिद्बीजात्प्ररोहन्त्युत्पद्यन्ते केचिच्च काण्डाद्यष्टिरूपावयवात् ते (सर्वे) (स्थावराः) इतस्ततो भ्रमणरहिता स्थितिशीला वृक्षादयः (उद्भिज्जाः) पृथिवीमुद्भिद्य महता दुःखेन जायन्त इत्युद्भिज्जास्तेषु (बहुपुष्पफलोपगाः) ये बहूनि पुष्पाणि फलानि चोपगच्छन्ति प्राप्नुवन्ति धारयन्ति वा ते (फलपाकान्ताः) फलानां पाकः फलपाकः फलपाकावसरेऽन्तः समाप्तिर्नाशो मरणं वा यासां तादृशाः (ओषध्यः) ओषधिनामकागोधूमयवादयः प्राणिभेदाः सन्ति ॥

भा०—जीवात्मानः सुखदुःखभोगतारतम्याय कर्मानुकूलानि चतुर्विधानि शरीराणि धारयन्ति । जगति चत्वार एवोत्पत्तिप्रकाराः सन्ति । केचिज्जरायुणा वेष्टिता गर्भे वसन्ति । गर्भाशयान्निस्सरणकाले च जरायुरल्पदुःखजनकप्रयत्नेनैव छिद्यते। तस्मात्प्रायेण तुल्याधिकेष्वेव पुण्यपापेषु सत्सु जीवो जरायुजप्राणिषु जायते । तत्रापि पुण्यापुण्यतारतम्येन सुखदुःखभोगतारतम्यापेक्षया मनुष्यपश्वादिगर्भाशयवासे ततो निस्सरणे वा प्राणिनां सुखदुःखभेदोऽवसेयः । ततो निकृष्टा विशिष्टदुःखभाजश्च पक्षिसर्पनक्रादयः । तेहि जरायुतोऽतिकठिनेऽण्डाकारे गर्भे बद्धावयवा

गर्भवासेचाधिकदुःखभाजो निस्सरणावसरे च जरायवपेक्षयाण्डस्य काठिन्येन छेदनसम्भवात्ततोऽधिकदुःखेनाण्डजानामुत्पत्तिस्तादृश एव च पश्चादुत्पत्त्यनन्तरमपि जरायुजापेक्षयाधिको दुःखभोगः। एवं स्वेदजा उष्णाधिक्येन तात्प्यमाना महता दुःखेन सद्यःसद्य उत्पद्यन्ते म्रियन्ते च। मनुष्यादीनां हस्तपादादिविक्षेपेणान्येन वा प्रकारेण स्वेदजानां प्रतिक्षणं मरणभयं सर्वापेक्षया महद्दुःखमिति सुधीभिर्विभावनीयम्। ततोऽप्यधिकं पृथिवीं भित्त्वोत्पन्नानां शीतवातोष्णाधिक्यजन्यदुःखविशेषभाजां केनापि स्वदेहे छिद्यमान उत्पाट्यमाने वा स्थावरत्वादंशादिवद्देशान्तरं गन्तुमशक्तानां शीतवातोष्मभ्यः स्वरक्षायै कथमपि छायामाश्रयमनुपलभमानानां स्थावराणां महद्दुःखमिति विचारवतां विचाराधीनम्। एवं जरायुजादिचतुर्विधप्राणिषु पूर्वपूर्वापेक्षयोत्तरोत्तराणां दुःखाधिक्यं बोध्यम्। एकैकस्मिन् जरायुजादिप्राणिसमुदायेऽपि विवेच्यमाने बहुविधं सुखदुःखतारतम्यमुपलभ्यते तच्च सर्वं कर्माधीनं विज्ञेयम्। यथा च प्राधान्येन चत्वार एव प्राणिशरीरोत्पत्तिप्रकारास्तथैव सुखदुःखभोगानामपि चत्वारएव प्रधाना भेदाः। फलपाककाले स्वयमेवौषधीनामन्तो भवति तस्मात्तासां गोधूमाद्यन्नफलभक्षणे किमपि पातकं नास्ति ॥४६॥

सं०—बीज से वा डाली काट कर बोने गाढ़ने से जमने वा उगने वाले दोनों प्रकार के वृक्षादि स्थावर जीवधारी पृथिवी को फोड़ कर उगने से उद्भिज्ज कहाते हैं उन में से बहुत पुष्प और फल जिन में लगें और फल पक जाने पर जिन की समाप्ति हो जावे वे ओषधि कहातीं औरों के नाम आगे कहेंगे।

अ०—(बीजकाण्डप्ररोहिणः) कोई बीज के बोने से उत्पन्न होते और कोई डालीरूप लकड़ी से वे (सर्वे) सब (स्थावराः) इधर उधर चलने फिरने

से रहित एक स्थान में स्थित रहने वाले वृक्षादि (उद्भिज्जाः) पृथिवी फोड़ के बड़े दुःख से उत्पन्न होने से उद्भिज्ज कहाते हैं उन में (बहुपुष्पफलोपगाः) बहुत फूल फलों के धारण करने वाले (फलपाकान्ताः) फल पकते समय जिन का अन्त वा नाश हो ऐसे स्थावर (ओषध्यः) ओषधी कहाते हैं अर्थात् गेंहूं जौ चना आदि सब ओषधि हैं ॥

भा०–जीवात्माओं को अपने २ कर्मों के अनुकूल सुख दुःख भोग की न्यूनाधिकता के लिये चार प्रकार के शरीर धारण करने पड़ते हैं अर्थात् जगत् में उत्पत्ति के चार ही प्रकार हैं कोई प्राणी जरायु नाम झिल्ली में बंधे गर्भ में रहते हैं और गर्भाशय से बाहर निकलने के समय वह जरायु अण्डजादि की अपेक्षा न्यून दुःखोत्पादक प्रयत्न से ही फट जाता है और बाहर निकलने में वा गर्भवास में भी अन्यकी अपेक्षा जरायुज प्राणियों को कम कष्ट होता है। इस लिये प्रायः तुल्य पापपुण्यों के होने पर ही जीवात्मा जरायुज प्राणियों में उत्पन्न होता है। वहां जरायुज आदि एक २ कोटि के प्राणियों में भी पाप पुण्य के कम बढ वा प्रबल निर्बल होने से सुख दुखः भोग की न्यूनाधिकता मान कर मनुष्य वा पशु आदि के गर्भाशय में बसने पर तथा वहां से निकलने में प्राणियों को भिन्न २ प्रकार का सुखदुःख समझ लेना चाहिये। जरायुजों की अपेक्षा नीच और विशेष दुःख भोगने वाले पक्षी, सांप और नाके आदि हैं क्योंकि प्रथम तो अण्डारूप उन का गर्भाशय जरायुज की अपेक्षा कठोर है जिस में गर्भस्थ जीव कठिनता से बंधा रहने से गर्भवास में अधिक दुःख भोगता और निकलने के समय जरायु की अपेक्षा अण्डा के कठिनाई के साथ छेदन हो सकने से जरायुजों से अधिक दुःख के साथ अण्डज प्राणियों की उत्पत्ति है और वैसा ही उत्पत्ति के पश्चात् भी जरायुजों की अपेक्षा अण्डजों को अधिक पराधीन होने से अधिक दुःख भोगने होता है इस लिये जरायुजों से नीची द्वितीय कक्षा में अण्डज गिनाये गये। इसी प्रकार स्वेदज प्राणी गर्मी की अधिकता से सन्तप्त हुए बड़े दुःख के साथ शीघ्र २ जन्मते वा मरते हैं तथा मनुष्यादि के चलने फिरने आदि व्यवहार से वा अन्य प्रकार से स्वेदज प्राणियों को प्रतिक्षण मरण का भय लगा रहना जरायुजादि की अपेक्षा महान् दुःख है यह विचारशीलों को शोचने से मालूम होगा। इस कारण स्वेदज तीसरी निकृष्ट दशा में माने गये। और कठिनता से भूमि को फोड़ के जमने वाले शीत, आंधी, गर्मी और वर्षादि की

अधिकता से हुए दुःख के भागी कोई उन के शरीर को काटे वा उखाड़े तो पृथिवी में गड़े होने के कारण मशी आदि के तुल्य भाग जाने को असमर्थ, शरदी गर्मी और आंधी आदि से बचने के लिये किसी प्रकार छायादि को न प्राप्त होने वाले स्थावर देहधारियों को सर्वोपरि अधिक दुःख विद्यमान है इसलिये ये सब से निकृष्ट चौथी दशा में गिने गये। इस प्रकार जरायुजादि चार प्रकार के प्राणियों में पहिलों २ की अपेक्षा अगलों २ को अधिक दुःख जानना चाहिये। समुदाय में भी विचार करने पर बहुत प्रकार की सुख दुःख की न्यूनाधिकता प्रत्यक्ष दीखती है सो भी कर्मों के भेद से सुखदुःख का भेद जानना चाहिये। और एक २ जरायुजादि समुदाय में जैसे मुख्य कर प्राणियों की शरीरोत्पत्ति के चार ही प्रकार हैं वैसे ही सुखदुःख भोगों के भी चार ही मुख्य भेद जानो। फल पकते समय आप ही ओषधियां सूख वा उखट जाती हैं इस लिये उन के गेंहूं आदि अन्न नामक फलों के खाने में कुछ भी पातक वा पाप नहीं होता ॥ ४६ ॥

अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः।
पुष्पिणः फलिनश्चैव वृक्षास्तूभयतः स्मृताः४७
गुच्छगुल्मं तु विविधं तथैव तृणजातयः।
बीजकाण्डरुहाण्येव प्रताना वल्ल्य एव च ४८

सं०—येऽपुष्पाः फलवन्तश्च ते वनस्पतयः पुष्पयोगानन्तरं फलवन्तश्च वृक्षाः स्मृताः। विविधं गुच्छगुल्मं तथैव प्रताना वल्लयः सर्वास्तृणजातयश्च बीजकाण्डरुहाण्येव मन्तव्यानि ॥

अ०—पूर्वं क्रमयोगं च जन्मनीत्युक्तं तदेव प्रदर्शनायेदमुच्यते नतु कोषादिवत्सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धप्रदर्शनाय। (ये) स्थावराः (अपुष्पाः) पूर्वं पुष्पयोगमन्तरेणैव यत्र (फलवन्तः) फलानि निष्पद्यन्ते (ते) (वनस्पतयः) वनस्पतिनामकाः (स्मृताः) अभिमताः (पुष्पिणः,फलिनः,च,एव) (उभयतः) पुष्पफलोभययुक्ताः

(वृक्षाः) (स्मृताः) (गुच्छगुल्मम्) मूलादेव येषु लतासमूहो निस्सरति ते गुच्छाः, इक्षुमुञ्जादिप्रकारका गुल्माः (तथैव) (तृणजातयः) कुशकाशादयः (प्रतानाः) दूर्वादिप्रकारकाः (वल्ल्यः,एव, च) गुडूच्यादिविधाः। एतानि सर्वाणि (बीजकाण्डरुहाएयेव) सन्ति कानिचिद्बीजात्प्ररोहन्ति कानिचिच्च काण्डात् ॥

भा०—स्थावराणां नामविशेषा वनस्पत्यादयः। वनस्पतिषु पुष्पनिस्सरणेन विनैव फलमुत्पद्यते वृक्षेषु च पुष्पागमनानन्तरं फलयोगः। गुच्छा मल्लिकादयः। वंशादयो गुल्माः सहैवोर्ध्वगमनशीलाः समुदायेन प्ररोहन्ति। एवमेव प्रतानवल्लीतृणजातीनामपि जन्मक्रमो बोध्यः। एवमेषामुत्पत्तिक्रमज्ञापनायेदं पद्यद्वयमुक्तम्। भूमिमुद्भिद्यजायमानत्वं तु सामान्यं वनस्पतित्वादिकञ्च तेषु तेषु विशिष्टः क्रमः ॥४७।४८॥

सं०—जिन पर फूल के विना फल लगें वे वट आदि वनस्पति, जिन पर फूल फल दोनों लगें वे आमादि वृक्ष, जड़ से एक साथ बहुतसी लता जिन में निकलें और बहुत न बढ़ें वे मल्लिकादि गुच्छ, एक साथ बहुत अंकुर निकल के ऊंचे बढ़ें वे वांस आदि अनेक प्रकार के गुल्म, एक अंकुर में अनेक शाखा फूट कर पैंड़ने वाले दूर्वा आदि प्रतान और अनेक शाखाओं से वृक्षादि पर पैंड़ने वाले गिलोय आदि वल्ली नामक स्थावर हैं ॥

अ०—पहिले लिख चुके हैं कि प्राणियों की उत्पत्ति का क्रम भी कहेंगे उसी के अनुसार मुख्य २ स्थावर जातियों की वनस्पत्यादि नामों से भिन्न २ उत्पत्ति क्रम दिखाने लिये ये दो श्लोक हैं किन्तु वनस्पति आदि का संज्ञासंज्ञि सम्बन्ध दिखाने को नहीं (ये) जो स्थावर (अपुष्पाः) पुष्प लगे विना ही (फलवन्तः) फलित होते (ते) वे (वनस्पतयः) वनस्पति नामक (स्मृताः) माने गये (पुष्पिणः, फलिनः, च, एव, उभयतः, वृक्षाः, स्मृताः) और जिन पर पुष्प फल दोनों लगें वे वृक्ष माने गये हैं (विविधम्) नानाप्रकार के (गुच्छगुल्मम्) जड़ से ही जिन

में लता का गुच्छा निकले वे गुच्छ और ईख वा मुंज के तुल्य जमने वाले गुल्म (तथैव) वैसे ही (तृणजातयः) कुश काश आदि भी उगते हैं (प्रतानाः) दूर्वा आदि के समान जमने वाले प्रतान (एव, च,) और वैसे ही वृक्षादि पर पैंड़ने वाले (वल्ल्यः) गुर्च आदि वल्ली कहाती हैं। ये सब (बीजकाण्डरुहाण्येव) बीज वा लता के टुकड़े से ही उत्पन्न होने वाले हैं॥

भा०—स्थावरों के विशेष नाम वनस्पति आदि हैं। वनस्पतियों में फूल लगे विना ही फल लगता और वृक्षों में फूल लगने बाद फल लगता है। मल्लिकादि गुच्छ एक साथ बहुत गुम्फित जमते और छोटे २ रहते, बांस आदि गुल्म एक साथ अनेक जमते और आकाश में यथासम्भव ऊंचे बढ़ते हैं। इसी प्रकार दूब आदि प्रतान गिलोय आदि वल्ली और कुशकाशादि तृण जातियों का भी भिन्न २ उत्पत्तिक्रम जानो। भूमि को फोड़ के उत्पन्न होना सब स्थावरों का सामान्य जरायुजादि की अपेक्षा भिन्नक्रम है और सामान्य स्थावर क्रम की अपेक्षा वनस्पत्यादि की उत्पत्ति का अवान्तर विशेष क्रम है॥ ४७। ४८॥

तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना।
अन्तःसञ्ज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ४९

सं०—कर्महेतुना बहुरूपेण तमसा वेष्टिता एते स्थावराः सुखदुःखसमन्विता अन्तःसंज्ञा बाह्यबोधप्रकाशनशून्या भवन्ति॥

अ०—(कर्महेतुना) बहुविधानि कर्माण्येव हेतवो यस्य तादृशेन (बहुरूपेण) बहुप्रकारेण (तमसा) तमोगुणप्रधानमद्यपानादिसञ्चितसंस्काररूपकर्मणा (वेष्टिताः) सर्वतो लिप्ताइव (एते) वनस्पत्यादयः स्थावराः (सुखदुःखसमन्विताः) पूर्वसञ्चितकर्मानुकूलं सुखं दुःखं च समन्वितं येषु (अन्तःसञ्ज्ञाः) अन्तरेव सुखदुःखबोधो येषां तादृशाः (भवन्ति)॥

भा०—यथा सर्वप्राणिनां पूर्वसञ्चितशुभाशुभकर्मानुकूलं जन्म जायते तथैव स्थावराणामपि पूर्वजन्मसु सेवितततमःप्रधा-

नकर्मणां सञ्चयेनैव जन्म सम्भाव्यम् । यथा कर्माण्येवेतस्ततो लग्नानि प्राणिनं फलभोगाकाङ्क्षया प्रत्यक्षं जगति भ्रामयन्ति तथैव मरणावसरे त्यक्तशरीरं जीवात्मानं सर्वतः परिवेष्ट्य वासनारूपेण सञ्चितानि कर्माण्येव जन्मान्तराणि प्रापयन्ति । यद्यपि तमःप्रधानाः स्थावरास्तथापि तेषां सर्वगुणसंयोगमन्तरेण सर्गाभावाद्गौणतया विद्यमानेन सत्त्वेन संयोगात्सुखसमन्विता इति स्वीकार्यम् । स्थावराणां सुखदुःखसमन्वितत्वमन्तःसञ्ज्ञत्वं च ब्रुवता मनुना तेषां जीवत्वद्योतिकाया अन्तश्चैतन्यानुमापिकाया बाह्यचेष्टाया अभावात्कोऽपि जडत्वं नानुमिनुयाज्जीवधारित्वं च स्वीकुर्यादिति विज्ञापितम् । तच्च जीवधारित्वं प्रत्यक्षपूर्वकेणानुमानेनापि निश्चेतुं शक्यते । यथा जलपानमन्तरा पिपासितमनुष्यस्य प्राणत्यागः सम्भवति तथैव जलमन्तरा सर्वे स्थावराः शुष्यन्ति म्रियन्ते । यथा विद्युद्गर्जनादिनाऽन्ये प्राणिनो बिभ्यति गर्भिणीनां गर्भाश्च क्वचिन्निपतन्ति तथैव निर्घातादिशब्दभयेन वृक्षादीनां फलानि पुष्पाणि च विशीर्यन्ते । एवं बहुप्रकारैः स्थावराणां जीवत्वमनुमातुं शक्यते ॥ ४९ ॥

सं०—कर्म जिस का कारण है ऐसे अनेक रूप वाले तमोगुण से दबे हुए ये स्थावर सुख दुःख से युक्त भीतरी बोध वाले होते हैं अर्थात् अपना आशय बाहर वाणी आदि द्वारा प्रकाशित नहीं कर सकते ॥

अ०—(कर्महेतुना) मलीन तमोगुणी मद्यपानादि कर्मों से संचित हुए वासनारूप (बहुरूपेण) बहुत प्रकार के (तमसा) तमोगुण से (वेष्टिताः) सब ओर से लिप्त हुए (एते) ये वनस्पति आदि स्थावर जीवधारी (सुखदुःखसमन्विताः) पूर्वसंचित कर्मानुकूल सुख और दुःख जिन के साथ लगा है (अन्तःसंज्ञाः) भीतर ही सुख दुःख का ज्ञान रखने वाले (भवन्ति) होते हैं ॥

भा०—जैसे सब प्राणियों का पूर्वसंचित शुभाशुभ कर्मानुकूल जन्म होता वैसे ही स्थावरों का भी पूर्व जन्मों में प्रायः सेवन किये तमोगुणी कर्मों के संचय से ही जन्म होना सम्भव है। जैसे प्रत्यक्ष दशा में इधर उधर के लगे काम ही प्राणी को फल भोग की अभिलाषा से इधर उधर जगत् में भ्रमाते हैं। वैसे ही मरण समय शरीर से अलग हुए जीवात्मा को सब ओर से घेर के वासनारूप संचित कर्म ही जन्मान्तरों को प्राप्त कराते हैं। यद्यपि स्थावरों में तमोगुण प्रधान है तथापि सब सत्त्वादि गुणों का संयोग हुए विना उनकी उत्पत्ति नहो सकने के कारण विद्यमान सत्त्वगुण के संयोग से सुख से भी कभी २ कुछ २ युक्त होते हैं यह मानना चाहिये। स्थावरों का सुख दुःख समन्वित होना और भीतरी ज्ञान युक्त होना कहते हुए मनुजी ने उन का जीवधारी होना दिखाने और भीतरी चेतनता का अनुमान कराने वाली बाहरी चेष्टा के न होने से कोई भी उन के जड़ होने का अनुमान न करे और जीवधारी होना सब स्वीकार करें यह जताया है। प्रत्यक्ष है पूर्व जिस के ऐसे अनुमान से भी उन स्थावरों का जीवधारी होना निश्चय कर सकते हैं अर्थात् शास्त्र प्रमाण को अनुमान से भी पुष्ट करना चाहिये। जैसे प्यासे मनुष्य का जल पिये विना प्राण छूटना सम्भव है वैसे जल के अभाव में स्थावर भी सूख जाते हैं। जैसे बिजुली के गर्जनादि से अन्य प्राणी डरते और कहीं २ विशेष भयंकर शब्द से गर्भिणियों के गर्भ भी गिर जाते हैं। वैसे ही गर्जनादि शब्द के भय से वृक्षादि के फल फूल गिर जाते हैं। इत्यादि प्रकार उन में जीवत्व का बहुत अनुमान हो सकता है॥४९॥

एतदन्तास्तु गतयो ब्रह्माद्याः समुदाहृताः।
घोरेऽस्मिन् भूतसंसारे नित्यं सततयायिनि५०

सं०—सततयायिनि नित्यं घोरेऽस्मिन् भूत संसारे ब्रह्माद्या एतदन्तास्तु गतयः समुदाहृताः॥

अ०—(सततयायिनि) निरन्तरमविच्छेदेन परिवर्तनशीले न कदाचिदेकरसतया स्थिरीभाविनि (नित्यम्, घोरे) नित्यमेव भयानके (अस्मिन्) प्रत्यक्षे (भूतसंसारे) प्राणिनां जन्ममरणा-

दिप्रवाहेण संसरणशीले जगति (ब्रह्माद्याः) ब्रह्म परमात्मा आदौ सर्गारम्भे प्रवर्त्तको यासां यद्वा सर्गारम्भे मन्वितिनामान्तरेण प्रसिद्धो ब्रह्मा सर्वमनुष्येष्वग्रगण्यो महर्षिरादिर्यासां ताः (एतदन्ताः) एते स्थावरा अन्ते यासां ताः (तु) (गतयः) तत्तत्कर्मफलानुकूलाः शरीरप्राप्तयः (समुदाहृताः) सम्यक् उदाहृताः ॥

भा०—देवयोनिस्थाभिमतानां ब्रह्मादीनामप्यत्रास्मदादिवज्जन्ममरणप्रवाहान्तर्गतत्वं सुखदुःखभोक्तृत्वं च स्पष्टं प्रदर्श्यते। तेन लोकान्तरेष्वामराः सन्तो देवा निवसन्तीति कल्पनमसङ्गतम्। यथात्र भूर्लोके वेदपारङ्गता धर्मशीला विद्वांसो ब्रह्मादिदेवपदवाच्या यथोचिततारतम्येन भवितुमर्हन्ति तथैव लोकान्तरेष्वपि सन्तु। अमरत्वं च तेषामन्यसाधारणापेक्षया योगाभ्यासब्रह्मचर्यादितपोऽनुष्ठानेनाधिकायुष्ट्वपरं यद्वा धर्मादिजन्येन यशसा कीर्त्या च सदाविद्यमानत्वपरममरत्वं विज्ञेयम्। अर्थात् सर्गारम्भे पश्चाद्वा यत्किमपि कारणादुत्पद्यते तद्यथोचितकालं स्थित्वा विनश्यति नहि किमप्युत्पत्तिधर्मकं नित्यमिति वक्तुं साद्धुं वा शक्यते। उत्पन्नस्य सर्वस्य प्रतिक्षणं विनाशभयं मरणभयं चोपस्थितमेवेति निश्शङ्कमादरणीयम्। स्थावरान्ताश्च प्राणिनो जायन्ते म्रियन्ते च ॥ ५० ॥

सं०—निरन्तर चलायमान सदा भयंकर वायु में बद्दलों के इधर उधर उड़ने के समान प्राणियों के जन्ममरण प्रवाहरूप जगत् में ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त प्राणी संसारचक्र में सदा घूमने वाले माने गये हैं ॥

अ०—(तु) और (सततयायिनि) विना रुकावट निरन्तर बदलने वाले अर्थात् जिस की एकरस स्थिति होना कभी सम्भव नहीं ऐसे (नित्यम्, घोरे) जिस में मरण व्याधि और विपत्ति आदि के आजाने का भय नित्य ही लगा है ऐसे

(अस्मिन्) इस प्रत्यक्ष (भूतसंसारे) प्राणियों के जन्ममरणादि प्रवाह से चलायमान जगत् में (ब्रह्माद्याः) सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्म नाम परमात्मा जिन का प्रवर्त्तक है अथवा सब मनुष्यसृष्टि में प्रधान मनु इस नामान्तर से प्रसिद्ध ब्रह्मा महर्षि को आदि लेके (एतदन्ताः) वृक्षादि स्थावर पर्यन्त (गतयः) उन २ के कर्मानुकूल शरीरों की प्राप्ती (समुदाहृताः) कहीं हैं ॥

भा०—देवयोनि के अन्तर्गत माने गये ब्रह्मा आदि का भी हम मनुष्यादि प्राणियों के तुल्य जन्ममरण प्रवाह के अन्तर्गत होना और उन को सुख दुःख भोग भी हमारे ही तुल्य होना इस श्लोक में स्पष्ट दिखाया है। इस से अमर हुए ब्रह्मादि देवता किसी निज स्वर्गादि नामक लोक में ही निवास करते हैं यह कल्पना ठीक नहीं। जैसे यहां भूलोक में वेदपारग पूर्ण धर्मात्मा विद्वान् लोग न्यूनाधिक योग्यता के कारण यथोचित ब्रह्मादिदेवता कहाने योग्य हो सकते हैं वैसे ही लोकान्तरों में भी हों यह सम्भव है। और योगाभ्यास ब्रह्मचर्य आदि तप के सेवन से अन्य साधारणों की अपेक्षा उन की यथोचित अधिक अवस्था होना अथवा धर्मादि के अधिक सेवन से संचित हुई कीर्त्ति का सदा विद्यमान रहना अमर होने का प्रयोजन समझो। अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में वा पीछे जो कुछ कारण से उत्पन्न होता है वह अपनी नियत अवस्था तक ठहर के नष्ट हो जाता है क्योंकि संसार में उत्पन्न हुआ कोई वस्तु नष्ट न हो नित्य बना रहे यह कोई न कह सकता वा न सिद्ध कर सकता है। उत्पन्न हुए सब जड़ वा चेतन के विनाश का वा मरण का भय प्रतिक्षण विद्यमान रहता है यह निस्सन्देह मानना चाहिये। और सब प्राणियों के तुल्य कर्मानुकूल वृक्षादि स्थावरों का भी उत्पत्ति विनाश जन्ममरण वा सुखदुःख होता है यह इस का मुख्य आशय है ॥ ५० ॥

एवं सर्वं स सृष्ट्वेदं मां चाचिन्त्यपराक्रमः ।
आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीडयन् ५१

सं०—सोऽचिन्त्यपराक्रमः स्रष्टा परमात्मा एवमुक्तप्रकारेण सर्वं चराचरं मां च सृष्ट्वा भूयोभूयः कालेन कालं च पीडयन् आत्मन्यन्तर्दधे ॥

अ०—(सः) (अचिन्त्यपराक्रमः) सर्वभूतमयोऽचिन्त्य इति सप्तमश्लोकस्थपदाभ्यां निर्दिष्टः सर्वशक्तिरनादिः परमात्मैवात्राचिन्त्यपराक्रमपदवाच्यः परामृश्यते । अचिन्त्यश्चिन्तितुमयोग्यः पराक्रमोऽस्य सः (एवम्) पूर्वोक्तप्रकारेण (सर्वम्) चराचरं जगत् (माम्,च) मनुं ब्रह्माणम् (सृष्ट्वा) (भूयः) पुनःपुनः (कालेन,कालम्) सृष्टिस्थितिकालं प्रलयकालेन लयकालं च सर्गस्थितिकालेन (पीडयन्) विनाशयन् निरोधयन् वा (आत्मनि) स्वस्वरूपे (अन्तर्दधे) सर्वदैवान्तर्हितो रूपादिगुणैरप्रकटस्वरूपोऽशरीरित्वान्न कदापि कस्यापि दृश्यो भवति ॥

भा०—अनादिना निराकारेण परमात्मनैवेदं सर्वं सृष्टं न केनापि देहधारिणेति सूच्यतेऽनेन पद्येन । अचिन्त्यपराक्रमश्च न कश्चित्प्राणभृद्भवितुमर्हति । प्राणभृतां च सर्वे साकारशरीरजन्याः पराक्रमाः सर्गारम्भादद्यावधि चिन्तिता इतिहासादिषु वर्णिताश्च विद्यन्ते नच कोऽपि देहभृदचिन्त्यपराक्रमः कयापि युक्त्या केनाप्युपपादयितुं शक्यते । अत्र यद्यपि सर्वस्य सर्गे मनुसर्गसमावेशोऽस्ति तथापि मनुनामकस्य ब्रह्मणः पूर्वसञ्चितशुभवासनाधिक्यात्सर्वनायकत्वेन प्रधानसर्गसूचने तात्पर्यं बोध्यम्। सचाचिन्त्यपराक्रमोऽनन्तशक्तिर्निराकारः परेशोऽहोरात्रप्रवाहवदनादिकालप्रवाहेणासङ्ख्यान्सर्गप्रलयान्कुर्वाणोऽपि न कदापि दृष्टिपथमागच्छति। अपितु शुभाशुभफलभोगैरविद्यादिक्लेशैश्च सदैवापरामृष्टत्वात्सर्वसाक्षित्वाद्अनश्नन्योऽभिचाकशीतीत्यादिना सर्वफलभोगनिषेधाच्छरीरित्वे चाभोगासम्भवान्निराकारएव स्रष्टेति वेदानुकूलं सर्वशिष्टग्राह्यं मतमास्ति ॥ ५१ ॥

सं०—वह अचिन्त्यशक्ति युक्त परमात्मा उक्त प्रकार सब जगत् और मुझ मनु] को रच के सृष्टि से प्रलय को वा प्रलय से सृष्टि का वार २ लौट पौट करता हुआ अपने स्वरूप से अदृश्य रहता है ॥

अ०—(सः) वह (अचिन्त्यपराक्रमः) इस अध्याय के सातवें श्लोक के दो पदों से जिस का निर्देश है वही सर्वशक्तिमान् अनादि परमात्मा अचिन्त्यपराक्रम पद से यहां लियाजाता है । जिस के पराक्रम वा शक्ति को सोचने से कोई ध्यान में नहीं ला सकता कि ऐसी वा इतनी शक्ति है ऐसा परमेश्वर (एवम्) उक्त प्रकार से (सर्वम्) सब चराचर जगत् को (च) और (माम्) मुझ मनु को (सृष्ट्वा) रच के (कालेन, कालम्) सृष्टि रच के प्रलयकाल को और प्रलय करके सृष्टि काल को (भूयः) वार २ (पीडयन्) नष्ट वा निवृत्त करता हुआ (आत्मनि) अपने स्वरूप में (अन्तर्दधे) सदा ही अन्तर्धान रहता अर्थात् शरीरधारी न होने के कारण रूपादि गुणों से प्रकट न हो कर कभी किसी के देखने वा अन्य इन्द्रिय से ग्रहण करने में नहीं आता ॥

भा०—अनादि निराकार परमात्मा ने ही यह सब जगत् रचा है किन्तु किसी देहधारी ने नहीं यह बात इस श्लोक से सूचित की है । और कोई प्राणि अचिन्त्यशक्ति होभी नहीं सकता कि जिस के पराक्रमों वा शक्तियों को कोई ध्यान में न लासके वा न कह सके क्योंकि प्राणधारियों के साकार शरीरों से हुए सब पराक्रम सृष्टि के आरम्भ से अबतक लोगों ने विचार किये वा इतिहासादि में वर्णन किये विद्यमान हैं । और कोई भी विद्वान् किसी देह धारी को किसी युक्ति से अचिन्त्यपराक्रम वाला ठहरा भी नहीं सकता । इस श्लोक में यद्यपि सब की रचना कहने से मनु वा ब्रह्मा की भी रचना आगयी तथापि मनुनामक मनु के पूर्वसञ्चित शुभवासनाओं की अधिकता के कारण सर्वशिरोमणि वा सब को यथोचित मार्ग में चलाने वाले होने से उन की प्रधान रचना दिखाने से तात्पर्य है । और वह अचिन्त्यपराक्रम अनन्तशक्ति निराकार परमेश्वर दिनराति के प्रवाह के तुल्य अनादि काल के प्रवाह से असंख्य वार सृष्टि और प्रलय करता हुआ भी कभी किसी के देखने में नहीं आता किन्तु शुभाशुभ फलभोगों वा अविद्यादि क्लेशों से सदा दूर रहने सब का साक्षी होने और भोग न करता हुआ सब का प्रकाश करता इत्यादि वेदप्रमाणों के अनुसार सब प्रकार के फलभोग से रहित

होने से और शरीरधारी मानने पर भोग का निषेध न हो सकने से स्रष्टा निराकार है यह वेदानुकूल सिद्धान्त सब सज्जनों को ग्रहण करने योग्य है ॥ ५१ ॥

यदा स देवो जागर्त्ति तदेदं चेष्टते जगत् ।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ५२

सं०—यदा स देवो द्योतनशीलः परमात्मा जागर्त्ति तदा सर्वमिदं जगत् चेष्टते यदा च शान्तात्मा सन् स्वपिति तदा सर्वं निमीलति निश्चेष्टं सत्प्रलयं गच्छति ॥

म०—(सः, देवः) सर्वजडचेतनप्रकाशहेतुः सर्वकर्मप्रवर्त्तकः स्रष्टा (यदा) सर्वस्योत्पत्तिकाले स्थितिकाले च (जागर्त्ति) सर्वमुत्पद्य स्थितिदशायां नियमेन चेष्टेतेतीच्छति (तदा) (इदम्) स्थावरजङ्गमं सर्वं दृश्यमानम् (जगत्) (चेष्टते) स्वस्वकर्मणि प्रवर्त्तते (यदा) (शान्तात्मा) शान्तस्वरूपः सन् (स्वपिति) प्रवृत्तिं नेच्छति (तदा) (सर्वम्) (निमीलति) निवृत्तचेष्टं भवति ॥

भा०—यद्यपि लोके जागरणस्वापौ बाह्येन्द्रियप्रवृत्तिनिवृत्तिपरौ गृह्येते तथापि यदर्थाश्रयेण स्वापजागरणे सेन्द्रियप्राणिषु प्रवृत्तौ सएव प्रवृत्तिनिवृत्त्योरिच्छारूपो मुख्यार्थोऽत्रापि स्वीकार्यः । यदि चक्षुर्भ्यां दर्शनं जागरणं चक्षुषोर्निमीलनं च स्वापोऽयमेवार्थः । स्वापजागरणयोरभिमतः स्यात्तर्हि प्रज्ञाचक्षुषां सदा स्वाप एव व्यवह्रियेत न कदापि जागरणमतः प्रवृत्तेरिच्छा जागरणं निवृत्तेरिच्छा च स्वापोऽयमेवार्थ एनयोः साधुः । अत्र च सर्गस्थितिकाले स्रष्टुर्जागरणकथनेन सर्वेषां शुभमशुभं पापं पुण्यं च सर्वान्तर्यामितया पश्यतीति मत्वा नैव केनाप्येकान्ते दुष्कर्माचरणी-

यमिति विज्ञाप्यते । उत्पत्तिप्रलययोः परमात्मनः प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपो भेदोऽपि स्वाभाविक इत्यपि सूच्यते । सर्गस्थितिकालेन स्रष्टुरिच्छाप्रवृत्तेः प्रलयकालेन च सार्द्धं तस्येच्छानिवृत्तेश्च स्वाभाविकः साहचर्यभावो बोध्यः। एवं सति सर्वान्तर्यामिणः सेन्द्रियत्वकल्पनमयुक्तम् ॥५२॥

सं०–जब वह प्रकाशन शील देव परमात्मा जागता है तब यह सब जगत् अपने २ काम में चेष्टा करता और जब वह शान्तस्वरूप हुआ सोता है तब यह सब चेष्टा रहित हो लय को प्राप्त होता है ॥

अ०—(सः) वह (देवः) सब जड़ चेतन के प्रकाश का हेतु सब कर्मों का प्रवर्त्तक सृष्टिकर्त्ता (यदा) जब जगत् के उत्पत्ति और स्थिति समय में (जागर्त्ति) सब जगत् उत्पन्न हो कर स्थिति समय की दशा में नियम पूर्वक चेष्टा करे ऐसी इच्छा करता है अर्थात् अपने काम की ओर ध्यान रखना ही वास्तव में जागना है (तदा) तब (इदम्) यह दीख पड़ने वाला स्थावर जंगम सब (जगत्) जगत् (चेष्टते) अपने २ कर्म में प्रवृत्त होता है। और (यदा) जब वह (शान्तात्मा) शान्तस्वरूप हुआ (स्वपिति) प्रवृत्ति को नहीं चाहता अर्थात् कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विचार को छोड़ के शान्ति के साथ अपने स्वरूप में स्थित रहना ही वास्तव में स्वप्नावस्था है (तदा) तब (सर्वम्) सब जगत् (निमीलति) चेष्टा रहित लय को प्राप्त हो जाता है ॥

भा०–यद्यपि लोक में चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों की प्रवृत्ति जागना और देखने सुनने आदि से इन्द्रियों की निवृत्तिरूप ही सोना माना जाता है तथापि जिस मुख्य अभिप्राय से सोना जागना शरीरधारियों में प्रवृत्त हैं वही प्रवृत्ति की इच्छा जागना और निवृत्ति की इच्छारूप सोना मुख्य अर्थ यहां भी मानना चाहिये। यदि आंखों से देखना जागरण और आखों का बन्द होना सोना यही अर्थ सोने जागने का किसी को अभीष्ट हो तो अन्धों का सदा सोना ही माना जाय किन्तु उन का जागना कभी न कह सकें इसलिये प्रवृत्ति की इच्छा जागना और निवृत्ति की इच्छा सोना यही अर्थ स्वप्न जागरण का लेना ठीक है। और इस श्लोक में उत्पत्ति स्थिति समय पर सृष्टिकर्त्ता का जागरण कहने से सब प्राणियों

के शुभ अशुभ वा पापपुण्यों को सर्वान्तर्यामिरूप से परमात्मा देखता है ऐसा मान कर किसी को एकान्त में भी दुष्कर्म न करना चाहिये यह जताया है। उत्पत्ति और प्रलय में परमात्मा का प्रवृत्ति निवृत्ति चाहनारूप भेद भी प्रतिकल्प के साथ स्वाभाविक है यह भी इस कथन से सूचित किया है और सृष्टि की स्थितिकाल के साथ सृष्टिकर्त्ता की इच्छा प्रवृत्ति और प्रलयकाल के साथ उसी की इच्छानिवृत्ति का स्वाभाविक साहचर्य होना जानो। ऐसा होने पर सर्वान्तर्यामी निराकार परमेश्वर में इन्द्रिय सहित होने की कल्पना करना अयुक्त है क्योंकि उस में सृष्टि स्थिति के साथ स्वाभाविक इच्छा का होना जागरण और प्रलय के साथ स्वाभाविक इच्छा की निवृत्ति स्वप्न मानना चाहिये ॥५२॥

तस्मिन् स्वपिति तु स्वस्थे कर्मात्मानः शरीरिणः।
स्वकर्मभ्यो निवर्त्तन्ते मनश्च ग्लानिमृच्छति ५३

सं०—तु तस्मिन्स्रष्टरि स्वस्थे स्वपिति सति कर्मात्मानः शरीरिणः स्वकर्मभ्यो निवर्त्तन्ते तेषां मनश्च ग्लानिमृच्छति ॥

अ०—(तु) पुनः (तस्मिन्) स्रष्टरि परमेश्वरे (स्वस्थे) स्वात्मनि समाधिस्थे (स्वपिति) निवृत्तेच्छे सति (कर्मात्मानः) सञ्चितकर्मवासनाभीरक्ताः कर्मरूपाइव लक्ष्यमाणाः (शरीरिणः) देहधारिणः क्षेत्रज्ञाः (स्वकर्मभ्यः) क्रियमाणकर्मभ्यः प्रारब्धानुकूलभुज्यमानेभ्यः कर्मफलेभ्यश्च (निवर्त्तन्ते) जीवात्मनाम् (मनश्च) क्रियमाणकर्मसुप्रारब्धानुकूलभोगेषु च प्रवर्त्तकमन्तःकरणम् (ग्लानिम्) हर्षोत्साहविहीनं सत् (ऋच्छति) प्रलयं प्राप्नोति ॥

भा०—सर्वत्रैवायं नियमो न्यायसिद्धो यत्कारणाभावे कार्याभावः। यथा च तैलाभावे दीपनिर्वाणम्। यद्वा निमित्ताभावे निमित्तिकार्याभावो यथा सूर्यप्रदीपादिनिमित्तप्रकाशमन्तरेण च-

क्षुषा किमपि द्रष्टुं न शक्यते। तथैवात्रापि सर्गस्थितौ सर्वनिमित्तानामपि निमित्तं परमात्मनः सर्गारम्भात्पूर्वमेव सर्जनेच्छाप्रवृत्तिस्तस्य च मूलनिमित्तस्याभावे सर्वजगतः प्रवृत्त्यभावः प्रलय कथ्यते। यथा च सर्वशाखाधारे मूले छिद्यमाने निराधाराः शाखाः स्थातुमशक्तास्तथैव सर्वाधारे परमात्मनि स्वास्थ्यमापन्ने जगतः स्थितिर्न सम्भवति। प्रलयावसरे स्वास्थ्यरूपं शयनं च तस्य स्वाभाविकमित्युक्तमेव ॥५३॥

सं०—और उस सृष्टिकर्त्ता के स्वस्थतापूर्वक सो जाने पर अपने २ कर्मों में लिप्त शरीरधारी अपने कर्मों से निवृत्त हो जाते हैं और कामों की ओर झुकाने वाला उनका मन भी विचार से हठ लीन होता है॥

अ०—(तु) फिर (तस्मिन्) उस स्रष्टा परमेश्वर के (स्वस्थे) अपने आत्मा में समाधिस्थ (स्वपिति) सब इच्छाओं से निवृत्त हो जाने पर (कर्मात्मानः) संचित कर्मवासनाओं में रंगे हुए कर्मरूप दीख पड़ने वाले (शरीरिणः) देहधारी जीवात्मा (स्वकर्मभ्यः) क्रियमाण कर्मों और प्रारब्धानुकूल भोग में आने वाले अपने २ कर्मफलों से (निवर्त्तन्ते) निवृत्त होजाते हैं (च) और उन जीवात्माओं का (मनः) क्रियमाण कर्मों और प्रारब्धानुकूल भोगों में प्रवृत्त करने वाला अन्तःकरण भी (ग्लानिम्) हर्ष वा उत्साह से रहित हुआ (ऋच्छति) प्रलय को प्राप्त होता है॥

भा०—सर्वत्र ही यह नियम न्यायानुकूल सिद्ध है कि जो कारण के अभाव में कार्य का न रहना जैसे तेल न रहने पर दीपक का बुझ जाना। अथवा निमित्त के अभाव में उस निमित्त से होने वाले कार्य का न होना भी सर्वत्र सिद्ध है जैसे सूर्य वा दीपकादि निमित्त प्रकाश के विना नेत्र से कुछ भी नहीं देख सकते वैसे ही यहां भी सृष्टि की स्थिति में सब निमित्तों का भी निमित्त परमेश्वर की सृष्टि के आरम्भ से पूर्व ही रचनेच्छाप्रवृत्ति है उस मूल निमित्त के रहने पर सब जगत् की प्रवृत्ति का अभाव प्रलय कहा जाता है। और जैसे सब डालियों के आधार वृक्ष की जड़ के काटे जाने पर निराधार वृक्ष की शाखा नहीं ठहर सकतीं वैसे ही सर्वाधार परमात्मा के स्वस्थ हो जाने पर वा धारण के ध्यान से

हठ जाने पर जगत् की स्थिति नहीं हो सकती। और प्रलय के समय स्वस्थतारूप उस का शयन स्वाभाविक है यह पूर्वही अच्छे प्रकार प्रतिपादन हो चुका है ॥५३॥

युगपत्तु प्रलीयन्ते यदा तस्मिन् महात्मनि ।
स्वेच्छायं सर्वभूतात्मा सुखं स्वपिति निर्वृतः ५४

सं०—तु पुनर्यदा तस्मिन् महात्मनि युगपत् सर्वे प्रलीयन्ते तदा सर्वभूतात्मायं निर्वृतः सन् सुखं स्वपिति ॥

अ०—(तु) पुनः (यदा) (तस्मिन्, महात्मनि) सर्वव्याप्तत्वान्महा[illegible] तादृशे परेशे सर्वे प्राणिनः धारणामप्या[illegible] अयम्) (सर्वभूमाप्नोति । यथा स्थूलं घटपटादि[illegible] तादृशः (निर्वृतः) विनाशावसरे स्थितिं [illegible] गच्चिन्ताराहित्यं स्वतोऽप्यधिकतमत्वेन परमात्मनि [illegible] यद्यपि सर्गस्थितिकाले [illegible] यते यत्स्वस्य न व्यज्यते तथापि प्र[illegible] रमात्मा च सर्वान्तर्यामीत्यस्तीदानीमभा[illegible] न्नेव सर्वं स्थितिकथनं युक्तमेव । अस्म[illegible] स्थूले पृथिव्यादौ परि बड़ा है [illegible] र्वं चराचरं (प्रलीयन्ते) [illegible] ति । सब जीवात्मा जिस के [illegible] स्थिर (सुखम्) सब कार्य [illegible] न्ता स [illegible] ति) निरिच्छ निरुपद्रव ठहरता है।

स चिन्ताकुलो जायते नैव तस्य परेशस्य किमपीष्टं प्रयोजनं यदर्थं चिन्तातुरः स्यात् । सर्वाणि च तस्य कार्याणि स्वाभाविकनियमेनैव भवन्ति नास्ति तस्मात्कथमपि कोऽपि प्रबलो नियमविघातको यश्चिन्ताहेतुः स्यात् । तथापि भक्तवात्सल्यात्स्वस्योपासकानां शुभाचारिणामिष्टं दुष्कर्मिणां चानिष्टं निकृष्टफलं चिन्तयति । तादृशापि चिन्ताप्रलयकाले निवर्त्तत इति तात्पर्यम् । त्रिपञ्चाशत्पद्य उक्तं परमात्मनि स्वपिति निरीहे सति सर्वं लीयते । तत्र परमात्मनो निरीहत्वं प्रलयस्य कारणं [illegible]ति । चतुःपञ्चाशत्पद्येन च [illegible] सुखशयने कारणं प्रतीयते [illegible] प्रलयस्य कारणं प्रलयकालागमनं विकः साहचर्य [illegible] ॥५४॥ वक्तुं शक्यते ।

[illegible] परमेश्वर [illegible] साथ सब वस्तु लीन हो सन्ध्याकाले [illegible] अपने में लेकर निर्विघ्न सुखपूर्वक सोता है ॥ स्वाभाविकः साह [illegible] महात्मनि) सर्वव्याप्त होने से सर्वो- शक्तः सूर्यास्ते वा [illegible] (युगपत्) एक साथ सब त्रापि परमात्मन [illegible]) यह (सर्वभूतात्मा) च पर मा [illegible] अपने ही आत्मा [illegible] हुआ सुखपू [illegible] भवो वक्तु [illegible] जाहे [illegible] त्सुखं स्वपितीति [illegible] यः काश्चित्स्वाभीष्टसाध्ये सर्वथा यत्नमान इष्टसिद्धौ विघ्नं पश्यति

भा०—यह भी सर्वत्र का नियम मिलता है कि जो अपने २ आधार में सब वस्तु सब दशाओं में ठहरते हैं। और परमेश्वर सब आधारों का भी आधार है इस कारण प्रलय के समय में भी उसी में सब कुछ सूक्ष्म हो कर स्थिति को प्राप्त होता है। जैसे स्थूल घट पटादि पदार्थ अपने से अधिक स्थूल पृथिवी आदि में विनष्ट हो कर रहते हैं। वैसे ही सूक्ष्मदशा को प्राप्त हुआ सब चराचर जगत् अपने से भी अत्यन्त सूक्ष्म परमेश्वर में प्रलय के समय स्थिति को प्राप्त होता है। यद्यपि सृष्टि के स्थितिसमय में परमेश्वर को कुछ भी दुःख का भान होता है यह नहीं कह सकते तथापि प्रवृत्ति के समय ईश्वर की स्वाभाविक इच्छा के होने से अपने कारण से उत्पन्न हुई कार्य जगत् प्रवृत्त हो वा रहे ऐसी चिन्ता का प्रलय समय में अभाव होने से पूर्व की अपेक्षा शान्ति की अधिकता होने से सुखपूर्वक सोता है यह कहना ठीक ही है। और सृष्टि के समय भी हम मनुष्यादि के तुल्य उस को चिन्ता नहीं होती इसी कारण दुःख का भी अभाव मानना चाहिये। जो कोई अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिये सब प्रकार यत्न करता हुआ इष्टसिद्धि में विघ्न देख कर चिन्ता से व्याकुल होता है वैसे उस परमेश्वर का कोई इष्ट प्रयोजन है जिस के लिये चिन्तातुर हो क्योंकि उस के सब काम स्वाभाविक नियम से ही होते हैं उस से अधिक कोई कैसा ही प्रबल अन्य नहीं है जो उस के नियम में विघ्नडाल कर चिन्ता का कारण हो। तोभी उस का भक्तों पर कृपादृष्टि रखना स्वाभाविक कर्म होने से अपने उपासक शुभाचरणी पुरुषों को इष्ट सुख और दुराचारियों को अनिष्ट दुःख प्राप्त कराने की सदा चिन्ता करता है। वैसी चिन्ता भी प्रलय समय निवृत्त हो जाती है यह प्रयोजन है। तेपनवें श्लोक में कहा कि परमेश्वर के इच्छा रहित होने रूप सोने में सब जगत् प्रलय को प्राप्त होता वहां इस कथन से परमात्मा का इच्छारहित होना सब के प्रलय का कारण प्रतीत होता है और चौवनवें श्लोक से सब का प्रलय परमात्मा के इच्छारहित होने पूर्वक सुखपूर्वक सोने में कारण जान पड़ता है इन दो बातों में क्या ठीक है ऐसा जानने की इच्छा वालों को दोनों का स्वाभाविक सहचारीभाव ही मुख्य जानना चाहिये क्योंकि जहां दो काम एक साथ होते हैं वहां दोनों को दोनों का कारण कह सकते हैं। जैसे सूर्य के अस्त होने पर सन्ध्याकाल हो जाता अथवा सन्ध्याकाल होते ही सूर्य

अस्त हो जाता। यहां भी सूर्यास्त और सन्ध्याकाल का स्वाभाविक सहचारी भाव है। अर्थात् जैसे सन्ध्यासमय के निकट आजाने पर सूर्य नहीं ठहर सकता तो सन्ध्याकाल का आजाना सूर्य के अस्त होने का कारण हुआ और सूर्य के अस्त होते ही सन्ध्यरकाल न हो यह भी सम्भव नहीं तो सूर्य का अस्त होना सन्ध्यासमय का कारण हुआ वैसे ही यहां भी परमात्मा का इच्छारहित होना प्रलय का कारण और प्रलयकाल का आजाना परमात्मा के इच्छारहित होने में हेतु वा कारण है। इसी के अनुसार उत्पत्ति समय का आना परमेश्वर की इच्छा का और उस की इच्छा उत्पत्ति का कारण होती है ॥ ५४ ॥

तमोऽयं तुसमाश्रित्य चिरं तिष्ठति सेन्द्रियः।
नच स्वं कुरुते कर्म तदोत्क्रामति मूर्त्तितः ५५

सं०—सेन्द्रियोऽयं जीवात्मा तमोगुणं समाश्रित्य चिरं तिष्ठति। प्रलयकालावधि तदा मूर्त्तित उत्क्रामति स्वं कर्म नच कुरुते ॥

अ०—(सेन्द्रियः) इन्द्रि[illegible]सहितोऽपि तत्तच्छक्तिरत्रेन्द्रियपदेनावसेया नतु गोलकानि (अयम्) जीवात्मा (तमः) प्रलयकालीनां तमःप्रधानां प्रकृतिम् (समाश्रित्य) सम्यगवलम्ब्य (चिरम्) बहुकालं प्रलयकालावधि (तिष्ठति) स्वरूपेऽवतिष्ठते (तदा) प्रलयकाले (मूर्त्तितः) स्थूलशरीरात् (उत्क्रामति) पृथग्भवति तस्मादेव कारणात् (स्वं,कर्म) शरीरेन्द्रियजन्यं चेष्टाम् (नच, कुरुते) नैव करोति ॥

भा०—अत्र मूर्त्तित उत्क्रमणकथनेन सेन्द्रियत्वविशेषणेन चायमिति पदेन जीवात्मनो ग्रहणमुचिततरं प्रतिभाति। प्रलयावसरे सर्गस्थितिकालेऽपि मरणानन्तरं शरीरान्तरप्राप्तेः पूर्वं स्थूलशरीराभावे सर्वविधचेष्टाया अभावाल्लिङ्गशरीरे सेन्द्रियोऽपि जीवात्मा श्रवणदर्शनादीनि कर्माणि न करोति। अपितु प्रलय-

कालीनेन तमसा पङ्केनेवाच्छादितस्तावत्कालं निष्क्रियो मूर्च्छितः सुषुप्त्यवस्थायामव्यक्तकारणाश्रयेण तिष्ठति ॥५५॥

सं०—सूक्ष्मइन्द्रियों की शक्ति सहित यह जीवात्मा तमोगुण का आश्रय लेकर प्रलय सम्बन्धी चिरकाल तक स्थूल शरीर पृथक् हो कर रहता है इसी कारण शरीर वा इन्द्रियों से होने वाले अपने किसी काम को नहीं करता है ॥

अ०—(सेन्द्रियः) इन्द्रियों की शक्ति से युक्त भी [यहां इन्द्रिय शब्द से उन २ इन्द्रियों की सूक्ष्मशक्ति का ग्रहण समझना चाहिये किन्तु इन्द्रिय गोलक नहीं] (अयम्) यह जीवात्मा (तमः) प्रलय समय की तमोगुण प्रधान अव्यक्त प्रकृति का (समाश्रित्य) सम्यक् आलम्बन कर के (चिरम्) प्रलय सम्बन्धी दीर्घकाल तक (तिष्ठति) अपने स्वरूप से अवस्थित रहता है (तदा) तब प्रलय-समय में (मूर्त्तितः) स्थूल शरीर से (उत्क्रामति) पृथक् हो जाता है इसी कारण (स्वं, कर्म) शरीर और इन्द्रियों से होने वाली अपनी चेष्टा को (नच, कुरुते) नहीं करता है ॥

भा०—इस श्लोक में स्थूल शरीर से पृथक् होने के कथन और इन्द्रिय सहित होना रूपविशेषण के आने से अयं पद करके जीवात्मा का ग्रहण करना अति उचित प्रतीत होता है। प्रलय के समय और सृष्टि के स्थितिसमय में भी मरणे के पश्चात् और शरीरान्तर धारण करने से पूर्व स्थूलशरीर के अभाव में सब प्रकार की चेष्टा के न हो सकने से जीवात्मा लिङ्ग शरीर में इन्द्रियों की शक्तिसहित होने पर भी सुनना देखना आदि कर्म नहीं करता। किन्तु प्रलयसमय के तमो-गुणरूप अन्धकार से कीचड़ से ढपे के समान उस ने समय तक निष्कर्म मूर्छित हुआ सुषुप्तिदशा में अव्यक्त कारण का आश्रय लेकर ठहरता है ॥ ५५ ॥

यदाणुमात्रिको भूत्वा बीजं स्थास्नु चरिष्णु च।
समाविशति संसृष्टस्तदा मूर्त्तिं विमुञ्चति ५६

सं०—यदा जीवात्मा लिङ्गदेहेनाणुमात्रिको भूत्वा स्थास्नु चरिष्णु च बीजं समाविशति तदा प्राणादिसंसृष्टो मूर्त्तिं विमुञ्चति ॥

अ०—(यदा) प्रलयान्ते सर्गकालागते यद्वा प्रवाहप्राप्ते मरणानन्तरं जन्मावसर आगते स जीवात्मा (अणुमात्रिकः) अणवः सूक्ष्मा मात्राः पुर्यष्टकनामका अंशा उद्बुद्धा यस्य स तादृशः (भूत्वा) (स्थास्नु) स्थावरसम्बन्धि (चरिष्णु, च) जङ्गमसम्बन्धि च (बीजम्) भौतिकं शरीरोपादानकारणम् (समाविशति) (तदा) (संसृष्टः) प्राणादिभिः संसर्गं प्राप्तो रचनाव्यूहविशेषेण संयुक्तः (मूर्त्तिम्) स्थूलशरीरम् (विमुञ्चति) उपादत्ते। धातूनामनेकार्थत्वान्मुञ्चतेर्ग्रहणार्थः ॥

भा०—पूर्वपद्ये जीवस्य प्रलयकालीना दशोक्ता। अनेन च पुनःशरीरधारणप्रकार उच्यते। —भूतेन्द्रियमनोबुद्धिवासनाकर्मवायवः। अविद्या चाष्टकं प्रोक्तं पुर्यष्टमृषिसत्तमैः ॥ शूक्ष्मभूतानि तन्मात्राख्यानि, इन्द्रियाणां दशविधा शक्तिः, मनःशक्तिः, निश्चयात्मिकान्तःकरणवृत्तिर्बुद्धिः, कर्मणां सूक्ष्मा बहुकालीनाः संस्कारा वासनाः, अल्पकालिकाः संस्काराः कर्माणि, वायवः प्राणाः, अविद्या विपरीतं ज्ञानमित्यष्टौ पुर्यष्टकपदवाच्याः। एषामुद्बुद्धानां जन्महेतुत्वमनुद्बुद्धानां तमस आधिक्येन तिरोभूतानां च मरणलयहेतुत्वं बोध्यम्। जन्मावसरेऽणुमात्रिकलिङ्गशरीरेण सह भोगोन्मुखीभूतकर्मवासनाभिरुद्बुद्धो जीवो बीजवपनानन्तरं गर्भाधानानन्तरं तेषु तेषु स्थावरजङ्गमगर्भेषु पूर्वकर्मानुकूलभोगाय प्रविश्य स्थूलशरीरलिङ्गैः श्वासप्रश्वासादिभिः संयुक्तः स्थूलशरीरं समादत्ते तत्रैव सञ्चितकर्मानुकूलमायुर्भोगं चाप्नोति ॥५६॥

सं०—जब जीवात्मा लिङ्ग शरीर के साथ सूक्ष्म हो कर शरीर धारण के लिये स्थावर जङ्गम योनि के बीजरूप कारण में प्रवेश करता तब प्राणादि से युक्त हो के शरीर धारण करता है ॥

अ०—(यदा) जब प्रलय के अन्त में सृष्टि का समय आने पर अथवा प्रवाह से प्राप्त मरण पश्चात् जन्म का अवसर आने पर वह जीवात्मा (अणुसात्त्विकः) पुर्यष्टक नाम वाले सूक्ष्मअंश जिस के साथ प्रकट हुए ऐसा लिङ्ग शरीरसहित (भूत्वा) हो कर (स्थास्नु) स्थावर सम्बन्धी (चरिष्णु, च) और जङ्गम सम्बन्धी (बीजम्) भौतिक शरीर के उपादान कारण में (समाविशति) प्रवेश करता है (तदा) तब (संसृष्टः) प्राणादि के साथ संयुक्त अर्थात् शरीर रचना की विशेष २ बनावट के साथ मिला हुआ (मूर्त्तिम्) स्थूल शरीर को (विमुञ्चति) ग्रहण करता है। धातुओं के अनेक अर्थ होने से यहां मुचधातु का ग्रहण अर्थ लिया गया है ॥

भा०—पूर्व श्लोक में जीवात्मा की प्रलय समय की दशा कही अब इस श्लोक से फिर शरीरधारण की रीति दिखाते हैं। तन्मात्र नामक सूक्ष्म पंच तत्त्व, दश प्रकार की इन्द्रियों की शक्ति, अन्तःकरण वा मन की शक्ति, निश्चयात्मक अन्तःकरण की वृत्तिरूप बुद्धि, कर्मों के पुराने सूक्ष्म संस्कारों की वासना, थोड़े काल से संचित हुए संस्काररूप कर्म, प्राण के दश भेद, और विपरीत ज्ञानरूप अविद्या इन आठों को पूर्वज विद्वान् ऋषियों ने पुर्यष्टक नाम से कहा है। इन की अपने २ कार्यों की ओर झुकावट प्राणियों के जन्म का हेतु और तमोगुण की अधिकता से इन का दब जाना मरण वा प्रलय का हेतु है। जन्म का समय आने पर सूक्ष्मलिङ्ग शरीर के साथ शुभाशुभकर्म फल भोग की ओर झुकी वासनाओं से जगाया हुआ जीवात्मा खेत में बीज बोने वा गर्भाधान होने के पश्चात् उन २ स्थावर जंगम गर्भों में कर्मानुकूल फल भोगने के लिये प्रवेश करके स्थूल शरीर के चिन्ह श्वास प्रश्वासादि से संयुक्त हुआ स्थूल शरीर का धारण करता है उसी २ शरीर में अपने संचित कर्मों के अनुकूल आयु और सुख दुःख भोग को प्राप्त होता है ॥ ५६ ॥

एवं स जागृत्स्वप्नाभ्यामिदं सर्वं चराचरम् ।
सञ्जीवयति चाजस्रं प्रमापयति चाव्ययः ५७

सं०—एवं सोऽव्ययः स्रष्टा स्वीयजागृत्स्वप्नाभ्यां सर्वमिदं चराचरं जगदजस्रं संजीवयति च प्रमापयति च ॥

अ०-(एवम्) पूर्वोक्तप्रकारेण (सः) (अव्ययः) स्वयमविनश्वरः सर्वविधविकारभावरहितएव स्रष्टा (जागृत्स्वप्नाभ्याम्) (सर्वम्, इदम्, चराचरम्) जगत् (अजस्रम्) अहोरात्रवन्निरन्तरं प्रवृत्तेन पर्यायतः प्राप्तक्रमप्रवाहेण (संजीवयति, च) जागरणेन सर्वमुत्पादयति चात्स्वस्य स्वस्य कर्मणि प्रवर्तयति (प्रमापयति, च) स्वप्नेन सर्वं मारयति चात्प्रालेयतमसा संयोजयति ॥

भा०-उक्तस्यैवायमुपसंहारो न तु नूतनोक्तिः। स्वस्य प्रवर्त्तनेच्छारूपजागरणेन सर्वमुत्पाद्य कर्मसु प्रवर्त्तयति निवर्त्तनेच्छारूपस्वप्नेन च सर्वं स्वस्वोपादाने विनाश्य प्रलयकालावधि तादृशमेव स्थापयति। एवं च कुलालचक्रपरिभ्रमणवत्तस्य नैत्यिकं कर्म। सर्वस्य जीवनमरणे कुर्वन्नपि स्वयं जीवनमरणादवशिष्टोऽविनश्वरोऽविकृतएव तिष्ठति ॥५७॥

सं०—वह अविनाशी सृष्टिकर्त्ता पूर्वोक्त प्रकार से अपने जागने सोने क के इस सब चराचर जगत् का निरन्तर उत्पत्ति और विनाश करता है सृष्टि व समय उत्पत्ति प्रलय में विनाश बराबर सदा ही किया करता है ॥

अ०—(एवम्) इस पूर्वोक्त प्रकार से (सः) वह (अव्ययः) स्वयं सदा अविनाशी सदा सब प्रकार के विकार से रहित सृष्टिकर्त्ता (जागृत्स्वप्नाभ्याम्) अपने जागने और सोने करके (सर्वम्, इदम्, चराचरम्) इस सब चराचर जगत् के (अजस्रम्) निरन्तर [दिन रात्रि के तुल्य आगे पीछे आने जाने वाले अर्थात् जैसे दिन की समाप्ति में रात्रि और रात्रि के अन्त में दिन क्रम से बार २ लौट कर होता है वैसे उत्पत्ति के पश्चात् प्रलय और प्रलय के पश्चात् उत्पत्ति सदा ह प्रवाह से होते रहते हैं] (संजीवयति, च) अपनी जागरण अवस्था के साथ स को उत्पन्न करता और अपने २ कर्म में सब को प्रवृत्त करनारूप स्थिति दश में रखता है (प्रमापयति, च) अपनी स्वप्नावस्था के साथ सब को मारता व लीन करता और प्रलय सम्बन्धी तमोगुण वा गाढ़निद्रा के साथ सब को संयु रखता है ॥

भा०—इस श्लोक में पूर्व कहे विषय की समाप्ति दिखायी है किन्तु नवीन कथन कुछ नहीं किया है। सब को प्रवृत्त करने की इच्छारूप अपने जागरण से सब को उत्पन्न करके कर्मों में प्रवृत्त करता और सब को सब काम से हटाने की इच्छारूप स्वप्न से उस २ के उपादान कारण में सब का विनाश करके प्रलय समय में वैसे ही रखता है। इस प्रकार कुम्हार के चाक घुमाने के समान यह उस का नित्यकर्म है सब का जीवन मरणरूप उत्पत्ति विनाश बार २ करता हुआ भी स्वयं जीवन मरण से पृथक् अविनाशी स्वभाव वाला सदा निर्विकार ही स्थित रहता है। इस से देहधारी होने का स्पष्ट खण्डन हो जाता है ॥ ५७ ॥

इदं शास्त्रं तु कृत्वासौ मामेव स्वयमादितः।
विधिवद्ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन् ५८

सं०—असौ मनुरिदं शास्त्रं कृत्वा आदितो मामेव विधिवत्स्वयं ग्राहयामास। पुनरहं भृगुस्तु मरीच्यादीन्मुनीन् विधिवदध्यापितवान् ॥

अ०—(तु) पुनः (असौ) मनुनामको ब्रह्मा (इदम्, शास्त्रम्) विधिनिषेधपरं सूत्रादिरूपं नतु वर्तमानपद्यरचनास्वरूपम् (कृत्वा) मूलवेदाशयविज्ञानेन स्मृत्वा (आदितः) सर्वस्मात्पूर्वम् (माम्, एव) (विधिवत्) संस्कारपूर्वकब्रह्मचर्याश्रमनियमानुकूलम् (स्वयम्) स्वयमेव गुरुर्भूत्वा (ग्राहयामास) तत्त्वार्थविज्ञापनपूर्वकमध्यापितवान्। (अहम्, तु) पुनरहं भृगुः (मरीच्यादीन्, मुनीन्) मननशीलान् मरीच्यादिमहर्षीन् ब्रह्मचर्याश्रमस्थानध्यापितवान् ॥

भा०—भृगुणा मानवं धर्मशास्त्रं मनुकालानन्तरं पद्यरूपेण रचितमतएव परोक्षवाचकेनासाविति पदेन मनोर्निर्देशः। अत्रा-

हमिति पदेन केचिन्मनुमेव स्वीकुर्वन्ति शास्त्रस्यास्य भृगुप्रोक्तत्वात्तन्न युज्यते। सर्गारम्भे ब्रह्मापरनामकेन मनुना वेदार्थं सम्यगालोच्य वेदार्थोपनिबद्धानि सूत्ररूपाणि प्राणिनां हिताहितद्योतनाय सङ्क्षिप्तवाक्यानि प्रचारितानि। नच तादृशमाशयं मूलवेदात्सर्वे विज्ञातुं समर्था आसन्। वेदस्य गूढार्थत्वात्। तान्येव पूर्वं शिक्षाप्रणाल्यां प्रवृत्तानि पश्चाद्भृगुणा तदाशयं ज्ञातवता मन्वाशयानुकूलं स्वीयविस्तृतव्याख्यानेन युतमिदं पद्यात्मकं धर्मशास्त्रं विरचितमिति प्राज्ञैरवसेयम् ॥५८॥

सं०–उन मनु जी ने इस धर्मशास्त्र को बना कर पहिले मुझ को ही विधि पूर्वक पढ़ाया फिर मुझ भृगु ने मरीच्यादि मुनि लोगों को ब्रह्मचर्य आश्रम के नियमानुकूल पढ़ाया ॥

अ०–(तु) फिर (असौ) उन मनु नामक ब्रह्मा जी ने (इदम्, शास्त्रम्) इस कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विधि निषेध को जताने वाले सूत्रादिरूप [किन्तु वर्त्तमान श्लोक रचनारूप नहीं] शास्त्र को (कृत्वा) मूल वेद का आशय लेकर बना के (आदितः) सब से पहिले (माम्, एव) मुझ को ही (विधिवत्) यज्ञोपवीतादि संस्कार करा के ब्रह्मचर्याश्रम के नियम पूर्वक (स्वयम्) आप ही गुरु हो कर (ग्राहयामास) तत्त्वार्थ जताने पूर्वक पढ़ाया (तु, अहम्) फिर मुझ भृगु ने (मुनीन्, मरीच्यादीन्) मननशील ब्रह्मचर्याश्रमस्थ मरीच्यादि महर्षियों को पढ़ाया वा उपदेश किया।

भा०–भृगुजी ने मनु जी के समय से पश्चात् मानवधर्मशास्त्र को पद्यरूप में बनाया। इसी कारण परोक्ष वाचक असौ पद से मनु का निर्देश किया है। इस श्लोक में अहम् पद से कोई टीकाकार मनु जी को ही लेते हैं। परन्तु इस धर्मशास्त्र के भृगुके कहे होने से यह ठीक नहीं है। सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्म नामक मनु जी ने वेद के अर्थ को ठीक २ शोच विचार के वेदार्थ के साथ सम्बन्ध सूत्ररूप प्राणियों का हिताहित जताने वाले संक्षिप्त वाक्यों का प्रचार किया था वैसा आशय वेद से सब कोई नहीं निकाल सकता था क्योंकि वेद का आशय अति गूढ था। वेही मनु जी कृत धर्मोपदेश के सूत्ररूप वाक्य धर्मशिक्षा में पहिले

प्रवृत्त किये गये । पीछे वेदाशय जानने वाले भृगु जी ने मनु जी के आशय के अनुकूल अपने विस्तृत व्याख्यान से युक्त यह श्लोकरूप धर्मशास्त्र बनाया ऐसा अनुमान से बोध होता है ॥ ५८ ॥

एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः ।
एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः॥५९॥

सं०—मनुराह—एष भृगुर्मुनिर्हि यत एतत्सर्वमखिलं शास्त्रतात्पर्यं मत्तोऽधिजगे ज्ञातवानतोऽयं भृगुर्व एतच्छास्त्रमशेषतः श्रावयिष्यति ॥

अ०—(एषः) प्रत्यक्षे वर्त्तमानः (मुनिः) मुनिनियमसेवी (हि) यस्मात् (एतत्, सर्वम्, अखिलम्) धर्मविषयकं न किमपि व्याख्यानं त्यक्तमिति सर्वपदाशयः। तदनुगामिनामर्थादीनामपि ग्रहणायाखिलशब्दप्रयोगः (एतत्) वेदमूलकं धर्माधर्मतात्पर्यम् (मत्तः) मनोः (अधिजगे) ज्ञातवान् । अधिपूर्वस्य गाङ्गतावित्यस्यायं प्रयोगो नत्विङः । अतएव ज्ञातृत्वात् (अयम्) प्रत्यक्षः (भृगुः) एतन्नामक ऋषिः (एतत्) (शास्त्रम्) विद्यादिरूपं शासनम् (वः) युष्मान् (श्रावयिष्यति) तेन सर्वं यूयं ज्ञास्यथ ॥

भा०—यद्यपि ग्रन्थनिर्माणकाले भृगोरेव सर्वं शास्त्ररूपं कथनमिदम् । तथापि सर्गारम्भाद्वेदमूलकं शास्त्रमिदमिति विज्ञापनाय भृगुणैव भूतपूर्वो मन्वादीनामितिहासः प्रदर्शितः । तथा च भृगोरेवेदमपि कथनम्—पूर्वमृषिभिः पृष्टेन मनुना समासतः सृष्टिप्रक्रियामुपक्रम्याग्रे प्रोक्तं भृगुरेव युष्मान् श्रावयिष्यति यतस्तेन सर्वं शास्त्रतात्पर्यं मत्तो विज्ञातमिति । यादृशं पद्यबद्धं शास्त्रमधु-

नोपलभ्यते तादृशमेव शास्त्रपदेनास्मिन्पद्ये विवक्षितं नास्ति किन्तु सूत्रादिरूपो विधिनिषेधपरो वाक्यकलापएव शास्त्रपदेन विवक्षितः पद्यबद्धस्य मनुकालानन्तरं जायमानत्वात्। अतः पूर्वं परं च सर्वं भृगोरेव कथनं मनोस्त्वितिहासो भृगुणैव शास्त्रस्य महत्त्ववेदमूलकत्वप्रदर्शनाय विज्ञापितः ॥ ५९ ॥

सं०—मनु जी कहते हैं कि ये भृगुमुनि जिस कारण इस सब शास्त्र के तात्पर्य को मुझ से जान चुके हैं इस कारण ये इस सब शास्त्र को तुम्हें सुनावेंगे ॥

अ०—(एषः) इन प्रत्यक्ष वर्त्तमान (मुनिः) मुनियों के नियम से रहने वाले भृगु ने (हि) जिस कारण (एतत्, सर्वम्, अखिलम्) जिस में धर्म विषयक पूरा विचार है तथा धर्मानुकूल अर्थ काम को भी कर्त्तव्य माना गया है ऐसे (एतत्) वेदमूलक समस्त धर्माधर्म सम्बन्धी तात्पर्य को (मत्तः) मुझ मनु से (अधिजगे) जाना है इस कारण ज्ञानवान् होने से (अयम्) ये (भृगुः) भृगु जी (एतत्, शास्त्रम्) विधि निषेधरूप सब शिक्षा (वः) तुम लोगों को (आवयिष्यति) सुनावेंगे जिस से तुम सब जान लोगे ॥

भा०—यद्यपि ग्रन्थ बनाते समय भृगु जी का ही यह शास्त्ररूप सब कथन है तथापि सृष्टि के आरम्भ से चला वेदमूलक यह धर्मोपदेश का शास्त्र है ऐसा जताने के लिये भृगु ने ही पहिले हो चुके मनु आदि का इतिहास दिखाया है। वैसे भृगु जी का ही यह भी कहना है कि—पहिले ऋषि लोगों ने मनु जी से पूछा तब मनु जी ने संक्षेप से सृष्टिप्रकरण सुना कर आगे कहा कि भृगु ही तुम लोगों को आगे सुना वेंगे क्योंकि उन्हों ने सब शास्त्र का तात्पर्य मुझ से जान लिया है। जैसा श्लोक बद्ध यह धर्मशास्त्र इस समय विद्यमान है वैसा ही शास्त्र पद का अर्थ इस श्लोक में लेना उचित नहीं है किन्तु मनुकृत सूत्रादिरूप विधि-निषेधपरक वाक्यसमुदाय ही शास्त्र पद से लेना अभीष्ट है क्योंकि मनु जी के समय से पश्चात् श्लोकरूप ग्रन्थ बनाया गया यह सिद्ध है। इस कारण यहां से पूर्व और आगे सब भृगु जी का ही बनाया ग्रन्थ है। और मनु जी का इतिहास तो भृगु जी ने ही इस शास्त्र का महत्त्व और वेदमूलकता दिखाने के लिये जताया है ॥ ५९ ॥

ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना भृगुः ।
तानब्रवीद्ऋषीन् सर्वान् प्रीतात्मा श्रूयतामिति६०

सं०—यथा तेन मनुनोक्तः स भृगुर्महर्षिस्तथा प्रीतात्मा संस्तदनन्तरं श्रूयतामिति सम्बोध्य तान्सर्वानृषीन्धर्ममब्रवीत् ॥

अ०—यथा धर्मतत्परेण सर्वोपकारबुद्ध्या (तेन, मनुना) (सः) (भृगुः, महर्षिः) (उक्तः) धर्ममुपदिष्टः (ततः) उपदेशग्रहणकालानन्तरम् (तथा) तथैव धर्मपरायणचेताः (प्रीतात्मा) धर्मेण प्रीतस्तृप्त आत्मान्तःकरणमस्य तादृशः सन् (श्रूयतामिति) सम्बोध्य (तान्, सर्वान्, ऋषीन्) धर्मम् (अब्रवीत्) वक्ष्यमाणं सर्वं कृत्स्नं भृगुणोपदिष्टम् ॥

भा०—एतत्कथनेन मनोर्भृगोश्चाप्तत्वं द्योत्यते । आप्ताश्च परावरज्ञाः साक्षात्कृतधर्माणः परोपकारप्रिया दयार्द्रचेतसो हन्त वयमेभ्यः कल्याणमार्गमनवबुध्यमानेभ्यः साधारणजनेभ्यो यथानिश्चयं सुखसाधनमुपदिशेम तद्इमेऽभीष्टकृत्यं जानाना हेयं हास्यन्त्यधिगन्तव्यं चाधिगमिष्यन्तीति तेषां चेतस्ययं भावः प्रतिक्षणं जागर्त्ति । यथा चाप्तेन मनुना भृगुरुपदिष्टस्तथैव परोपकारप्रियेण भृगुणाप्यन्येभ्य उपदिष्टम् । कालचक्रेणाप्तोपदेशपरम्परायाः सम्प्रत्यभावादन्धपरम्परायाः प्रवृत्तिः स्फुटतरा दृश्यते ॥ ६० ॥

सं०—जैसे धर्मपूर्वक उन मनु जी ने भृगुमहर्षि को धर्मोपदेश किया तदनन्तर वैसे ही धर्मानुकूल प्रसन्न चित्त भृगु ने सुनो ऐसा कह कर उन सब ऋषियों को धर्मोपदेश किया ॥

अ०—जैसे धर्म में तत्पर सर्वोपकारबुद्धि से (तेन, मनुना) उन मनु जी ने (भृगुः, महर्षिः, उक्तः) भृगुमहर्षि को धर्मोपदेश किया (ततः) उपदेश सुनने पश्चात

(तथा) वैसे ही धर्मपरायणचित्त वाले (प्रीतात्मा) धर्म के सेवन से संतुष्ट वा प्रसन्न है अन्तःकरण जिन का ऐसे भृगु ने (श्रूयतामिति) सुनिये ऐसा कह कर (तान्, सर्वान्,ऋषीन्) उन सब ऋषियों से (अब्रवीत्) इस शास्त्र में जताया सब धर्म-सम्बन्धी कृत्य कहा ॥

भा०-इस कथन से मनु जी और भृगु जी का आप्त होना जताया है। और आप्त वे ही कहे जाते हैं जो आगे पीछे के कर्त्तव्य को जानते हों। धर्म को जिनने साक्षात्कार जान लिया हो परोपकार में जिन की निष्ठा हो और दया से जिन का चित्त सदा कोमल रहता हो ऐसे आप्त धर्मात्मा सदा यही सोचा करते हैं कि हम कल्याण के मार्ग को न जानने वाले इन साधारण मनुष्यों के लिय अपने निश्चय के अनुसार सुखों के साधनों का उपदेश करें जिस से ये लोग अपने अभीष्ट कर्त्तव्य को जान कर छोड़ने योग्य को छोड़ सकेंगे और प्राप्त होने योग्य को प्राप्त करने का उपाय कर सकेंगे। उन आप्तों के चित्त में यह विचार प्रतिक्षण विद्यमान रहता है। जैसे आप्त मनु जी ने भृगु को उपदेश किया वैसे ही परोपकार प्रिय भृगु जी ने भी अन्य ऋषियों को धर्म का उपदेश किया। कालचक्र के लौटफेर से आप्तोपदेश परम्परा का सम्प्रति अभाव हो जाने से अन्यपरम्परा की प्रवृत्ति प्रसिद्ध ही दीखती है ॥७६॥

स्वायम्भुवस्यास्य मनोः षड्वंश्या मनवोऽपरे।
सृष्टवन्तःप्रजाःस्वाःस्वामहात्मानोमहौजसः७१

सं०-अस्य स्वायंभुवस्य मनोरपरे षड् वंश्या मनव आसन् ते महात्मानो महौजसः स्वाः स्वाः प्रजाः सृष्टवन्तः ॥

अ०-(अस्य) ब्रह्मनाम्नो मैथुनसृष्टेः पूर्वमेवोत्पन्नस्य धर्मशास्त्रप्रवर्त्तकस्य (स्वायम्भुवस्य) स्वयमेव सृष्टिकरणाय प्रवृत्तेन परमात्मना सृष्टस्य (मनोः) (अपरे) अन्ये (षट्) (वंश्याः) वंशे कुले पुत्रादिरूपेण भवा यद्वा तत्सदृशविद्यानुकूलप्रजापालनादि कर्मरूपान्वये तत्पराः (मनवः) सामान्यमनुनाम्ना प्रसिद्धाः

(महात्मानः) ते महानुभवकर्त्तारः (महौजसः) अतुलपराक्रमधारिणः (स्वाःस्वाःप्रजाः) (सृष्टवन्तः) ॥

भा०—यद्यप्येकस्मिन् ब्राह्मदिनसर्गे चतुर्दशमनवस्तदनुवर्त्तीनि चतुर्दशमन्वन्तराणि भवन्ति तथापि वर्त्तमानमन्वन्तरीयमिदं पद्यं प्रतिभाति तथासति भूतानामेव सप्तानामत्र निर्देशः कर्त्तुं युज्यते नतु भाविनां शास्त्रस्यानुभूतार्थद्योतनाय प्रवृत्तत्वात्। यद्देदं मानवं धर्मशास्त्रमेव भृगुमुनिनास्मिन् वैवस्वतमन्वन्तरे विरचितमेतदपि नासम्भवम्। एवं सति कल्पारम्भएव जातेन स्वायम्भुवमनुना यथा भृगुरुपदिष्टस्तथैव तेनेदं शास्त्रं निर्मितमिति कथं सम्बद्धं स्यात् ?। चतुरशीत्युत्तरद्विशतचतुर्युगीरूपमहता कालेन तयोः परिच्छेदात्कथं मनुभृग्वोः समानकालः स्यादिति यद्यपि साधारणरीत्या समाधातुं न शक्यते तथापि कथञ्चिद्योगशास्त्राश्रयेण समाधातुं शक्यते तद्यथा—"अत्रेदमाख्यानं श्रूयते—भगवतो जैगीषव्यस्य संस्कारसाक्षात्करणाद्दशसु महासर्गेषु जन्मपरिणामक्रममनुपश्यतो विवेकजं ज्ञानं प्रादुरभवत्। अथ भगवानावट्यस्तनुधरमुवाच—दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन त्वया नरकतिर्यग्गर्भसम्भवं दुःखं सम्पश्यता देवमनुष्येषु पुनःपुनरुत्पद्यमानेन सुखदुःखयोः किमधिकमुपलब्धमिति" योगदर्शनस्य विभूतिपादेऽष्टादशसूत्रस्योपरि व्यासभाष्यमिदम्। इत्यादिकथनेन स्फुटमवगम्यते यद्योगिनामसङ्ख्यानामपि पूर्वजन्मानुभूतविषयाणां सद्योऽनुभूतानामिवानायासेन स्मृतिरुत्तिष्ठते। तथासति भृगोरपि सर्गारम्भे स्वायम्भुवमनुतोऽधीतस्य पूर्णा स्मृतिरासीत्तयैवेदं शास्त्रं तेन निर्मितमित्यनुमातुं शक्यते। अथ-

वान्येनैव भृगुशिष्येण केनचिदिदं शास्त्रमस्मिन्नेव मन्वन्तरे विरचितमिति। अस्मिन् पक्षे भृगुप्रोक्तायामिति कथनेन मनोरनन्तरं सूत्रादिरूपं मानवं धर्मशास्त्रं कालप्रवाहेण कदाचिल्लुप्तप्रायं भृगुणा चाध्यापनादिना प्रचारितमित्याशयो न ग्राह्यः। भृगुणैवेदं रचितमिति पक्षे त्वेकमेवेदं पद्यमन्यकर्तृकमनुमेयम्। एवं सत्स्वपि बहुषु विकल्पेषु निर्णयस्य दुर्घटत्वादपि शास्त्रस्यास्य वेदानुयायित्वेन निष्पक्षधर्मप्रतिपादनेन च शिरोधार्यमेव प्रामाण्यमिति कृत्वा विरम्यते बहुना। मदनुमतौ तु भृगुप्रणीतं धर्मशास्त्रमिदमिति सिद्धान्तस्तदनुकूलं सर्वदा समाधानं यथोचितं कृतं यथावसरं करिष्यामि च विशिष्टं च यथावसरं वक्ष्यामि ॥६१॥

सं०-इन स्वायम्भुव मनु के वंश में छः मनु और हुए उन बड़े विचारशील वा बड़े पराक्रमी मनुओं ने भी अपनी २ प्रजा उत्पन्न की वा समय २ आप राजा हो अपनी २ प्रजा बनाया ॥

अ०-(अस्य) मैथुनसृष्टि से पहिले उत्पन्न हुए धर्मशास्त्र के प्रवर्त्तक (स्वायम्भुवस्य) स्वयमेव सृष्टि करने को प्रकट वा प्रवृत्त हुए परमात्मा ने उत्पन्न किये इन ब्रह्मा नामक (मनोः) मनु के (वंश्याः) कुल में पुत्रादिरूप से हुए अथवा स्वायम्भुव मनु के तुल्य विद्यानुकूल प्रजापालनादि कर्मों में प्रवृत्त होने से विद्या परम्परा के एक कुल में हुए (अपरे) अन्य (षट्) छः (मनवः) सामान्य मनु नाम से प्रसिद्ध (महात्मानः) बड़े २ अनुभव वा विचारों की जिन में शक्ति हो ऐसे (महौजसः) अतुल पराक्रमी हुए उन्हों ने अपने २ समय में (स्वाः, स्वाः) अपनी २ (प्रजाः) प्रजा (सृष्टवन्तः) बनायी वा नियतकी ॥

भा०-यद्यपि एक ब्राह्म दिन की सृष्टि में चौदह मनु और उन के अनुकूल चौदह मन्वन्तर होते हैं। तथापि यह श्लोक किसी वर्त्तमान मन्वन्तर में हुए पुरुष का बनाया प्रतीत होता है। ऐसा हो तभी यह कह सकते हैं कि बीत चुके छः वा वर्त्तमान सातवें मन्वन्तर का निर्देश करना युक्त समझा गया भविष्यत् में आने वालों का नहीं क्योंकि अनुभव में आये धर्मसम्बन्धी अंशों को

सूचना ॥

१—मेरे यहां एक संस्कृत कोश (डिक्शनरी) आज कल छपरहा है । जिस का नाम " आयुर्वेदशब्दार्णव " है । इस में प्रायः सभी शब्द आयुर्वेद सम्बन्धी अकारादिक्रम से लिखे गये हैं । शब्द के आगे लिङ्गों के संकेतार्थ स्त्री. पु. न. लिख कर उस शब्द के संस्कृत पर्यायवाची शब्द तथा जिन २ वस्तुओं का वाचक वह शब्द आता है उन को पहिले पृथक् २ संस्कृत में लिख कर पश्चात् भाषा का नाम वा कहीं २ उर्दू फारसी का नाम भी लिखा है । अकारादिक्रम से संस्कृत शब्दों का भाषा में अर्थ जानने के लिये यह कोश सभी को उपयोगी होगा । अनुमान है कि तीन महिने में यह पुस्तक छप जायगा । इस का मूल्य ठीक २ सौ छप जाने पर निश्चय होगा कि लागत के अनुसार क्या मूल्य रक्खा जाय । परन्तु अभी अपना ठीक २ पता लिख कर भेजें और ग्राहक बनें गे उन सब महाशयों को छपकर तयार होते ही एक रु० १) में दिया जायगा । अभी हम किसी से अगाऊ मूल्य लेना नहीं चाहते केवल जिन महशयों को यह कोश लेना हो वे अपना २ ठीक २ नाम पता लिख भेजें उन का नाम ग्राहकश्रेणी में लिख लिया जाय परन्तु यह अवश्य स्मरण रक्खें कि छपकर तयार होते ही वेल्यूपेबल पारसल उन के नाम पुस्तक आवेगा और डाकव्यय सहित १।) उन को देना होगा ॥

२—अष्टाध्यायी पाणिनीय व्याकरण की प्रथमावृत्ति भाषार्थ सहित पुस्तक बहुत शीघ्र छपने वाला है । यह पुस्तक बहुत उत्तम बढ़ का होगा घर बैठे ही लोग अष्टाध्यायी के मूलसूत्रों का अर्थ कण्ठस्थ कर सकें गे । जिन महाशयों को पाणिनीय अष्टाध्यायी प्रथमावृत्ति लेना हो कृपा कर ग्राहक होने की सूचना करें छपकर तयार होते ही उन के नाम वे० पे० द्वारा भेजी जायगी । यद्यपि अष्टाध्यायी का मूल्य भी छपने पर ग्राहक होने वालों के लिये कुछ अधिक अवश्य होगा । तथापि जो अभी से अपना नाम लिखा देंगे उन को १) में मिलेगा अर्थात् डाकव्यय सहित १।) लगेगा । जिन महाशयों को अष्टाध्यायी भाषावृत्ति के ग्राहक होना स्वीकार हो वे ग्राहक बनने की सूचना देवें ।

३—यद्यपि धन की आमद खर्च करनारूप वैश्यवृत्ति में हमारी अधिक रुचि नहीं क्योंकि ब्राह्मणपन के कामों में उस से बाधा होती है तथापि विद्या-सम्बन्धी जो २ काम करना चाहते हैं वह समय के प्रभावानुसार अब धन के विना ठीक नहीं चलता इस लिये परवश हो कर धनागमनक अपेक्षा वा उस के

लिये उपाय करने पड़ते हैं। धन की आज कल कुछ तंगी है इस लिये हम कुछ पुस्तकों का मूल्य तीन मास के लिये कम करते हैं। जिन के समीप धन का संकोच रहता है उन को ऐसे उत्तम पुस्तक ले सकने का अच्छा अवसर है जिन की इच्छा हो मँगावें। [redacted]कठ प्रश्न मुण्डक माण्डूक्य तैत्तिरीय ये सात उपनिषद् सं[redacted]षा टीका हित बसहु उत्तम छपे हैं जिन की प्रशंसा सर्वत्र है। पहिले इन का मूल्य कुछ घटा कर ३॥) किया था पर अब ता० १ फरवरी १९५ से ३ मास तक २॥) में दिये जांय गे। आर्यसिद्धान्त पहिले पांच भाग ६० अङ्कों के ३॥) मूल्य था सोभी २॥) मिले गा। मनुस्मृति की भूमिका जिस को देखने से सब शंकाओं की निवृत्ति और सब सिद्धान्त का ज्ञान होता है १॥।) से अब १।) में मिलेगा। तथा गणरत्नमहोदधि पुस्तक संस्कृत व्याकरण पढ़ने पढ़ाने वालों के लिये अधिक उपयोगी है जिस में पाणिनीय गणपाठ की अच्छी व्याख्या की गयी है यह पुस्तक केवल संस्कृत में है भाषा इस में कुछ नहीं पहिले इस का मूल्य २) था अब तीन मास तक १) में मिलेगा। इस समय जो लोग इन पुस्तकों के लेने में भूल करें गे उन को पीछे पूरा २ दाम देकर लेने पड़ें गे।

विशेष सूचना ॥

मानवधर्ममीमांसाभाष्य के ग्राहकों को विश्वास रखना चाहिये कि मेरा शरीर बना रहा तो यह काम अवश्य पूरा होगा और यथाशक्ति अच्छा ही किया जायगा। और सर्वसज्जनों को यह भी सोचना चाहिये कि जिस काम के जो २ साधन आवश्यक अपेक्षित होते हैं उन के न होने पर वह काम ठीक २ चलना सम्भव नहीं होता। यही बात यहां है कि मेरे पास वे सब साधन ठीक नहीं हैं जिन से मैं नियमानुसार काम चला सकूं और साम्प्रत में सब साधनों का साधन धन है उस के होने पर प्रायः सभी सहायकारी साधन संचित हो जाते हैं उस का तो यहां पूरा अभाव है। तथापि मैं अपनी शक्ति भर साधन संचित कर शीघ्र ही मनुभाष्यादि को पूरा करने की इच्छा रखता हूं। अर्थात् ग्राहक लोग देर को देख कर घबराया न करें। यथासम्भव अगला अंक और भी शीघ्र निकाला जायगा। आर्यसिद्धान्त ६ भाग के ९।१० अंक भी तयार हो हैं एक सप्ताह में वह भी सब के पास पहुंचेगा। आजकल मुझे कुछ रोग कर खड़ा हुआ है। उपाय करता हूं सम्भव है कि दब जायगा ॥

ह०—भीमसेन शर्मा

॥ ओ३म् ॥

मानवधर्मशास्त्रम् ॥

लोकोपकारमनीषया भीमसेनशर्म्मकृतमानवधर्ममीमां-
साभिधव्याख्योपेतम् ॥
संस्कृतभाषया लोकभाषया च व्याख्यातम् ॥

२ भागे } ॥ मासिकपत्रम् ॥ { ६—७ खण्डौ

सज्जनानां साहाय्येन स्वीयसरस्वतीयन्त्रालये
तुलसीराम स्वामिनः प्रबन्धेन
मुद्रापयित्वा प्रकाशितम् ॥

प्रयाग

६ अगस्त, सन् १८९५ ईस्वी संवत् १९५२ भाद्र

इस की रजिष्टरी कराई गयी है किसी को छापने का अधिकार नहीं ॥

वार्षिक मूल्य २)

प्रथमवार १५०० मूल्य प्रति खण्ड ≡)॥

मूल्यप्राप्तिस्वीकार ॥

५५० पं० महादेवशर्मा मं० आ० स० लोहाघाट २॥)
५९१ हाईनेस श्री महाराजादन्ता जी मारोट २)
८६ बा० वलभद्रसिंहवर्मा वरगांवा २॥)
७७ डाक्टरइन्द्रमणि जी लखनऊ २)
५९३ बा० चुन्नीलाल जी दारजिलिंग २)
१३२ बा० हीरालाल जी वांदीकुई २)
५९७ पं० हरिशंकरशर्मा नगीना २)
५९९ बा० प्रसिद्धनारायण जी वकील सैदपुर जिला गाजीपुर २॥)
५७४ श्री० रामलगनसिंह सिहोरा =)
५३६ बा० राधाकृष्णमुनीम सैयां २॥)
५९८ बा० जवाहिरसिंह जी गिलगित ५)
५०९ बा० महावीरप्रसाद मुजफ्फरपुर २)
५५६ बा० भवानीदास साह नैनीताल २॥)
२१८ बा० रमादत्त जी शर्मा चकराता ४)
४२० पं० शालिग्रामवाजपेयी रायगढ़ २)
४३३ बा० जगदेववहादुर रसरा २)
७६ बा० तेलूमल जालन्धर २)
३१८ बा० भगवन्तसिंह महोबा २)
२७९ पं० गंगाप्रसाद वैद्य दुवेपुर २)
५९५ बा० काशीराम जी पेशावर २)
६०६ बा० विहारीसिंहवर्मा शाहगढ़ २=)
६०० श्री० नीच्छाभाईशर्मा तरसड़ामां० २)
६०९ पं० कोटूमल मंत्री सैंडमेन २)
१०३ पं० रामदयाल शर्मा कामठी २)
६१० श्री० गंगाराम तालग्राम १)
६१२ बा० सत्याचरण राय कलकत्ता
२६३ पं०हरगोविन्दगिरजाशंकरवड़ोदा
१४७ श्री० चौधरीअनूपसिंह जी रईस नहटौर
६१५ श्री० तेजसिंहवर्मा वांहपुर बुलन्दश०
६१६ श्री० गंगाराम तालग्राम वास्ते लक्ष्मणदास विद्यार्थी तिर्वा १
६१७ पं० ज्वालादत्त धर्मपुर मार्फत पं० हरदयालशर्मा फ़रुखावाद २
६१९ श्री० वलदेवसिंह जलालावाद २
६१३ बा० विहारीलालअमापुर मा० चिन्तामणि शर्मा मोहनपुर २
६१८ पं० रमादत्त त्रिपाठी नैनीताल २
३६५ बाबू तिलकधारी लाल रांची २
२३१ पं० दीक्षितलक्ष्मीनारायण जी शरिश्तेदार भिंड १॥)
२७७ श्री० रामकृष्णभट्ट मुंगेली २
३७४ अनन्तराम जी शर्मा अलमोड़ा २
६२१ प्यारेलाल नैनीताल २)
३२९ बाबू गिरधारीलाल गढ़ीदोवा २)
६२२ लैस नायकसाहबा वानो २)
१३७ श्री० शिवशंकरसहाय जलेसर २)
२३३ बा० काशीरामवर्मा वांदा २)
५०८ बा० कुंदनलाल जी देहली २)
६२४ बा० किदारनाथ मंडाले २)
४६९ ला० प्रभूलाल यादवलाल झिंद २)
६२५ पं० गौरीशंकर तेवारी ठठिया २)

ग्राहक महाशय पत्र लिखा करें तो छपा हुवा नम्बर नाम से पूर्व लिख दें ॥

अ०—(मनुना, यः, कश्चित्कस्यचित्, धर्मः, परिकीर्त्तितः) ब्राह्मण से लेकर अन्त्यजपर्यन्त जिस किसी मनुष्यमात्र का जो कुछ सामान्य विशेष धर्म मनु जी ने कहा है (सः, वेदे सर्वोऽभिहितः) वह सब मूलरूप से वेद में परमात्मा ने कहा है क्योंकि (सर्वज्ञानमयो हि सः) वह वेद सब ज्ञानस्वरूप वा ज्ञान का भण्डार ही है। जैसे जिस कूप वा तालाब में ऊपर तक जलभरा हो उस को जलमय कहें वा जल का भण्डार मानें वैसे वेद भी ज्ञानमय वा ज्ञान का समुद्र है सृष्टि के आरम्भ से अब तक जिस को जो ज्ञान मिला वह सब वेद से ही आया है। ऐसा अन्य कोई पुस्तक आजतक जगत् में नहीं हुआ जिस में केवल शुद्ध ज्ञान ही भरा हो किन्तु अन्य मनुष्यरचित पुस्तकों में न्यूनाधिक भाव से ज्ञान अज्ञान दोनों रहते हैं। और (सर्वज्ञानमयः) इस पद को मनु का विशेषण मानें तो वेद से प्राप्त हुए सब विद्यासम्बन्धी ज्ञान की अधिकता के साथ विद्यमान मनु सर्वज्ञानमय हैं। जैसे धर्म की अधिकता से मनुष्य धर्ममूर्त्ति वा धर्मावतार धर्मस्वरूप गौणभाव से कहा वा माना जाता वैसे यहां भी मनु को सर्वज्ञानस्वरूप गौणभाव से कहा जानो ॥

भा०—जो मनुष्य जिस व्याख्यान करने योग्य पुस्तक का गूढाशय ठीक २ जानता है वही उस का प्रामाणिक व्याख्यान वा भाष्य कर सकता है। सृष्टि के आरम्भ से आजतक वेद का जैसा वा जितना गूढाशय मनुजी ने जाना था वैसा वा उतना अन्य किसी ने नहीं जाना, इस कारण मनुजी का किया स्मृतिरूप वेद का व्याख्यान सब से अधिक सब का हितकारी जानो। जैसे वृक्ष के बीज में मूल स्कन्ध शाखा पत्ते फूल और फलादि के सूक्ष्मरूप पहिले ही से विद्यमान रहते हैं उन का अनुभव साधारण पुरुष नहीं कर सकता वैसे ही सब विद्या और सब धर्मैकदेशों का मूल बीजरूप वेद है इस लिये सब का मूलकारण कहा जाता है। और मनु से अन्य कोई वैसे धर्मबीज वेद से धर्म का व्याख्यान करने योग्य नहीं हुआ। इसी कारण उपनिषदादिग्रन्थों में भी धर्म विषय में मनु की ही प्रशंसा सर्वोपरि है कि "जो कुछ मनु ने कहा है औषधों का भी औषध है" धर्म विषय में सर्वोपकार दृष्टि से जो मनु ने कहा है वह सब वेदमूलक है ऐसा मान कर वेदानुयायी जनों को परमादर के साथ स्वीकार करना चाहिये यह सूचित करते हुए भृगु जी का आशय जानो ॥ ७ ॥

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा ॥
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै॥८॥

अ०—विद्वान् स्वस्य हिताहिते जानानः पुरुषो ब्राह्मणादिर्ज्ञानचक्षुषा ज्ञानमेव चक्षुः सदसतोर्दर्शकं विज्ञापकं तेन चक्षुर्भ्यां

मपि दर्शकेन मानसज्ञानेनेदं सर्वं शास्त्रजातं वेदाशयबोधनाय प्रवृत्तं षडङ्गोपाङ्गस्मृत्यादिनामकमृषिप्रणीतं निखिलं समवेक्ष्य निखिलं समवेक्षणं सामान्यविशेषरूपतया पर्यालोचनं कृत्वा श्रुतिप्रामाण्यतः सर्वस्य निखिलपर्यालोचनेन श्रुतेः प्रामाण्यं हृदि व्यवस्थाप्य ततः स्वधर्मे स्वस्यैव कर्त्तव्ये निविशेत वै तत्परः स्यादेव॥

भा०—अत्र सर्वमिति पदं सामान्यशास्त्रबोधकं निखिलमिति च समवेक्षणक्रियाविशेषणं तेन पौनरुक्त्यं नैव मन्तव्यम्। सर्वपर्यालोचनश्रुतिप्रामाण्ययोश्चात्र हेतुहेतुमद्भावो बोध्यः। यतः सर्वाण्येवार्षशास्त्राणि वेदस्य गूढाशयबोधनाय निर्मितानि तेषामध्ययनेन सम्यक्पर्यालोचनेन च वेदतात्पर्यं सम्यगवबुध्यते तथासत्येव वेदविषयकाः सर्वे संशया निवर्त्तन्ते वेदएव सर्वापेक्षयाधिकतरः प्रमाणीभूतइत्यध्यवस्यति। एवं कृत्वा स्वस्यैव धर्मं सेवेत नान्यस्य। योह्यन्यस्य धर्मः सोऽप्यन्यस्याधर्मः सम्पद्यते। यथा गृहस्थस्य यो धर्म ऋतौ भार्य्यागमनादिरूपः सएव ब्रह्मचर्याश्रमस्थस्याधर्मो यथा वा शूद्रस्य सेवा धर्मो ब्राह्मणस्य सोऽप्यधर्मएवास्ति तस्मात्स्वस्यैव धर्मे तत्परेण भाव्यम् ॥ ८ ॥

भाषार्थः—(तु) और (विद्वान्) अपने हितअहित को जानता हुआ ब्राह्मणादिपुरुष (ज्ञानचक्षुषा) सत्य असत्य का दिखाने वा जताने वाला ज्ञानही जो चक्षु उस आंखों से भी दिखाने वाले भीतरी मानस ज्ञानचक्षु से (इदम्) इस (सर्वम्) सब वेदाशय के जताने को प्रवृत्त व्याकरणादि वेदाङ्गमीमांसादि उपाङ्ग ब्राह्मण सूत्र वा स्मृत्यादि ऋषिप्रणीत शास्त्रमात्र का (निखिलम्, समवेक्ष्य) सामान्य विशेष रूप से सब पर्यालोचन करके (श्रुतिप्रामाण्यतः) सब शास्त्रों के देखने जानने से वेद का सत्य होना हृदय में निश्चय कर तत्पश्चात् (स्वधर्मे) अपने ही कर्त्तव्य में (निविशेत वै) अवश्य तत्पर हो॥

भा०—इस श्लोक में सर्वशब्द सामान्यशास्त्र का बोधक और निखिलशब्द समवेक्षण क्रिया का विशेषण है इस कारण भिन्न २ अर्थ के साथ सम्बन्ध होने से पुनरुक्ति दोष नहीं मानना चाहिये। तथा सब शास्त्रों का पर्यालोचन वेद को सत्य समझने में हेतु है क्योंकि आर्ष सबशास्त्र वेद का गूढ आशय जताने के लिये ही बनाये हैं उन के पढ़ने और सम्यक् विचारने समझने से वेद का

तात्पर्य सम्यक् समझ में आजाता है। ऐसा होने पर ही मनुष्य वेद को सत्य समझता और वेदविषयक उस के सब सन्देह निवृत्त हो जाते हैं और वेद ही सब से अधिक प्रमाण करने योग्य है ऐसा निश्चय करलेता है ॥ इस प्रकार वेद से सत्यासत्य का निश्चय कर के अपने कर्त्तव्य धर्म का सेवन करे अन्य के का नहीं क्योंकि जो अन्य का धर्म है वह भी अन्य का अधर्म हो जाता है। जैसे ऋतु समय में अपनी स्त्री के समीप जाना आदिरूप गृहस्थ का धर्म है वही ब्रह्मचारी को अधर्म होता है अथवा जैसे सेवा करना शूद्र का धर्म है वह भी ब्राह्मण का अधर्म होता है। जिस को जो ठीक २ कर सकता है वही उस का धर्म है वा जिस का जो धर्म है उसी को वह ठीक कर सकता है और जिस की कुल परम्परा से जो कर्त्तव्य होता रहे वही उस का धर्म होता और उसी को वह ठीक कर भी सकता है। जैसे नाई का कर्त्तव्य बाल बनाना आदि, धोबी का वस्त्र धोना आदि है वही उस का धर्म है वैसे वेदादि का पढ़ना पढ़ाना प्रचार करना आदि ब्राह्मण का कर्त्तव्य धर्म है। अपने धर्म को छोड़ के अन्य का सेवन करने से ठीक २ न हो सकने सेवा विरुद्ध होने की अधिक सम्भावना से शुभफल से वञ्चित रहना और उलटे दुःख फल को प्राप्त होना दोनों सम्भव हैं इस कारण अपने ही धर्म में तत्पर होना उत्तम और आवश्यक है ॥ ८ ॥

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः।
इह कीर्त्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥९॥

अ०—किमर्थं स्वधर्मे निविशेत तदुच्यते—मानवः श्रुतिस्मृतिषु विहितं स्वस्य धर्ममनुतिष्ठन् हि सेवमानएव इह वर्त्तमाने जन्मनि कीर्त्तिं प्रतिष्ठां पूजां सुखहेतून्पदार्थानवाप्नोति प्रेत्य मृत्वा चानुत्तमं नास्त्युत्तमं यस्मादन्यत्तदनुत्तमं सर्वदुःखविमुक्तिरूपं मुक्तिसुखमवाप्नोति ॥

भा०—पूर्वोक्तस्य विधिवाक्यस्यार्थवादोऽयम्। स्मृतिपदेन चात्र वेदादितरत्सर्वमार्षं शास्त्रं ग्राह्यम्। वेदेषु स्मृतिषु चैव विहितं धर्मं सेवमान इहामुत्र च कल्याणमाप्नोति न च वेदाशयविरुद्धस्मृत्याभासादिग्रन्थेषु विहितं धर्माभासं सेवमानः कीर्त्तिं सुखं च प्राप्तुमर्हति। तथा श्रुतिस्मृतिषु प्रतिपादितं धर्ममनुति-

ष्ठन्नेवेष्टमवाप्नोति नतु जानन्नेवेति हीतिपदेन बोध्यते। तस्मात्कारणात्श्रुतिस्मृतिषूक्तं स्वस्य धर्ममिष्टसुखप्राप्तये सेवेतैवेति पूर्वोक्तविधिवाक्येन सार्द्धमन्वयो बोध्यः ॥ ९ ॥

भाषार्थः-अपने धर्म में क्यों तत्पर हो सो कहते हैं-(मानवः) मनुष्य (श्रुतिस्मृत्युदितम्) वेद और धर्मशास्त्र में कहे (धर्मम्) अपने धर्म का (अनुतिष्ठन् हि) सेवन करता हुआ ही (इह) इस वर्त्तमान जन्म वा शरीर में (कीर्त्तिम्) प्रशंसा प्रतिष्ठा पूजा और सुख के हेतु पदार्थों को (अवाप्नोति) प्राप्त होता (च) और (प्रेत्य) मरणानन्तर (अनुत्तमम्-सुखम्) सर्वोत्तम सुख को प्राप्त होता है ॥

भा०-पूर्व श्लोक में कहे विधिवाक्य का यह अर्थवाद है। और यहां स्मृति पद कर के वेद से भिन्न सब आर्षग्रन्थों का ग्रहण करना चाहिये। वेदों और स्मृतियों में ही कहे धर्म का सेवन करता हुआ पुरुष इस लोक वा परलोक में कल्याण को प्राप्त होता है किन्तु वेद के आशय से विरुद्ध स्मृत्याभास आदि ग्रन्थों में कहे धर्माभास का सेवन करने वाला कीर्त्ति वा सुख को प्राप्त नहीं होता तथा श्रुतिस्मृति में कहे धर्म का अनुष्ठान करता हुआ ही इष्ट सुख को प्राप्त होता है किन्तु धर्म को जाननेमात्र से नहीं यह «हि» पद से जताया है। इस कारण इष्ट सुख प्राप्ति के लिये वेद स्मृति में कहे अपने धर्म का सेवन ही करना चाहिये इस प्रकार पूर्वोक्त विधिवाक्य के साथ सम्बन्ध समझो ॥ ९ ॥

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेषु मीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ॥

अ०-श्रुतिर्वेदो विज्ञेयो धर्मस्य कर्त्तव्यस्य ज्ञापनहेतु मीमांसादिशास्त्रं वै स्मृतिर्विज्ञेया। ते श्रुतिस्मृती सर्वार्थेषु सुखसुखहेतुदुःखदुःखहेतुषु सर्वेषु "अर्थस्तु सुखं सुखहेतु, दुःखं दुःखहेतुश्च" इति वात्स्यायनभाष्यम्। मीमांस्ये प्रमाणनुग्राहकतर्केण विचारणीये किं सुखं किञ्च सुखाभासं कः सुखहेतुः किं दुःखं किञ्च दुःखाभासं को दुःखहेतुश्चेति प्रमाणैस्तर्केण च सह श्रुतिस्मृतिभ्यामेवावधार्यम्। यतस्ताभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामेव शैलान्नदीवद्धर्मो निर्बभौ प्रकाशं प्राप्तो निस्सृतइति यावत् ॥

भा०—नवमपद्ये श्रुतिस्मृतिप्रतिपादितधर्मसेवनादेवेष्टसिद्धिरुक्ता तत्र श्रुतिस्मृतिपदाभ्यां किं वाच्यं ग्राह्यम् ? श्रुतिस्तु वेद इति कथनेन जनश्रुतीनां व्यावृत्तिः क्रियते, धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिरित्यनेन धर्माभासस्य प्रतिपादिकाः स्मृत्याभासा निरस्यन्ते यदर्थं "या वेदबाह्याः स्मृतय" इत्यायुक्तम् । ते च श्रुतिस्मृती सर्वकर्त्तव्याकर्त्तव्यविचारावसरेषु तर्कानुमानैरवधार्ये श्रुतिस्मृत्यनुकूलः को धर्मः को धर्माभासः कश्चाधर्मः किंकार्यं किं वा त्याज्यमिति मीमांसनं च हेतुभिरवधारणमेव । अतएवोक्तं द्वादशाध्याये—" यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः " राघवानन्दं विहायान्यसर्वभाष्यकारानुमतौ "सर्वार्थेष्वमीमांस्ये" इति पाठः सच चिन्त्यएवास्ति यतो मीमांसाशास्त्रमेव हेतुभिः श्रौतधर्मपोषणाय प्रवृत्तमिति जानन्त्येव धीराः । यदा चायुक्तवचांसि धर्मशास्त्रादिषु कैश्चित्प्रक्षिप्तानि तदानींमालोचितं हेतुभिः खण्डनमेषां सम्भवतीति तदर्थममीमांस्ये इति पाठः कृतस्तैरेवेत्यनुमीयते तस्मा"त्ते सर्वार्थेषु मीमांस्ये"—अयमेव साधुतरः पाठः । यस्तर्केणानुसन्धत्तइति शास्त्रानुकूलश्च । यस्माच्छ्रुतिस्मृतिभ्यामेव कूपाज्जलमिव धर्मो निस्सरति तस्माद्धर्मजिज्ञासुभिर्धर्मलाभाय श्रुतिस्मृती एवोपास्ये यतः शास्त्रमपिकूपजलमिव दुर्हृदो दूषयेयुरिति सम्भाव्यते तस्मात्तत्परीक्ष्य स्वीकार्यम् । आप्तनाम्नाप्यनाप्तेन शास्त्राणि निर्मातुं शक्यन्ते तदर्थं मीमांसनमेव कार्यमित्याशयः॥ १० ॥

भाषार्थः—(श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः) श्रुतिशब्द से वेद का ग्रहण (तु) और (धर्मशास्त्रं वै स्मृतिः) धर्म की शिक्षा देने वाले शास्त्रों का स्मृति पद से ग्रहण जानो (ते) उन श्रुतिस्मृतियों की (सर्वार्थेषु) सुख वा सुख हेतु तथा दुःख वा दुःख हेतु कर्त्तव्याकर्त्तव्यों में (मीमांस्ये) मीमांसा करो अर्थात् प्रमाण तर्कों के साथ ध्यान दीन करके श्रुतिस्मृतियों से ही धर्माधर्म को जानना चाहिये (ताभ्यां, धर्मः,हि, निर्बभौ) क्योंकि उन से ही पर्वत से नदी के समान धर्म निकला है ॥

भा०—नवमें श्लोक में श्रुतिस्मृति में कहे धर्म के प्रतिपादन से ही इष्ट की

सिद्धि कही है वहां श्रुतिस्मृति पदों से किन २ का ग्रहण करना उचित है ? इस कारण श्रुति वेद है इस कथन से जनश्रुति नामक लौकिक कहावतों का यहां त्याग जताया और धर्मशास्त्र का नाम स्मृति जानो इस कथन से धर्माभास के प्रतिपादक स्मृत्याभास अनाप्तरचित ग्रन्थ त्याज्य हैं उन को स्मृति मत मानो यह जताया है। जिस के लिये "या वेदबाह्याः स्मृतयः" इत्यादि कथन १२ वें अध्याय में किया है। सब कर्त्तव्याकर्त्तव्यविचार के समय उन श्रुति स्मृतियों का तर्क और अनुमानादि द्वारा निश्चय करना चाहिये। अर्थात् वेद वा स्मृति के अनुकूल क्या धर्म है क्या अधर्म है और धर्माभास क्या है क्या करना वा क्या त्यागना चाहिये इत्यादि प्रकार कारणों से निश्चय करना ही मीमांसा कहाती है। इसीलिये बारहवें अध्याय में कहा है कि "जो तर्क के साथ अनुसन्धान करता है वही धर्म को जानता है अन्य नहीं" एक राघवानन्द को छोड़ के मनु के अन्य सब भाष्यकारों की सम्मति में-"अमीमांस्ये" पाठ है सो ठीक नहीं क्योंकि मीमांसाशास्त्र ही कारणों वा तर्कोंद्वारा वैदिकधर्म की पुष्टि के लिये प्रवृत्त हुआ यह सब विद्वान् लोगों से छिपा नहीं है। जब किन्हीं लोगों ने अयुक्त वचन धर्मशास्त्रादि में मिलाये तभी देखा कि इन का प्रमाण तर्कों से खण्डन हो जायगा इसलिये उन्हीं लोगों ने "अमीमांस्ये" ऐसा पाठ बनाया। इसलिये "ते सर्वार्थेषु मीमांस्ये" यही पाठ ठीक है राघवानन्द भाष्यकार ने भी ऐसा ही माना है और "जो तर्क से शास्त्र का अनुसन्धान करता है वह धर्म को जानता है" इस वक्ष्यमाण कथन के अनुसार भी यही पाठ होना चाहिये। कुए से जल निकालने के समान जिस कारण श्रुतिस्मृति से ही धर्म निकला और निकलता है इसलिये धर्म के जिज्ञासुओं को उचित है कि धर्मप्राप्ति के लिये श्रुति स्मृतियों का शरण लें। जिस कारण कुए के जल के तुल्य शास्त्र को भी दुष्ट लोग दूषित वा कलङ्कित करें यह सम्भव है इस कारण उस को परीक्षा करके स्वीकरना चाहिये। और आप्तों के नाम से अनाप्त पुरुष भी शास्त्र बना सकते वा आप्तकृत शास्त्र में मिला सकते हैं इस कारण प्रत्येक विषय में उस की मीमांसा करना ही आवश्यक है ॥१०॥

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः११

अ०-यः पुरुषो हेतुशास्त्राश्रयान्नास्तिककृततर्कशास्त्रांशावलम्बात्ते धर्मस्य मूले श्रुतिस्मृती अवमन्येत तिरस्कुर्यात्खण्डयेत्स श्रौतस्मार्त्तधर्मपरायणैः साधुभिर्विद्वद्भिः शिष्टकार्येभ्यः बहिः प-

तितः कार्यः । यतः स वेदनिन्दकत्वादास्तिकेषु प्रविष्टो नास्तिको धर्मविश्वासहीनोऽस्ति ॥

भा०—प्रमाणतर्कादिभिः श्रौतः स्मार्त्तश्च धर्मः पोषणीय एतदर्थं मीमांसनमुक्तं नतु श्रौतस्मार्त्तधर्मनिराकरणायेति । यस्तु नास्तिकयुक्तीरादाय श्रुतिस्मृत्योः खण्डनतत्परः स्यात् स शिष्टसमुदायान्निरसारणीयः । आस्तिकेष्वपि केचित्प्रच्छन्ननास्तिका भवन्ति ये सर्वप्रमाणसिद्धमपि वैदिकसिद्धान्तं कुतर्कधूलिप्रक्षेपणेनाभिभवन्ति तेषामेव निस्सारणायायमादेशो नतु पूर्वतएव निस्सृतानां नास्तिकानाम् । वेदनिन्दकश्च वेदप्रतिपाद्यं ब्रह्म जन्मान्तरेषु भोग्यं परोक्षं कर्मफलं च तिरस्करिष्यत्येव तस्मादेव नास्तिकत्वं तस्य । यस्तु परोक्षं सर्वं वेदविषयं मन्येत तथाचरेच्च नासौ नाममात्रेण वेदमस्वीकुर्वाणो नास्तिको भवितुमर्हति ॥११॥

भाषार्थः—(यः) जो पुरुष (हेतुशास्त्राश्रयात्) नास्तिककृत तर्कशास्त्र की युक्तियों को लेकर (मूले) धर्म के मूल (ते) उन श्रुतिस्मृतियों का (अवमन्येत) तिरस्कार वा खण्डन करे (सः) वह (साधुभिः) श्रौतस्मार्त्त धर्मपरायण श्रेष्ठ विद्वान् पुरुषों को वेद के पठन पाठनादि सत्कर्मों से (बहिः, कार्यः) अलग पतित कर देना चाहिये क्योंकि (वेदनिन्दकः, नास्तिकः) वेद का निन्दक होने से धर्म के विश्वास से रहित आस्तिकों में प्रविष्ट नास्तिक है ॥

भा०—प्रमाण और तर्कादि से श्रौतस्मार्त्त धर्म की पुष्टि करनी चाहिये इस लिये पूर्व श्लोक में मीमांसा करने की आज्ञा है किन्तु श्रौतस्मार्त्त धर्म का अनादर करने के लिये नहीं । इस कारण जो पुरुष नास्तिकों की युक्ति लेकर श्रौतस्मार्त्त मन्तव्य के खण्डन में तत्पर हो उस को श्रेष्ठ द्विजों के समुदाय से निकाल देना चाहिये । आस्तिकों में भी कोई २ प्रच्छन्न—गुप्तनास्तिक मिले रहते हैं कि जो सब प्रमाण वा युक्तियों से सत्य सिद्ध ठहरे भी वैदिकसिद्धान्त को कुतर्क रूप धूलि डाल के दबाना चाहते हैं उन्हीं को निकालने के लिये यह आज्ञा है किन्तु पहिले से ही निकले प्रसिद्ध नास्तिकों के लिये नहीं । वेदनिन्दक पुरुष वेद से जानने योग्य और जन्मान्तरों में भोगने योग्य परोक्ष कर्मफल का भी तिरस्कार करे ही गा इसी कारण वह नास्तिक है । और जो वेद के सब परोक्षविषय को माने और वैसा आचरण भी करे वह यदि नाममात्र वेद को नहीं भी स्वीकार करे तो वेदनिन्दक वा नास्तिक नहीं कहावे गा ॥ ११ ॥

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥१२॥

अ०—षष्ठपद्ये यदुक्तं [शीलं च सदाचारान्तर्गतं बोध्यम्] तदेवानूद्यान्येषां तत्र सम्मतिं दर्शयति—वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्यात्मनः प्रियं च कृत्यं चतुर्विधमेतत्तारतम्येन धर्मस्य साक्षाल्लक्षणमन्येऽपि महर्षयः प्राहुः प्रवदन्ति । वेदपदेन तदध्ययनाध्यापनप्रचारास्तदुक्तकर्मानुष्ठानं च ग्राह्यम् । स्मृतिपदेन च स्मार्त्तो धर्मः । स्मृतिर्वेदमूलिका सदाचारः स्मृतिमूलकः स्वात्मप्रियं च सदाचारमूलकमादेयम् ॥

भा०—अत्र चत्वारि धर्मस्य साक्षाल्लक्षणानि तानि सर्वे महर्षिसम्मतानीति सूच्यते । तेषां वेदः सर्वेभ्य उत्कृष्टतमः स एव चोत्तमकोटिस्थैर्धर्मदर्शनाय चक्षुर्वत्स्वीकार्यः कुर्वन्ति वा यद्दोत्तमाश्च धर्मदर्शकं वेदमेव प्राधान्येनोरीकुर्वन्ति तथाचोक्तम्—वेदैः पश्यन्ति ब्राह्मणाः,, विदुरनीतौ । वेदादधस्तात्द्वितीया स्मृतिर्धर्मलक्षिका, लोकव्यवहारव्यवस्थापनाय क्षत्रियैराजपुरुषैः प्राधान्येन स्वीकार्या यतो राजधर्मव्यवस्थापि सर्वा स्मृत्याधीनैवास्ति । लोकव्यवहारव्यवस्थापनं धर्मशास्त्रस्य विषयइति वात्स्यायनः साच व्यवस्था क्षत्रियेण राज्ञैव सम्यक्कर्तुं शक्यतेऽतो द्वितीयविधजनसमुदायस्य क्षत्रियवर्णस्य स्मृतिः साक्षाद्धर्मलक्षणम् । इतिहासपुराणादिलक्षणलक्षितः सदाचारः साम्प्रतिकाप्तेषु दृष्टो वा तृतीयकक्षास्थवैश्यवर्णस्य चक्षुरिव साक्षाद्धर्मलक्षकः । तृतीयकोटावुत्तमाश्च जना यदि धर्मं जिज्ञासन्ते तदा तृतीयविधं धर्मलक्षणमितिहासादिस्थं सदाचारं प्रकृत्यैवाश्रयन्त्येवं सर्वत्रैव बोध्यम् । लज्जाशङ्काभयादिराहित्येन स्वस्यात्मनः कालत्रयेऽपि तोषजनकं कर्म चतुर्थकोटिस्थशूद्रसमुदायस्य साक्षाद्धर्मलक्षणम् ।

शूद्रेषु चोत्तमा यदि धर्ममनुतिष्ठासन्ति तदात्मनस्तोषकं कर्म स्वभावेनैवाश्रयन्ति । न च स्तेयपरदाराभिगमनमपि तद्वतानां तोषकरत्वात्तुरीयं धर्मलक्षणं स्यादिति शङ्कनीयम् । तेहि परेण क्रियमाणं स्वस्तेयं स्वदाराभिगमनं च दृष्ट्वा नैव तुष्यन्ति यच्च यथा स्वस्मै तथैव परस्मै तुष्टिदं तदेव तोषकरं यथाप्रियभाषणं तदेवात्मनः प्रियं मन्तव्यम् । अन्यश्चाशयः षष्ठपद्ये द्रष्टव्यः ॥१२॥

भाषार्थः—छठे श्लोक में जो कहा है [छठे में कहा शील यहां सदाचार के अन्तर्गत जानो] उसी का अनुवाद करके उस में अन्य महर्षियों की सम्मति दिखाते हैं—(वेदः, स्मृतिः, सदाचारः, स्वस्यात्मनः प्रियं च) १—वेद, २—स्मृति वा धर्मशास्त्र ऋषि महर्षि प्रणीत धर्म प्रतिपादक ग्रन्थ, ३—सदाचार इतिहासादि पुस्तकों में कहा वा वर्त्तमान सत्यप्रिय परोपकारशील महात्मा विद्वानों का आचरण, ४—अपने आत्मा को प्रिय सुख पहुंचाने वाला कर्म (एतत्, चतुर्विधम्, साक्षात्, धर्मस्य, लक्षणं, प्राहुः) न्यूनाधिक भाव से इस चतुर्विधकर्त्तव्य को धर्म का साक्षात् वा मुख्य लक्षण महर्षि लोग कहते हैं वा उन्हों ने कहा और माना है। इस श्लोक में वेदपद से वेद का पठनपाठन प्रचार और वेदोक्तधर्म कर्म का अनुष्ठान तथा स्मृतिपद से स्मार्त्तधर्म का ग्रहण करना चाहिये। तथा वेदमूलक स्मृति, स्मृतिमूलक सदाचार और सदाचार जिस का मूल हो ऐसा आत्मा को प्रियधर्म का लक्षण मानना चाहिये ॥

भा०—इस श्लोक में सर्वमहर्षि सम्मत धर्म के साक्षात् चार लक्षण जताये हैं। उन में वेद सब से उत्तम है उत्तम कोटिस्थ मनुष्यों को धर्म देखने वा जानने के लिये चक्षु के तुल्य वही वेद स्वीकार योग्य है वा उसी को स्वीकार करते हैं। अथवा जो उत्तम जन हैं वे धर्म दिखाने वाले वेद को मुख्य मानते हैं सो विदुरनीति में कहा भी है कि "ब्राह्मण लोग वेदरूप चक्षु से अच्छे बुरे को देखते हैं" वेद से नीचे द्वितीय स्मृति भी कर्त्तव्याकर्त्तव्य को जताती है। लोकव्यवहार की व्यवस्था करने के लिये क्षत्रिय राजपुरुष मुख्यकर स्मृति को ग्रहण करें क्योंकि सब प्रकार की राजधर्म व्यवस्था वा राजनीति स्मृति के ही आधीन है। प्रजा के व्यवहार की ठीक २ व्यवस्था करना धर्मशास्त्र का विषय वात्स्यायन ऋषि ने माना है सो वैसी व्यवस्था क्षत्रिय राजा ही ठीक २ कर सकता है इस कारण द्वितीय प्रकार के जन समुदाय क्षत्रिय वर्ण को स्मृति, धर्म का साक्षात् लक्षण मानना चाहिये। इतिहास पुराणादि के लक्षण के अनुकूल सदाचार वा तात्कालिक विद्यमान आप्तों में देखा शुद्धाचरण तृतीय कक्षा वैश्यवर्ण को चक्षु के तुल्य साक्षात् धर्म दिखाने वाला मानना चाहिये। तृतीय कोटि में उत्तम जन यदि धर्म

को जानना चाहते हैं तो तीसरे प्रकार के इतिहासादिस्थ सदाचार धर्म लक्षण का स्वभाव से ही सेवन करते हैं इसी प्रकार ब्राह्मणादि में भी जानो जैसी प्रकृति का मनुष्य होता है वैसा काम स्वयं ही करना चाहता है। तथा लज्जा शङ्का और भय छुड़ा के अपने आत्मा को तीनों काल में सन्तुष्ट करने वाला कर्म चतुर्थ कोटिस्थ शूद्र समुदाय के लिये साक्षात् धर्म का लक्षक है। शूद्रों में भी उत्तम जन यदि धर्म का सेवन करना चाहते हैं तब आत्मसन्तोष जनक कर्म का स्वभाव से ही आश्रय करते हैं। कोई कहे कि चोरी वा परस्त्रीगमन में तत्पर मनुष्यों को उसी से सन्तोष वा प्रसन्नता होती है इस कारण चोरी आदि भी चौथे धर्म लक्षण में क्यों नहीं आजाते तो उत्तर यह है कि चोर की कोई अन्य हम चोरी करे वा व्यभिचारी की स्त्री से कोई अन्य व्यभिचार करे तो उन चोर वा व्यभिचारियों को देख कर सन्तोष वा प्रसन्नता कदापि न होगी किन्तु दुःख ही होगा वैसे उन के करने से अन्यों को दुःख होता इस कारण वह धर्म में नहीं आ सकता। जो कर्म जैसे अन्य का किया अपने लिये वैसे ही अपना किया अन्य के लिये सुखकारी हो जैसे प्रियभाषण हम से कोई करे तो हम को अच्छा लगता वैसे अन्य से हम प्रिय बोलें तो उसे भी अच्छा लगता है इस से वह आत्मप्रिय धर्मलक्षण है। इस श्लोक का अन्य आशय छठे श्लोक में जानो ॥ १२ ॥

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥१३॥

अ०-कृषिवणिग्व्यापारराजभृतिप्रभृतिकर्मसम्पाद्या दृष्टसुखहेतवो धनादिपदार्था अर्थपदवाच्याः स्त्रीसम्भोगतदङ्गभूतगीतवादित्रपण्ययोषिन्नृत्यादीनि कामपदवाच्यानि तेष्वर्थकामेषु येऽसक्तास्तदर्जनरक्षणतज्जन्यसुखानुभवेष्वेवाहर्निशं येषां चेतो रमते ते तत्र सक्ता न सक्ता असक्तास्तेषामेव धर्मस्य ज्ञानं विधीयते तएव धर्मं जानन्ति ज्ञातुं वा शक्नुवन्ति तदर्थमेव च श्रुतिस्मृतिषु धर्मज्ञानं विधीयते। एतेन धर्मस्याधिकारिणः प्रदर्शिताः। धर्मं जिज्ञासमानानां श्रुतिर्वेदएव परमं प्रमाणं स्मृतेश्च वेदानुकूलतया प्रामाण्यम्। "वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ"-मनुः। "विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमान"मिति पूर्वमीमांसायाम्। तदनुसरता जाबालेनाप्युक्तम्-"श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीय-

सी। अविरोधे सदा कार्यं स्मार्तं वैदिकवत्सता ॥" एतदेव च प्रमाणं परमं श्रुतिरिति वदता मनुनाङ्गीकृतम्। ये धर्मं जिज्ञासन्ते तैर्धर्मदर्शकस्य चक्षुषोरिव वेदस्यैव परमं प्रामाण्यमभ्युपेयमिति ॥

भा०—ये धनाद्यर्जनरक्षणं स्त्रीसम्बन्धजन्यं कामसुखानुभवमेव वा स्वस्येष्टतमं कर्त्तव्यं मन्यन्ते तेऽहर्निशं यथाकथाचं तदेवोपासन्ते तत्र च सक्तं बद्धं च तच्चित्तं धर्मपथि गन्तुमशक्तमेव भवति। ते च राजादिश्रीमद्भ्यो धनाद्यवाप्तये तदनुगामितयाऽधर्मं सेवन्तेऽसत्यं च वदन्त्येव युवतिसम्पर्कजन्यसुखानुभवाय वा शतशोऽनर्थानुपासन्ते नच तादृशो धर्मज्ञानस्याधिकारिणो भवितुमर्हन्ति। प्रत्यक्षं च दृश्यते क्रयविक्रयादिपण्ये कृष्यादौ च लग्ना वेदादीनामध्ययनाध्यापनयोर्नैव रमन्ते। यदि तादृशेषु कोऽपि कथमपि कदापि गौणभावेन धर्मं सेवेत तथाप्यप्राधान्याद्धर्मस्य तेषां धर्माधिकारित्वमस्वीकार्यमेव। ये च धर्मं प्रधानीकृत्य किमपि कुर्वन्ति तेषां गौणकक्षास्थाऽर्थकामावाप्तिः सत्यपि धर्माधिकारित्वं न बाधते। अतः कारणादर्थकामेषु सक्तेभ्यो धर्मप्रचारस्याशा कदापि न कार्या शिष्टैः। यदा चोपनयनकालादेव वेदवेदाङ्गोपाङ्गब्राह्मणोपवेदादीनामध्यनाभ्यसनादिनाऽऽमृत्योर्धर्मज्ञानमुपासीनः कथमपि कोऽप्येवैकस्मिन् जन्मन्यहर्निशं तत्परो धर्मतत्त्वं ज्ञातुं शक्नोति तर्हि बन्धिगृहे निबद्धो गृहकार्यं कर्त्तुमिव कथमर्थकामोपासको धर्मतत्त्वं ज्ञातुमलं स्यात्? न कथमपीति। तस्माद्वेदविद्यायां धर्मज्ञाने च सक्तायैव श्रुतिस्मृतिषु धर्मज्ञानं विधीयते। वेदविद्यया धर्मं जिज्ञासुश्च विषयान् विषवज्जह्यात्तथाचोक्तम्—"योऽहेरिव धनाद्भीतो मिष्टान्नाच्च विषादिव। राक्षसीभ्य इव स्त्रीभ्यःस विद्यामधिगच्छति" अतोधर्मसुखमिच्छताऽर्थकामभोगोत्कण्ठा हेया। धर्मतत्त्वावगमाय च वेदएव महताश्रमेणान्यवेदानुयायिग्रन्थज्ञानद्वारेण च विज्ञेय इतितात्पर्यम् ॥१३॥

भाषार्थः-(अर्थकामेषु) खेती वणिग्व्यापार और राजसेवा [राज्य की नौकरी] आदि कर्मों द्वारा प्राप्त होने योग्य संसारी सुख के हेतु धनादि पदार्थ और स्त्रीसम्भोग वा उस के साधन गाना बजाना वा वेश्या नृत्यादि नामक कामों में (असक्तानाम्) जो नहीं फंसे अर्थात् धनादि के इकट्ठे करने रक्षा करने और धन वा मैथुनादि से होने वाले सुखानुभवों में ही दिनरात जिन का चित्त रम रहा है वे उन में सक्त वा बंधे हैं और जो नहीं बंधे वे असक्त हैं उन्हीं को (धर्मज्ञानं, विधीयते) धर्म के ज्ञान का विधान किया गया है वेही धर्म को जानते वा जान सकते हैं उन्हीं के लिये वेदों और धर्मशास्त्रों में धर्म कहा गया है। इस कथन से वैसे निर्लोभ निष्काम मनुष्य धर्मज्ञान के अधिकारी जताये गये (धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः) जो धर्म को जानना चाहते हैं उन को श्रुति नाम वेद ही नेत्र के तुल्य धर्म को दिखाने वाला मुख्य प्रमाण है वेद से ही ठीक २ धर्म का तत्त्वज्ञान हो सकता है और वेद के अनुकूल होने से स्मृति का भी परतः प्रमाण मान्य है। मनु जी ने स्वयं भी कहा है कि "वेद से ही धर्म प्रकाशित हुआ" पूर्व मीमांसा में जैमिनि ऋषि ने कहा है कि "वेद के साथ स्मृति का विरोध हो तो उस स्मृति का प्रमाण मत मानो और यदि विरोध न हो तो स्मृति का मूल वेद में न मिलने पर भी वेद मूलक होने का अनुमान करो" इसी के अनुसार जाबाल ऋषि ने भी कहा है कि "श्रुति स्मृति के विरोध में श्रुतिमान्य होने से श्रुति प्रमाण है और विरोध न हो तो स्मृति के वचन का वेद के तुल्य सज्जन को आदर करना चाहिये" यही बात श्रुति को परम प्रमाण कहते हुए मनु जी ने स्वीकार किई है। जो लोग धर्म को जानना चाहते हैं उन को धर्मदर्शक वेद का नेत्रों के तुल्य मुख्य प्रमाण मानना चाहिये॥

भा०-जो लोग धनादि पदार्थों का संचय रक्षा और स्त्री के सम्बन्ध से होने वाले काम सुख को ही अपना इष्टतम कर्त्तव्य समझते हैं वे दिन रात जिस किसी प्रकार सिद्ध होने योग्य उसी कर्त्तव्य की उपासना में रहते हैं उस धनादि के अर्जन वा कामभोग में फंसा वा बंधा उन का चित्त धर्म मार्ग में नहीं चल सकता। वे कामी वा लोभी लोग राजादि श्रीमानों से धनादि प्राप्त करने के लिये उन धनाधीशों के चेले बन कर अधर्म का सेवन करते और उन की प्रसन्नता के लिये असत्य भी जान कर बोलते ही हैं अथवा युवति स्त्री के मेल से होने वाले सुखानुभव के लिये सैकड़ों अनर्थों का सेवन करते हैं वैसे मनुष्य धर्मज्ञान के अधिकारी नहीं हो सकते। प्रत्यक्ष भी दीखता है कि बेचने लेने की दुकान वा खेती आदि में लगे मनुष्य वेदादि के पठनपाठन में नहीं लगते। यदि वैसे लोभी लालची मनुष्यों में कोई किसी प्रकार कभी गौणभाव से कुछ धर्म का सेवन भी करे तो भी वहां धर्म की प्रधानता न होने से उन का धर्माधिकारी होना नहीं माना जा सकता। और जो लोग धर्म को आगे रख के कुछ भी काम करते हैं उन को गौण

रीति पर धन और काम की प्राप्ति हुई भी उन के धर्माधिकारी होने को धर्म की प्रधानता होने से बाधक नहीं होती इस कारण अर्थ कामों में फसे मनुष्यों से धर्मप्रचार की आशा शिष्ट लोगों को कदापि नहीं करनी चाहिये। जब कि उपनयन समय आठ दश वर्ष की अवस्था से ही वेद, वेदाङ्ग, ब्राह्मण और उपवेदादि के पठन वा अभ्यासादि द्वारा मरण समय तक धर्मज्ञान की उपासना में दिन रात तत्पर पुरुष कोई किसी प्रकार एक जन्म भर में भी कठिनता से धर्म के तत्त्व को जान सकता है तो बन्धिगृह में बद्ध (जेलखाने का कैदी) जैसे घर का काम नहीं कर सकता वैसे अर्थ काम का उपासक कैसे धर्मतत्त्व को जान लेगा? अर्थात् किसी प्रकार नहीं जान सकता। इस कारण वेदविद्या और धर्मज्ञान की उत्कण्ठा रखने वाले के लिये ही श्रुतिस्मृतियों में धर्मज्ञान कहा जानो। जो पुरुष वेदविद्यारूप नेत्र से धर्म को साक्षात् जानना चाहता है वह धन वा कामभोगसम्बन्धी सांसारिक विषयों से विष के तुल्य डरता रहे। किसी विद्वान् ने कहा भी है कि—"जो सांप के तुल्य धन से, विष के तुल्य मिष्टान्न (मिठाई) से और राक्षसियों के तुल्य स्त्रियों से डरता रहे वह ब्राह्मण विद्या और धर्म को प्राप्त होता है"। इस से धर्मसम्बन्धी सुखानुभव की चाहना रखने वाला धन और कामसुख भोग की उत्कण्ठा को त्यागे और धर्मतत्व को जानने के लिये बड़े परिश्रम से अन्य वेदानुकूल ग्रन्थों के जानने द्वारा वेद को ही विशेष कर जाने यह तात्पर्य है ॥ १३ ॥

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ।
उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः १४

अ०—श्रुतिविरुद्धा स्मृतिस्त्याज्येत्येकादशपद्ये ध्वनितं तत्र श्रुतिविरुद्धा श्रुतिरपि हेया किमिति संशयनिराकरणायोच्यते। यत्र यस्मिन् विधीयमाने कर्मणि श्रुतिद्वैधं समयभेदेन कर्मणो द्विधा प्रतिपादनं स्यात्तत्रोभौ धर्मौ मनुना स्मृतौ कर्त्तव्यौ मतौ हि यतस्तावुभावपि धर्मावन्यैर्मनीषिभिर्विद्वद्भिः सम्यगुक्तौ ॥

भा०—एकस्यैव कर्मणः समयादिभेदेन द्विधा प्रतिपादनमधिकारिभेदेनाविरुद्धार्थबोधकं विज्ञेयम् ॥ १४ ॥

भाषार्थः—श्रुतिविरुद्ध स्मृति का मान्य नहीं यह ग्यारहवें श्लोक में जताया वहां क्या श्रुति से विरुद्ध श्रुति को भी छोड़ दिया जाय इस सन्देह की निवृत्ति

के लिये कहते हैं कि—(श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्) जिस कर्म के विधान में एक कर्म को समय भेद से दो वाक्यों द्वारा दो बार कहा हो कि अमुककर्म अमुकसमय करे फिर कहा कि अमुकसमय उसी को करे (तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ) वहां दोनों समय में उस काम को मनु जी ने कर्त्तव्य माना है और परस्पर विरोध होने से एक को मिथ्या नहीं माना (हि) क्योंकि जिस कारण (उभावपि तौ धर्मौ, मनीषिभिः सम्यगुक्तौ) वे दोनों धर्म अन्य विद्वान् महात्माओं ने भी ठीक ही कहे वा माने हैं ॥

भा०—एक ही कर्म का दो समयों में दो बार कहना अधिकारी के भेद से अविरुद्ध समझना चाहिये ॥ १४ ॥

उदितेऽनुदिते चैव समयाऽध्युषिते तथा ।
सर्वथा वर्त्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥१५॥

अ०—उदिते स्वरूपमात्रे सूर्ये दृष्टे, अनुदिते सूर्योदयाद्घटिकात्रयं प्राग् ग्रहनक्षत्रभूषिते काले, समयाध्युषिते—अदृष्टनक्षत्रमण्डले सूर्यदर्शनात्पूर्वकाले सर्वथा वर्त्तते यज्ञ उक्तसर्वप्रकारको यज्ञोऽग्निहोत्रहोमः प्रवर्तनीयः । इतीयं वैदिकी श्रुतिर्वेदमूलकानि वाक्यानि श्रूयन्ते ॥

भा०—उदिते होतव्यमनुदिते होतव्यं समयाध्युषिते होतव्यमिति ब्राह्मणवाक्यानां श्रुतित्वं गौणं प्रशंसापरमिति बोध्यम् । स्वानुकूल्यं दृष्ट्वा त्रिषु कालेष्वग्निहोत्रस्य समयो निश्चेतव्यः । येन यस्मिन् समये कर्तुमङ्गीकृतं तेन तदानीमेव प्रतिदिनं कार्यं नियतसमयव्यघाते च निन्दार्हः स भवति । तस्माच्छ्रुतौ विरोधो नास्ति ॥ १५ ॥

भा०—(उदिते) सूर्य का स्वरूप दीख पड़ते समय (अनुदिते) सूर्योदय से तीन घड़ी पहिले नक्षत्र दीखने समय तक (तथा) और (समयाध्युषिते) नक्षत्र छिपजाने पर सूर्योदय से पूर्व समय में (सर्वथा वर्त्तते यज्ञः) इन सब समयों में सब प्रकार अग्निहोत्र करना चाहिये (इतीयं वैदिकी श्रुतिः) ये वेदमूलक वाक्य सुने जाते हैं ॥

भा०—"सूर्योदय होने पर, सूर्योदय न हो तब और उदय होना समीप हो तब इन तीनों समय में होम करना चाहिये" ये ब्राह्मणग्रन्थों के वाक्य हैं इन को गौणभाव से प्रशंसा के लिये श्रुति कहा गया। प्रत्येक अग्निहोत्र नियमकारी पुरुष को उचित है कि अग्निहोत्र समय के तीनों काल में अपनी अनुकूलता देख कर समय का निश्चय करे। जो पुरुष जिस समय करना स्वीकार करे उस को प्रतिदिन उसी समय करना चाहिये क्योंकि नियत समय के तोड़ने पर निन्दा के योग्य होता है इस कारण श्रुति में विरोध नहीं है ॥ १५ ॥

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः।
तस्यशास्त्रेधिकारोस्मिञ्ज्ञेयोनान्यस्यकस्यचित्

अ०—यस्य पुंसो द्विजातेर्निषेकादिश्मशानान्तो गर्भाधानादारभ्यान्त्येष्टिपर्यन्तो विधिर्मन्त्रैर्गृह्यसूत्रादिषूक्तस्तस्यैवाधिकारोऽस्मिन् शास्त्रे धर्मशास्त्रोक्तकर्त्तव्ये सामान्यतयाऽधिकारो ज्ञेयोऽन्यस्य शूद्रातिशूद्रादेरधिकारो नैव ज्ञेयः ॥

भा०—यथा बालस्तर्कुणा लेखनीं सम्पादयन्स्वस्यैव हस्तं कर्त्तयेदिति संभवति तस्मादनुकूलफलस्थाने प्रतिकूलफलापत्तिसम्भावनया लेखनीसम्पादने बालस्याधिकारो नास्तीति वक्तुं युज्यते तथैव शूद्रादीनां शुभसंस्कारहीनत्वात्कार्यपूर्त्यसम्भावनया विरुद्धसम्पादनसम्भावनया चानधिकारो बोध्यः। यदि कश्चित्संस्कारी धर्म्यं कर्मानुष्ठातुं शक्नोति तस्य विशेषदशायां यथाशक्त्यधिकारो मनुना दशम उक्तएव यथा-"धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः। मन्त्रवर्जं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च" ॥ उपनयनात्प्राग्बालस्याज्ञत्वादनधिकारवच्छूद्रस्यापि वेदादिप्रतिपादितकर्मस्वनधिकारो न पक्षपातेन। नीतिज्ञाश्च वदन्ति-"उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये। पयःपानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्धनम्॥" तथा सति सर्वथा संस्कारहीनानां द्विजकुलोत्पन्नानां कुलपरम्परया कृषिव्यापारादिष्वेव रतानां शूद्रत्वं प्राप्तानां ब्राह्मणब्रुवादीनामप्यनधिकारएवास्तीति विज्ञेयम् ॥ १६ ॥

भाषार्थः—(यस्य, निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्विधिरुक्तः) जिस द्विजाति ब्राह्मणादि पुरुष के गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त वैदिकसंस्कार मंत्रों द्वारा गृह्यसूत्रादि में विधान किये गये हैं (तस्यास्मिन्शास्त्रेऽधिकारः) उस को इस धर्मशास्त्रोक्तकर्म करने का सामान्यता से अधिकार (ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित्) जानो अन्य किसी शूद्र वा अतिशूद्रादि को नहीं ॥

भा०—जैसे बालक चक्कू से लेखनी बनाता हुआ अपना ही हाथ काट ले यह सम्भव है। इस कारण लेखनी बनानेरूप काम करने की ठीक शक्ति न होने से अनुकूल फल के स्थान में प्रतिकूल फल की सम्भावना होने से लेखनी बनानेरूप काम का बालक को अधिकार नहीं यह कह सकते हैं। वैसे ही शूद्रादि के शुभसंस्कार हीन होने से कार्यप्रवृत्ति की असम्भावना और विरुद्ध हो जाने की सम्भावना से अधिकार नहीं है। यदि कोई संस्कारी शूद्र धर्मानुकूल कर्म का ठीक अनुष्ठान कर सकता है तो उस के लिये विशेष दशा में यथाशक्ति मनु के दशमें अध्याय में अधिकार कहा है कि "धर्मज्ञ धर्मेष्वनु सदाचारी शूद्र मन्त्रसंहिताओं को छोड़ अन्य सब धर्मशास्त्रादि को पढ़े तो दोष नहीं किन्तु उन की प्रशंसा है।" मन्त्रसंहिताओं का निषेध भी यथोचितशक्ति की असम्भावना में है। यथोचित शक्ति की सम्भावना में वह शूद्र कोटि के योग्य ही न रहेगा तो उस को निषेध भी नहीं है। जैसे यज्ञोपवीतसंस्कार से पहिले बालक के अज्ञानी होने से वेदोक्तकर्मों में शूद्र के तुल्य उस को अनधिकार है वैसे शूद्र को भी अनधिकार कहने का प्रयोजन जानो किन्तु पक्षपात से नहीं। तथा नीतिज्ञलोग कहते हैं कि—"जैसे सांप को दूध पिलाना उस के विष को बढ़ाने के लिये हो जाता है जिस से जगत् की हानि होती वैसे मूर्खों को श्रेष्ठ उपदेश क्रोध बढ़ाकर हानिकारक होता है" इस लिये धर्मादि उत्तम कर्त्तव्यों का उपदेश अधिकारी शिष्य के लिये होना चाहिये। ऐसी दशा में नाममात्र द्विजकुलों में उत्पन्न हुए सर्वथा संस्कार हीन कुल परम्परा से खेती व्यापारादिकामों में ही सदा तत्पर रहने वाले शूद्रता को प्राप्त नाममात्र ब्राह्मणादि कहाने वालों को भी उन २ कर्त्तव्यकामों में अनधिकार ही जानो ॥१६॥

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते ॥१७॥

अ०—सरस्वती पञ्चापप्रान्ते प्रसिद्धा दृषद्वती ब्रह्मपुत्रनाम्ना वङ्गेषु प्रसिद्धा ते च देवनद्यौ भूतपूर्वैः शिष्टैर्धर्मात्मभिर्निर्मिते निस्सारिते वा तयोरन्तरं देवनिर्मितं देवनियमितं देशं ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते ब्रह्मणो वेदस्याध्ययनाध्यापनप्रचाराणामावृत्तिरत्र यद्वा

ब्रह्मणि वेदे प्रतिपादितानां यज्ञादिकर्मणामाचार आवृत्तिरत्र तथा ब्रह्मणां ब्राह्मणानामावृत्तिर्वासस्थानत्वाद्गमनागमनादिव्यवहारोऽत्र स ब्रह्मावर्त्तो देशः। अथवा सरस्वतीदृषद्वत्योर्यदन्तरं यच्च देवनद्योर्गङ्गायमुनयोरन्तरं स ब्रह्मावर्त्तः ॥

भा०—पूर्वकाले वेदप्रचारकवैदिककर्मानुष्ठातृब्रह्मर्षीणामुत्पत्तिस्थानं वासस्थानं च प्रायेण यो देश आसीत्तस्य ब्रह्मावर्त्तइति संज्ञा कृता। अस्मिन्नेव प्रदेशे ब्रह्मर्षीणां सत्त्वाद्वैदिकधर्मस्य सर्वापेक्षया विशिष्टः प्रचार आसीद्धर्मप्रचाराधिक्याच्च देशस्य प्राशस्त्यं पूर्वजैरेव स्वीकृतम्। एतद्देशीयभूमावप्यन्यापेक्षया धर्मोद्बोधकसत्त्वगुणप्राधान्यमासीदस्ति वा। तस्मादत्रान्यापेक्षया धर्मप्रचारः सुलभतया कर्त्तुं शक्यते। अत्र केषुचित्पुस्तकेषु ब्रह्मावर्त्तस्थाने—आर्यावर्त्तमिति पाठो लभ्यते तथासत्यार्यावर्तस्य द्विधाऽवधिनियमो भविष्यति ब्रह्मावर्तस्य च लक्षणमस्यां स्मृतौ न भविष्यतीतिबोध्यम् ॥१७॥

भाषार्थः—(सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्) पंजाब में प्रसिद्ध सरस्वती और बंगाल में ब्रह्मपुत्र नाम से प्रसिद्ध दृषद्वती पूर्व हुए धर्मात्मा वेदानुयायी शिष्ट लोगों ने बनायीं वा निकालीं इन दोनों नदियों के बीच के (तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते) उस देव नाम विचारशील महज्जनों ने नियत किये देश को ब्रह्मावर्त्त कहते हैं। ब्रह्म नाम वेद के पठनपाठन और प्रचार के अधिक होने वा वेदोक्त यज्ञादि कर्मों का अधिक प्रचार होने और ब्रह्म नाम पूर्वज ब्रह्मर्षि लोगों का निवासस्थान होने से उन का गमनागमनादि व्यवहार अधिकता से जहां था इस कारण इस देश का नाम ब्रह्मावर्त्त हुआ। यहां देवनदी पद को सरस्वती और दृषद्वती का विशेषण न रक्खें तो यह अर्थ होगा कि पूर्व पश्चिम सरस्वती दृषद्वती और उत्तर दक्षिण देवनदी नाम गंगा यमुना के बीच के देश को ब्रह्मावर्त्त कहते हैं। ब्रह्मावर्त्त पद के व्यवहार से भी कुछ निश्चय होगा ॥

भा०—सृष्टि के आरम्भ से लेकर पूर्वकाल में वेद के प्रचारक और वैदिक कर्मों के सेवने वाले महर्षि ब्रह्मर्षियों का उत्पत्तिस्थान और निवासस्थान अधिकांश में जो देश था उस की ब्रह्मावर्त्त संज्ञा की। इसी प्रदेश में ब्रह्मर्षियों के ठहरने से अन्य देशों की अपेक्षा वैदिक धर्म का अधिक प्रचार हुआ था। और

धर्म के प्रचार की अधिकता से पूर्वजों ने ही देश की प्रशंसा मान के इस का ब्रह्मावर्त्त नाम रक्खा। तथा अन्यदेशीय भूमि की अपेक्षा इस देश की पृथिवी में भी धर्म का सहायक सत्त्वगुण प्रधान था और है। इसी कारण अन्यत्र की अपेक्षा धर्म का प्रचार यहां सुलभता से हो सकता है। किन्हीं पुस्तकों में इस श्लोक के ब्रह्मावर्त्त पद के स्थान में आर्यावर्त्त पद भी मिलता है। ऐसा होने पर आर्य्यावर्त्त की अवधि के दो श्लोक होंगे और ब्रह्मावर्त्त का लक्षण इस स्मृति में नहीं आवेगा। मनु के सब भाष्यकारों ने भी ब्रह्मावर्त्त ही पाठ माना है। तथा देवनदी पद को केवल एक रामचन्द्र टीकाकार ने गंगा यमुना विशेषण किया अन्य सब भाष्यकारों ने सरस्वती दृषद्वती का ही विशेषण मान के अर्थ किया है ॥१७॥

तस्मिन्देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते १८

अ०-तस्मिन्ब्रह्मावर्त्तदेशे ब्राह्मणादिवर्णानां वर्णसंकाराणां च पारम्पर्यक्रमागतः परम्पराक्रमेण प्रवृत्तो य आचारः स सति देशे सद्भिः स्वीकृतः सदाचार उच्यते ॥

भा०-प्रायिकं प्राधान्यपरं वा वचनमेतत् प्राधान्येन प्रायेण वा ब्रह्मावर्त्त एव सतां निवासादेतद्देशीयाचारस्य प्रायिकं सदाचारत्वं तेनान्यदेशीयाचारस्यापि कस्यचित्क्वचित्सदाचारत्वे, नाव्याप्तिः। सान्तरालेषु ब्राह्मणादिवर्णेषु च य आप्तभावं गतास्तेषामेवाचारः सदाचारो धर्मस्य तृतीयकक्षायां परिसंख्येयो न तु सर्वेषा"मित्याचारश्चैव साधूना"मित्यनेन बोधितमेव ॥ १८ ॥

भाषार्थः-(तस्मिन् देशे सान्तरालानां वर्णानां पारम्पर्यक्रमागतो य आचारः) उस पूर्वोक्त ब्रह्मावर्त्त देश में वर्णसंकरों सहित ब्राह्मणादि वर्णों का परम्परा से चला आया "इस प्रकार शुद्धि आदि काम करना चाहिये" इत्यादि प्रकार का जो आचार है (स सदाचार उच्यते) वह श्रेष्ठ देश में श्रेष्ठों ने स्वीकार किया सदाचार कहाता है ॥

भा०-यह कथन प्रायिक वा प्राधान्यपरक है कि प्रधानता से वा प्रायः ब्रह्मावर्त्त देश में ही श्रेष्ठों का निवास रहने से इस देश का आचार ही प्रायः सदाचार है इस से अन्य देश का भी कोई आचार कहीं सदाचार हो सके तो दोष नहीं है। अन्तरालों सहित ब्राह्मणादि वर्णों में जो सत्यवादी धर्मात्मा

आप्त माने गये हों वा माने जांय उन्हीं का आचरण सदाचार धर्म की तीसरी कोटि में गिनना चाहिये यह बात छठे श्लोक में साधुओं का आचार कहने से स्पष्ट सूचित कर ही दी है ॥ १८ ॥

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः ।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्त्तादनन्तरः ॥ १९ ॥

अ०—कुरुक्षेत्रं प्रसिद्धम् । मत्स्याश्चानुपमपत्तनादिप्रान्तः । कर्णपुरफलकपुरादिपत्तनप्रान्तः पञ्चालपदवाच्यः । अस्ति च फलकपुरादनतिदूरं काम्पिल्यं नाम नगरं तत्र च साम्प्रतमपि द्रुपदस्य राज्ञो दुर्गं प्रसिद्धमेव तस्यैव द्रुपदस्य कन्या द्रौपदी पाञ्चालीति नाम्ना प्रसिद्धैवास्ति तस्मात्पञ्चालपदेनायमेव प्रदेशो ग्राह्योस्ति । तथासति पञ्चापप्रान्तस्य पञ्चालपदेन व्यपदेशो भ्रान्तिमूलकएवेति प्रत्येतव्यम् । पश्चिमायां दिशि पञ्चालानां मत्स्यैः सीमासम्बन्धः । नैर्ऋते तु शूरसेनकैः सीमासन्धिः । मथुरास्त्रुघ्नादिपत्तनप्रान्तः शूरसेनकाः । शूरसेनराजवंशे हि कंसः कण्टक आसीद्यं कृष्णो जघानेति प्रसिद्धमेव महाभारतादौ । सम्प्रति व्रजपदेन स एवोच्यते । शूरसेनकानां चोत्तरस्यां कुरुक्षेत्रेण सीमासम्बन्धः । मत्स्येभ्यश्च वायुकोणे हस्तिनापुरं महाभारतविराटपर्वान्तर्गतगोहरणपर्वणि कौरवाणां विराटनगरं प्रति गमनं वहनिदिश्युक्तं तेन स्पष्टमेव वायुकोणे हस्तिनापुरं भवति । ब्रह्मावर्त्तादनन्तरो विशिष्टमन्तरं यस्य नास्त्यपितु किञ्चिदेव यस्यान्तरमस्ति । यदि किमप्यन्तरं न स्यात्तदा ब्रह्मावर्त्तएव स्यात्पुनरनन्तरइति कथनमनर्थकं स्यात् तस्मादस्ति किञ्चिदन्तरं तादृशएष प्रदेशो ब्रह्मर्षिनिवासस्थानत्वाद्ब्रह्मर्षिदेश इति कथ्यते ॥

भा०—पूर्वकाले यद्वंशीयराज्ञां यस्मिन् प्रान्ते राज्यमासीत्तद्वंशनाम्ना स प्रदेशः प्रख्यात आसीदतएव "तस्य राजन्यपत्यव" दिति वार्त्तिकेन तद्राजापत्ययोरुभयोरप्यर्थयोरेक एव प्रत्ययो वि-

धीयते । एतद्राज्यचतुष्टये च प्रायेण ब्रह्मर्षयः पूर्वं न्यवसन् तस्मात्तस्य ब्रह्मर्षिदेशाभिधानात्प्राशस्त्यं बोध्यते ॥१९॥

भाषार्थः-(कुरुक्षेत्रम्) कुरुक्षेत्र (च) और (मत्स्याः) अनूपशहर, बुलन्दशहर आदि नगरों वाला प्रान्त मत्स्य कहाता (च) तथा (पञ्चालाः) कानपुर और फर्रुखाबादादि नगरों वाला प्रान्त पञ्चाल है । फर्रुखाबाद के जिले में कम्पिल एक छोटा नगर है । जहां द्रुपद राजा के नाम से इस समय भी स्थान प्रसिद्ध है कि यहां द्रुपद का किला था । इसी राजा द्रुपद की कन्या द्रौपदी थी जिसका नाम पञ्चाल देश में उत्पन्न होने से पाञ्चाली पड़ा जो महाभारत में अत्यन्त प्रसिद्ध है । इस कारण पञ्चाल शब्द से इसी देश का ग्रहण समझना चाहिये । इस दशा में अनेक लोग जो पञ्चाल शब्द को पञ्जाब का वाची समझते और व्यवहार करते हैं यह भ्रान्तिमात्र है । पञ्चाल देश की पश्चिम दिशा में मत्स्यदेशीय राज्य के साथ सीमा मिली थी और नैर्ऋत कोण में शूरसेनक के साथ पञ्चाल का राज्य मिला था । अर्थात् एटा मैनपुरी जिलों का पूर्वभाग पञ्चाल राज्य में, दक्षिण नैर्ऋतभाग शूरसेनक में और पश्चिम वा वायव्यभाग मत्स्यदेश में परिगणित था ऐसा अनुमान से प्रतीत होता है । मथुरा आगरादि नगरों वाला शूरसेनक राज कहाता था शूरसेन राजवंश में ही प्रजा के लिये कण्टक के समान कंस हुआ जिसे श्रीकृष्ण जी ने मारा यह महाभारतादि में प्रसिद्ध ही है । वर्त्तमान समय में शूरसेनक देश को ही व्रज कहते हैं । शूरसेनक से उत्तर दिशा में कौरवों का राजस्थान था । और मत्स्यदेश से वायु कोण में हस्तिनापुर था । महाभारत के विराटपर्वान्तर्गत गोहरण पर्व में विराटनगर के प्रति कौरवों का जाना आग्नेय कोण को लिखा है । इस से स्पष्ट ही वायु कोण की ओर मत्स्यराज्य से हस्तिनापुर हुआ । ब्रह्मर्षिदेश को ब्रह्मावर्त्त से अनन्तर कहने का प्रयोजन यह है कि विशेष अन्तर इन में नहीं है अर्थात् कुछ थोड़ा अन्तर तो अवश्य है यदि कुछ भी अन्तर न होता तो वह ब्रह्मावर्त्त से भिन्न भी न होता तो अनन्तर कहना इस दशा में व्यर्थ होता इसलिये दोनों में कुछ अन्तर है और वे चारों राज्यप्रदेश ब्रह्मर्षि लोगों के निवासस्थान होने से ब्रह्मर्षिदेश कहाते हैं ॥

भा०—पूर्वकाल में जिस वंश के राजाओं की जिस प्रान्त में राज्य था उसी वंश के नाम से वह प्रदेश प्रख्यात हुआ । जैसे मत्स्यराजवंश के नाम से मत्स्यदेश, कुरुराजवंश के नाम से कुरुक्षेत्र और पञ्चालराजवंश के नाम से पञ्चालदेश इत्यादि नाम हुए । इसी लिये "तस्य राजन्यपत्यवत्" इस वार्त्तिक से तद्राज और अपत्य दोनों अर्थ में एक ही प्रत्यय होकर एकसा ही शब्द बनता है जैसे "पञ्चालानां पञ्चालदेशीयराजवंशिक्षत्रियाणामपत्यं पञ्चालानां राजा वा पाञ्चालः"

पञ्चालदेशीयराजवंशी क्षत्रियों का सन्तान वा पञ्चालदेश का राजा स्वामी दोनों पाञ्चाल कहाते हैं। कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पंचाल और शूरसेनक इन चारों राज्यों में ब्रह्मर्षि लोगों ने पहिले निवास किया था इस कारण इस देश की प्रशंसा जताने के लिये इस का नाम ब्रह्मर्षिदेश कहा वा माना गया ॥ १९ ॥

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः॥२०॥

अ०—एतद्देशप्रसूतस्य ब्रह्मावर्त्तब्रह्मर्षिदेशीयब्रह्मर्षिवंशे प्रसूतस्योत्पन्नस्य वेदादिशास्त्राणि सम्यग्जानानस्याग्रजन्मनो ब्राह्मणस्य सकाशात्पृथिव्यां सर्वमानवाः स्वं स्वं चरित्रं धर्मानुष्ठानहेतुकं धर्मोपदेशं शिक्षेरन् जानीयुरिति ॥

भा०—इदमुक्तं भवति—सर्गारम्भादेवादिद्वारेणास्मिन्नेव भारतवर्षस्थे ब्रह्मर्षिदेशे प्राधान्येन कर्त्तव्याकर्त्तव्यधर्माधर्मयोः शिक्षाप्रचार आसीदन्यदेशेषु च शिक्षाविहीनाः पशुवदेवाशिक्षिता जना आसन् तैश्चैभ्यएव पूर्वं शिक्षाऽऽदत्ता । यथैकस्मिन् ग्राम एकस्मिन्नेव कूपे जलं स्यात्तदा ततएव सर्वैरानेतुं शक्यते तथैव पूर्वं ब्रह्मर्षिदेशएव सदसद्विवेक आसीत्तस्मादेव चान्यप्रान्तवासिभिर्द्वीपान्तरवासिभिश्च देशकालानुकूलं कर्त्तव्यं ज्ञातमिति ॥२०॥

भाषार्थः—(एतद्देशप्रसूतस्याग्रजन्मनः सकाशात्) इस ब्रह्मावर्त्त और ब्रह्मर्षिदेश के निवासी ब्रह्मर्षियों के वंश में उत्पन्न परम्परा से वेदादिशास्त्रों की शिक्षा को प्राप्त वेदादिशास्त्रों के गूढ़ाशयों को सम्यक् जानते हुए ब्राह्मण से (पृथिव्यां सर्वमानवाः) पृथिवी भर के सब मनुष्य (स्वंस्वं चरित्रम्) अपने २ देशकालानुकूल धर्मानुष्ठान के हेतु धर्मोपदेश को (शिक्षेरन्) सीखें जानें वा ग्रहण करें ॥

भा०—तात्पर्य यह है कि सृष्टि के आरम्भ से वेदादि द्वारा इसी भारतवर्षस्थ ब्रह्मर्षिदेश में प्रधानता से कर्त्तव्याकर्त्तव्य और धर्माधर्म की शिक्षा का प्रचार था किन्तु अन्य देशों में शिक्षारहित पशुवत् मनुष्य थे उन सब ने इन्हीं सब ब्रह्मर्षिदेशवासियों से शिक्षा पहिले ग्रहण की जैसे एक ग्राम में एक ही कूप हो तो सब लोग उसी से जल ले सकते हैं इसी प्रकार पहिले ब्रह्मर्षि देश में ही सत्यासत्य के विवेक की शिक्षा थी इस कारण इसी देश से अन्य प्रान्त वासियों वा द्वीपान्तर वासियों ने देश कालानुकूल अपने २ कर्त्तव्य को जाना ॥ २० ॥

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्त्तितः ॥२१॥

अ०-हिमवद्विन्ध्ययोरुत्तरदक्षिणयोर्मध्यं विनशनात्कुरुक्षेत्रात्प्राक् पूर्वं प्रयागाच्च प्रत्यक् पश्चिमं मध्यदेशः पूर्वजैः प्रकीर्तितः ॥

भा०-मध्यदेशावधिकथनेन मध्यकोटिस्थधर्माचरणयुक्तोऽयं देश इति पूर्वजैः स्वीकृतः ॥ २१ ॥

भाषार्थः-(हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यम्) उत्तर में हिमालय और दक्षिण में विन्ध्याचल के बीच (यत्प्राग्विनशनादपि) और जो कुरुक्षेत्र से पूर्व (प्रत्यगेव प्रयागाच्च) तथा प्रयाग से पश्चिम (मध्यदेशः प्रकीर्त्तितः) इस पूर्वोक्त देश को पूर्वजोंने मध्यदेश कहा वा माना है ॥

भा०-यहां मध्यदेश की अवधि कहने से बीच की दशा के धर्माचरण से युक्त यह सब देश है वा धर्मविषय में साधारण है ऐसा पूर्वज लोगों ने माना था २१

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्य्योरार्यावर्त्तं विदुर्बुधाः ॥२२॥

अ०-पूर्वपश्चिमसमुद्रावधीकृत्य तयोरेव च हिमवद्विन्ध्ययोर्गिर्योरन्तरं देशं बुधा आर्यावर्तं विदुर्जानन्ति मन्यन्ते ॥

भा०-यद्यपि पूर्वपद्येन मध्यदेश एवार्याणां प्राधान्येन निवासोस्ति तथापि पूर्वपश्चिमसमुद्रावधि हिमवद्विन्ध्यपर्वतयोर्मध्ये च सर्वस्मिन्भारते वर्षे आर्याणामेव गमनागमनादिव्यवहारो निवासो राज्यं चासीत्तस्मात्तस्य सर्वस्यैवार्यावर्त्तसंज्ञा मन्तव्या। अत्र प्रकरणे देशानां चातुर्विध्यमुक्तं तत्र सामान्यतया वैदिकधर्मप्रचारसत्त्वाद्देमतानुगार्याणामाधिपत्यान्निवासस्थानत्वाच्चार्य्यावर्त्तस्यान्यद्वीपापेक्षया प्राशस्त्यम्, तदपेक्षयापि वैदिकधर्मप्रचाराधिक्यान्मध्यदेशस्य श्रेष्ठत्वं मध्यदेशापेक्षया च वैदिकधर्मादराधिक्याद्ब्रह्मर्षिदेशस्य श्रेष्ठतरत्वं तदपेक्षयापि वेदपारगाणामा-

धिक्येन निवासस्थानत्वाद्देवोक्तयज्ञादिकर्मणां प्रचारातिशयाद् ब्रह्मावर्त्तप्रदेशस्य श्रेष्ठतमत्वं धर्माश्रयदेशेष्वासीदिति मन्वाशयो बोध्यः सज्जनैः ॥२२॥

भाषार्थः—(आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्) पूर्व के समुद्र से लेकर पश्चिम के समुद्र पर्य्यन्त और (तयोरेवान्तरं गिर्योरार्य्यावर्त्तं विदुर्बुधाः) उन्हीं हिमालय तथा विन्ध्याचल पर्वतों के बीच के देश को आर्यावर्त्त माना वा स्वीकार किया है ॥

भा०—यद्यपि पूर्व श्लोकानुसार मुख्यकर मध्यदेश में ही आर्यों का निवास प्रतीत होता है तथापि पूर्व पश्चिम समुद्रों तथा हिमालय और विन्ध्याचल पर्वतों के बीच के सम्पूर्ण भारतवर्ष देश में आर्य लोगों का ही गमनागमनादि व्यवहार, निवास और राज्य पहिले से था इस कारण उस सभी भारतवर्ष की आर्य्यावर्त्त संज्ञा माननी चाहिये। इस प्रकरण में चार प्रकार के देश कहे हैं—उन में से सामान्य कर वैदिकधर्म का प्रचार होने, वेदमतानुगामी आर्यों के स्वामी वा राजा होने और आर्य लोगों का ही निवासस्थान वा जन्म स्थान होने से आर्यावर्त्त देश अन्य द्वीपों की अपेक्षा उत्तम, उस की भी अपेक्षा वैदिकधर्म के प्रचार की अधिकता होने से मध्यदेश श्रेष्ठ, मध्यदेश की भी अपेक्षा वैदिकधर्म का अधिकार होने से ब्रह्मर्षि देश श्रेष्ठतर और ब्रह्मर्षि देश की भी अपेक्षा वेदपारग तपस्वी महज्जनों का अधिक कर निवासस्थान होने से और वेदोक्त यज्ञादि कर्मों का सब से अधिक प्रचार होने से ब्रह्मावर्त्त देश धर्म के स्थान सब देशों में श्रेष्ठतम था वा है अर्थात् ब्रह्मावर्त्त देश से अधिक श्रेष्ठ अन्य कोई देश नहीं यह मनु का आशय जानो ॥ २२ ॥

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः ।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः २३

अ०—यत्र ग्रामनगरोषरनदीवनारण्यपर्वतान्तावधिकदेशे क्वापि कृष्णः सारः किंचिदेवाङ्गमुपरिष्टाद्यस्य स कृष्णसारो मृगो हरिणः स्वभावतस्तत्रैवोत्पन्नो नतु बलादानीतश्चरति विचरति स सर्वो यज्ञियो यज्ञार्हो देशो ज्ञेयोऽतः परोऽन्यो म्लेच्छदेशो ज्ञेयः ॥

भा०—आर्यावर्त्तप्रान्तेष्वन्यत्र वा यत्र कुत्रापि भूमिविकारप्राशस्त्यात्कृष्णसारमृगा उत्पद्यन्ते तत्रैवान्या अप्योषधयस्तादृशगु-

एवत्यः सम्भवन्ति याभिर्यज्ञाः सम्पद्यन्ते-अनेन च यज्ञसाधनानां सौलभ्यमेव विवक्षितं मन्तव्यम्। यत्र कुत्रापि यज्ञसाधनानि सुलभतयोपलभ्यन्ते स यज्ञार्हो देशः। पूर्वजार्यैरन्यापेक्षयाऽधिकसाधनसम्पन्नोऽयं देश इति कृत्वा निवस्तुं स्वीकृतः। यश्च न स्वीकृतः स एव म्लेच्छदेशः। नियोगतस्तु नास्ति कश्चिदपि कस्यापि देशो ये यत्र बहुकालं निवसन्ति सएव तेषां देशो भवति तथा सति म्लेच्छदेशा अप्यार्य्यदेशा आर्य्यदेशाश्चापि म्लेच्छदेशा भवन्त्येव। तथा च बहुकालाद्यवनादिभिराक्रान्तत्वात्प्रशस्तमपि भारतं वर्षं वैदिकधर्मकर्मनष्टप्रायं म्लेच्छदेशवदेवाभासते यथा शुद्धमपि स्थानं पुरीषचर्मास्थ्यादिना चण्डलादिनिवासेन वाऽशुद्धं जायते, अशुद्धं च शौचधर्मपरैः पवित्रं क्रियते तस्मात्सिद्धानुवादपरकथनमिदं षड्ऋतुकालविभागादिप्राधान्यादयं देशः पूर्वतआर्य्यैराश्रितस्तस्मात्तस्य प्रायिकं यज्ञियत्वमन्यस्य च म्लेच्छदेशत्वं म्लेच्छप्रायस्य निवासात्। नत्वयमेव यज्ञियो देशोऽन्यश्च म्लेच्छदेश एवेति कृत्वाऽत्रैव यज्ञः कार्योऽन्यत्र न कार्यइति विधीयतेऽपितु यज्ञियोऽपि म्लेच्छप्रायस्य निवासान्म्लेच्छदेशो जायते तत्र यज्ञो न कार्यो म्लेच्छदेशोऽप्यार्याणां विशिष्टस्थित्या यज्ञार्हः सम्भवति तत्र च कार्यएवेति। इयं च देशविभागमर्यादा पौर्वकालिकी यदार्य्याणां म्लेच्छानां च निवासो देशः सर्वथा विभक्त एवासीत्तदाचार्यैरार्यसमुदायएव सम्यग्वैदिककर्माण्यनुष्ठातुं शक्यान्यासन्। तदर्थमार्यदेशेष्वेवार्य्यैर्वस्तव्यमित्याशयः सार्थक एवासीत्। सम्प्रति त्वार्या अपि प्रायेण म्लेच्छत्वमापन्ना देशाअपि कुसरावत्सङ्करीभूता दृश्यन्ते। तेन च धर्मप्रसङ्गे देशविभागमर्य्यादाकथनं निष्फलमिव दृश्यते तथापि म्लेच्छसमुदाये ग्रामादौ वेदोक्तकर्मानुष्ठात्रार्येण न वस्तव्यं ततो निस्सृत्यार्यसमुदाये ग्रामादौ वासः कार्यइति व्यापकबुद्ध्या सार्थकत्वमन्वेष्यम् ॥२३॥

भाषार्थः—(यत्र) जिस ग्राम नगर ऊषर नदी वन पर्वत पर्यन्त देश में कहीं (कृष्णसारो मृगःस्वभावतः चरति) जिस का कोई अंग काला हो ऐसा करसायल नामक हरिण पकड़ के लाये विना वहीं उत्पन्न हुआ स्वभाव से स्वयमेव विचरता है (स यज्ञियो देशो ज्ञेयः) वह सब यज्ञ करने योग्य देश जानो (अतः परो म्लेच्छदेशः) इस से भिन्न सब म्लेच्छदेश है ॥

भा०—आर्यावर्त्त देश के सब प्रान्तों में वा अन्यत्र जहां कहीं पृथिवी के विकारों की उत्तमता से कृष्णसार करसायल हरिण उत्पन्न होते वहां के अन्य ओषध्यादि वस्तु भी वैसे ही उत्तम गुणों वाले होने सम्भव हैं कि जिन के द्वारा यज्ञ हो सकते हैं। इस कथन से यज्ञ के साधनों की सुलभता ही विवक्षित माननी चाहिये कि जहां कहीं यज्ञ के साधन सुलभता से प्राप्त हों वह यज्ञ के योग्य देश है। पूर्वज आर्यों ने अन्य सब देशों की अपेक्षा यज्ञ के अधिक साधनों से युक्त इस देश को मान के यहां का निवास स्वीकार किया और यज्ञ शब्द से स्वाध्याय-यज्ञ योगयज्ञ ज्ञानयज्ञादि सभी का सामान्यता से ग्रहण जानो। और जिस देश का रहना आर्योंने स्वीकार नहीं किया उस में प्रायः म्लेच्छों का निवास होने से वह म्लेच्छदेश कहाया। वास्तव में नियम से कोई देश म्लेच्छ वा आर्य जाति का नहीं हो सकता। किन्तु जो लोग जहां बहुत काल तक निवास करते हैं वही उन का देश हो जाता है। ऐसा होने से ही म्लेच्छदेश भी कभी आर्यदेश बन जाते और आर्यदेश कभी म्लेच्छदेश हो जाते हैं। वैसे ही बहुत काल से यवनादि के प्रविष्ट होने से उत्तम भी भारतवर्ष वैदिकधर्म कर्मों से शून्य म्लेच्छदेश के तुल्य ही दीखता है। जैसे शुद्धस्थान भी विष्ठा चर्म हड्डी आदि के रहने वा चाण्डालादि अतिनीचों के निवास से दूषित वा अशुद्ध हो जाता तथा अशुद्धदेश भी शुद्धिधर्मपरायण मनुष्यों के निवास से पवित्र किया जाता है। इस कारण सिद्धानुवादपरक यह कथन है कि यह आर्यदेश और यह म्लेच्छदेश है। छः ऋतुओं के कालविभागादि की प्रधानता से इस देश को पूर्व से ही आर्यलोगों ने अपना आश्रय बनाया इस कारण वह अधिकांश में यज्ञ के योग्य और अन्य देश म्लेच्छों के प्रायः निवास से म्लेच्छदेश हैं। किन्तु यही यज्ञार्हदेश है अन्य म्लेच्छदेश ही हैं यहीं यज्ञ करना अन्यत्र न करना ऐसा विधान नहीं किया जाता क्योंकि यज्ञ के योग्य देश भी म्लेच्छों के अधिक निवास से म्लेच्छदेश हो जाता वहां यज्ञ नहीं करना चाहिये और म्लेच्छदेश भी आर्यों का अधिक निवास होने से यज्ञ करने योग्य आर्यदेश बन जाता है वहां यज्ञ अवश्य करना चाहिये। यह देश विभाग की मर्यादा पूर्व समय के अनुसार है जब कि आर्यों और म्लेच्छों के निवास का स्थान देश सर्वथा पृथक् २ था। तब यह विचार हुआ कि आर्य लोग आर्यों के समुदाय में ही वेदोक्त कर्मों का सम्यक् सेवन कर सकते हैं इस लिये आर्य देशों में ही आर्यों को वसना चाहिये यह आशय सार्थक था। पर वर्त्तमान

समय में जब आर्य भी धर्मकर्महीन म्लेच्छभाव को प्राप्त हो गये और सब देश भी आर्य म्लेच्छों के मेल से खिचड़ी हो गये इस से धर्म के प्रसङ्ग में देशविभाग की मर्यादा का कथन निष्फल सा दीखता है। तथापि म्लेच्छों के समुदाय ग्राम आदि में वेदोक्त कर्म करने वाले एक दो आर्य को निवास नहीं करना चाहिये किन्तु वहां से निकल के आर्यों के समुदाय ग्रामादि में वास करें ऐसी व्यापक बुद्धि से तात्पर्य की सफलता खोजनी चाहिये ॥ २३ ॥

एतान् द्विजातयो देशान् संश्रयेरन् प्रयत्नतः ॥
शूद्रस्तु यस्मिन् कस्मिन्वा निवसेद्वृत्तिकर्शितः २४

अ०—अन्यद्वीपे म्लेच्छसमुदाये यत्र कुत्रापि वा मातापितृसत्त्वादुत्पन्नाः केनापि कारणेन बहुकालात्तत्र निवसन्तो वा द्विजातय एतान् ब्रह्मावर्तादिदेशान् आर्यसमुदायनिवासान्ग्रामादीन् वा प्रयत्नतः संश्रयेरन् येन निर्विघ्नाः सुखं वसेयुः। शूद्रस्तु जीविकया विना कर्शितो दुःखितो यस्मिन्कस्मिन्नपि म्लेच्छसमुदायेऽपि निवसेत्तस्य नास्ति तादृशो विचारः ॥

भा०—द्विजातय एव वेदोक्तकर्माणि कुर्वन्ति कर्त्तुं वा शक्नुवन्ति तेषां म्लेच्छसमुदाये म्लेच्छदेशे वा निवासाद्धर्महानिर्वेदाध्ययनादौ वा विघ्नः स्यादिति मत्वा तैः कदापि न वस्तव्यं शूद्राणामपि प्रकृतिभेदान्म्लेच्छसमुदाये दुःखमेव कथमपि सम्भवति तस्मादेव वृत्तिकर्शितइत्युक्तम्। तथापि वैदिकधर्मस्य विशिष्टा हानिर्नास्तीति मत्वोक्तं शूद्रो यत्र कुत्रापि निवसेदिति ॥२४॥

भाषार्थः—अन्य द्वीपों में वा जहां कहीं म्लेच्छों के समुदाय में मातापितादि के रहने से उत्पन्न हुए बहुत काल से बसते हुए भी (द्विजातयः) द्विजाति ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य लोग उस म्लेच्छों के साथ निवास को छोड़कर (एतान्, देशान्, प्रयत्नतः, संश्रयेरन्) इन ब्रह्मावर्त्तादिदेशों में वा आर्य लोगों के निवासस्थान ग्रामादि में उद्योग कर कर के आवसें जिस से निर्विघ्न सुखपूर्वक वसें और (शूद्रस्तु यस्मिन् कस्मिन् वा निवसेद्वृत्तिकर्शितः) जीविका के विना दुःखित हुआ शूद्र जीविकार्थ जिस किसी देश में भले ही वसे अर्थात् जीविका के विना दुःखी न हो तो वह भी आर्यों के ही समीप वसे। आर्यशब्द सामान्यकर सज्जन का वाचक है इसी से शूद्रों में भी सज्जन आर्य हो सकते और अधिकांश में

द्विज आर्य ही कहते हैं। आर्य किसी विशेष वर्ण का वा सामान्य वर्ण का पर्यायवाचक नाम नहीं किन्तु नास्तिक म्लेच्छादि में भी जो सज्जन सत्यवादी पंच कहने योग्य हो वह आर्य माना जायगा। आर्य अनार्य का स्वभाव वा विचार नहीं मिलता इस कारण सामान्य कर आर्यों का अनार्यों में निवास निषिद्ध है ॥

भा०—विशेष कर द्विजाति लोग ही वेदोक्त यज्ञादि कर्मों को करते और कर सकते हैं इस कारण उन का म्लेच्छदेश वा म्लेच्छसमुदाय ग्रामादि में निवास होने से वेदाध्ययनादि में विघ्न और धर्म की हानि होना सम्भव है ऐसा मान कर उन के साथ कभी न बसना चाहिये। और यद्यपि म्लेच्छों से शूद्रों की भी भिन्न प्रकृति होने के कारण म्लेच्छसमुदाय में बसने से उन को किसी प्रकार दुःख ही होना सम्भव है इसी लिये जीविका से दुःखित होने की दशा में बसे ऐसा कहा है। तथापि वैदिकधर्म की विशेष हानि नहीं इस से शूद्र जहां कहीं बसे ऐसा कहा गया ॥२४॥

एषा धर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्त्तिता ॥
सम्भवश्चास्य सर्वस्य वर्णधर्मान्निबोधत ॥२५॥

अ०—भृगुर्वदति—हे श्रोतारो महर्षयः ! एतदध्यायारम्भाच्चतुर्विंशतिपद्यैरेषा धर्मस्य योनिः शुद्धान्तःकरणादिरूपं धर्मनिःसरणस्थानं वो युष्मभ्यम् समासेन प्रकीर्तिता कथितं तथाऽस्य सर्वस्य जगतः सम्भव उत्पादः समासेनोक्तः। इदानीं वक्ष्यमाणप्रकारेण ब्राह्मणादिवर्णानां धर्मान्मयोच्यमानान्यूयं निबोधत ॥

भा०—वेदस्मृत्याप्तान्तःकरणानि धर्मनिःसरणहेतुत्वाद्धर्मयोनयः, यथा दुर्जनेषु प्रायेण निवसन् तैरेव च व्यवहरन् मैत्रीं वा रक्षन् दुःसंगफलं दुर्जनत्वं प्राप्नोति तथैव धर्मात्मनां प्रदेशे तैरेव सहाचरन् प्रायेण धर्मात्मत्वं प्राप्नुयादिति सम्भवति तेन धर्मप्रधानो देशोऽपि धर्मस्य कारणं भवति नहि वेदादिकारणमन्तरा धर्मस्य प्रवृत्तिः सम्भवति यः कोऽपि चिन्तया बहुकालं वेदं स्मृतीराप्तोपदेशं धर्मप्रधानं प्रदेशं चाश्रयति भवत्येवासौ धर्मात्मा। आश्रमा अपि वर्णैरेव सेव्या अत आश्रमादीनां धर्मा अपि वर्णधर्मा एव। तत्र केचित्सामान्यधर्माः केचिच्च विशेषधर्मास्ते यथायथं व्याख्यास्यन्ते ॥ २५ ॥

भाषार्थः—भृगु जी कहते हैं कि हे श्रोता महर्षि लोगो ! इस अध्याय के आरम्भ से चौवीश श्लोकों द्वारा (एषा धर्मस्य योनिः) यह शुद्धान्तःकरणादिरूप धर्म के निकलने का स्थान (वः,समासेन,प्रकीर्त्तिता) तुम्हारे लिये संक्षेप से कहा (च) और (अस्य सर्वस्य सम्भवः) इस सब जगत् की उत्पत्ति भी प्रथमाध्याय में संक्षेप से कही । अब वक्ष्यमाण रीति से (वर्णधर्मान्निबोधत) ब्राह्मणादि वर्णों के कर्त्तव्य मैं कहूंगा सो तुम लोग सुनो और जानो ॥

भा०—वेद स्मृति और आप्तों का अन्तःकरण ये धर्म निकलने के हेतु वा स्थान हैं इस कारण इन को धर्मयोनि माना है । जैसे दुर्जनों में प्रायः रहने और उन के साथ व्यवहार वा मित्रता रखने से कुसंग का फल दुर्जनता प्राप्त होती वैसे धर्मात्माओं के देश वा सहवास में रहने और उन्हीं के साथ अधिकांश व्यवहार करने से धर्मात्मा होना अधिक सम्भव है । इस से धर्म की जहां प्रधानता हो ऐसा देश भी धर्म का कारण वा स्थान है । वेदादि कारण के विना धर्म की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, जो कोई चिन्ता के साथ बहुत काल तक वेदों, स्मृतियों, आप्तों के उपदेशों और धर्म प्रधानदेश का आश्रय करता अर्थात् उन के पठन-पाठनादि में लगा रहता वह धर्मात्मा हो ही जाता है । ब्रह्मचर्यादि आश्रम भी ब्राह्मणादि वर्णों के ही कर्त्तव्य हैं इस से आश्रमादि के धर्म भी वर्णधर्म ही माने जायंगे । उन में कोई सामान्य धर्म कोई विशेष धर्म हैं उन सब का यथोचित व्याख्यान किया जायगा ॥ २५ ॥

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ॥
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥२६॥

अ०—सम्प्रति सप्तषष्टपद्यावधि गर्भाधानादिनैमित्तिकसंस्काराणां समासतो व्याख्यानमुच्यते । द्विजन्मनां पुण्यैर्वैदिकैर्वेदोक्तैः कर्मभिःप्रेत्य चेह च पावनो निषेकादिशरीरसंस्कारः कार्यः ॥

भा०—अत्र संस्कार इति जातिपरत्वादेकवचनम् । संस्काराणां विधानानि तु गृह्यसूत्रादिषु द्रष्टव्यान्यत्र तु तेषां धर्मसंचयहेतुत्वात्कर्त्तव्यत्वेन विधानं तदर्थवादाश्चोच्यन्ते । विशिष्टं च कर्त्तव्यं यद्गृह्यसूत्रादिषु न दृश्यते तदप्युच्यते ब्राह्मणादिद्विजानां वेदमन्त्रैरेव गर्भाधानादयः संस्काराः कर्त्तव्या इति कथनेन कल्पितमन्त्रैरमन्त्रका वा न कार्या इत्यपि विज्ञाप्यते । यद्यपि शरीरस्यैव

संस्करणेन मनो बुद्धिरिन्द्रियशक्तिर्जीवात्मा च सर्वाणि संस्क्रियन्ते तथापि बाह्यक्रियया शरीरस्यैव संस्कारः कर्त्तुं शक्यते यथा च मार्जनोपाञ्जनादिभिः सद्यैव संस्क्रियते तेन च कर्मणा तत्र निवसतां मनः प्रसीदति संस्क्रियते च तद्द्वारेण चात्मापि प्रसीदति। प्रसादः संस्कारश्चेत्यनर्थान्तरम्। पापमशुद्धिर्ग्लानिः कुवासनाऽधर्मो मालिन्यमित्यादीनां सामान्येनैक्यमेवास्ति तथा पुण्यं शुद्धिर्हर्षः प्रसादः सुवासना धर्मो नैर्मल्यमित्यादयश्च पुण्यकोटिस्थाः। संस्कारैश्च शरीरात्ममनसां परम्परया संशोधनं प्रसादश्चोपजायते तेन च कुवासनामालिन्यरूपं पापं प्रज्वालितप्रदीपप्रदेशे तम इव निवर्त्तते पुण्यं च संचीयते स एव धर्मस्तेन चेहामुत्र च सुखमेव संजायते तस्मात्संस्काराः कल्याणमीप्सुभिर्द्विजैर्धर्मबुद्ध्याकार्याः ॥ २६ ॥

भाषार्थः—अब यहां से सरसठ ६७ वें श्लोक पर्यन्त गर्भाधानादि नैमित्तिक संस्कारों का संक्षेप से व्याख्यान करते हैं (द्विजन्मनाम्) ब्राह्मणादि द्विजों का (प्रेत्य चेह च पावनः) इस जन्म और जन्मान्तर में कुसंस्काररूप पाप को हटा कर पवित्र करने वाला (निषेकादिः शरीरसंस्कारः) गर्भाधानादि शरीर का संस्कार (पुण्यैर्वैदिकैः कर्मभिः कार्यः) पुण्यस्वरूप वेद मन्त्रों द्वारा गृह्य सूत्रादि में कहे अनुसार करना चाहिये ॥

भा०—इस श्लोक में संस्कार पद के जातिवाचक होने से एक वचन है। संस्कारों के विधान तो गृह्यसूत्रादि में हैं। यहां तो केवल धर्मसञ्चय के हेतु होने से कर्त्तव्य मान कर उन के करने की आज्ञा वा प्रेरणा और उन के प्रयोजनरूप अर्थवाद तथा जो गृह्यसूत्रादि में नहीं दीखता वह संस्कारों के विषय में विशेष विचार कहा गया है। ब्राह्मणादि द्विजों का वेदमन्त्रों से ही गर्भाधानादि संस्कार करना चाहिये इस कथन से कल्पित मन्त्रों वा मन्त्रों को छोड़ के नहीं करना चाहिये यह भी जताया गया है। यद्यपि शरीर के ही शुद्ध करने से मन बुद्धि इन्द्रियों की शक्ति और जीवात्मा इन सब की शुद्धि होती है। तो भी बाहिरी क्रिया से केवल शरीर का ही संस्कार किया जा सकता है। जैसे झाड़ू देने वा लीपने आदि द्वारा घर की शुद्धि की जाती है और उस कर्म से उस घर में बसने वालों का मन प्रसन्न और शुद्ध होता तथा मन के प्रसन्न होने से आत्मा को भी प्रसन्नता प्राप्त होती ग्लानि दूर होती है वैसे ही शरीररूप घर की गर्भा-

धानादि संस्कारों द्वारा शुद्धि होने से मन और आत्मा की शुद्धि वा प्रसन्नता होती है। पाप, अशुद्धि, ग्लानि, बुरी वासना, अधर्म और मलिनता आदि सब एक कोटि के और पुण्य, शुद्धि, हर्ष, प्रसन्नता, संस्कार, सुवासना, धर्म और निर्मलतादि सब पुण्य कोटि के हैं। विशेष कर मन और आत्मा की शुद्धि धर्म वा पुण्य कहाती और उन्हीं की अशुद्धि वा ग्लानि पाप वा अधर्म है। गर्भाधानादि संस्कारों से शरीर आत्मा और मन की शुद्धि वा प्रसन्नता होती है। और उस से कुवासना मलिनतारूप पाप 'दीपक जलाये घर में अन्धकार के तुल्य, दूर हो जाता और प्रकाश वा शुद्धिरूप पुण्य का सञ्चय होता जाता है। वही धर्म है उस से जन्मजन्मान्तरों में सुख ही मिलता है इस से कल्याण चाहने वाले द्विजों को अपना धर्म मान कर संस्कार करने चाहिये ॥२६॥

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥२७॥

अ०-सम्प्रति पद्यद्वयेन षड्विंशपद्योक्तविधेरर्थवाद उच्यते-गार्भैर्गर्भे गर्भावस्थायां कृताः कर्त्तव्या यद्वा गर्भे गर्भसम्पादने कुशला गार्भास्तैः। कृतलब्धक्रीतकुशला इत्यण् शैषिकः। होमैरिति पदमुपलक्षणार्थं होमस्य सर्वकर्मसु प्रधानत्वात्। तेन गर्भाधानपुंसवनसीमन्तोन्नयनकालेषु प्रसवावधि क्रियमाणैर्होमादिकर्मभिर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनादिभिश्च विधिविहितकर्मभिर्बैजिकं पितृबीजादागतं गार्भिकं मातुर्गर्भाशयाच्छोणितदोषादागतं द्विजानां द्विजभाविनां द्विजापत्यानामेनः पापमदृष्टं मालिन्यमपमृज्यते ॥

भा०-गर्भाधानकालमारभ्यापुंसवनाद्गर्भस्थित्यै यानि यानि पथ्यसात्त्विकान्नाशनशुभाचरणानि ग्रन्थान्तरेषु गर्भिण्यर्थं विधीयन्ते तानि च सामान्यतया सर्वाण्येव गर्भाधानपदेन ग्राह्याणि यतः सर्वैरेव गर्भ आधीयते। होमोद्भवशुद्धवायुभक्षणेन मातृद्वारा गर्भशुद्धिः। पुंसवने क्षीराभिषुतौषधिरसपानेन, गर्भकाले सदा शुद्धसंस्कृतसात्विकान्नाशनेन, शुद्धवायुसेवनेन, संस्कारकालेऽन्यदा

वा परमात्मनो वेदमन्त्रैः स्तुतिप्रार्थनोपासनाभिः, स्नानादिना शरीरसंस्कारेण, शुद्धनिर्मलवस्त्रधारणेन, शुद्धस्थानवासेन, शुद्धधर्मोपदेशश्रवणादिना च क्षेत्रसंस्कारेण शुद्धसस्योत्पत्तिवच्छुद्धाः संस्कृता एव पुत्रा उत्पद्यन्ते। वृक्षस्य मूले यादृशमुदकं सिच्यते यादृशं च खाद्यं दीयते तादृशगुणानि वृक्षफलानि यथा भवन्त्येवं शुद्धभोज्यपेयादिनापि गर्भस्थः शुध्यति। पुंसवनादिसंस्काराणामपि भाविसंस्कारावधि कालो बोध्यस्तावति काले यद्यत्कृत्यं तत्तत्सर्वं संस्कारान्तर्गतमेव बोध्यम्। सर्वकार्याणां च प्रधानकालकृत्यं तत्तत्कार्य्यवाचिपदवाच्यं भवति। यथा विवाहपदं सामान्येन वाग्दानादिचतुर्थीकर्मावधि सर्वस्यैव क्रियाकलापस्य वाचकमस्ति तथाप्येकदिवसस्य सप्तपद्यावधि कृत्यमेव प्रधानतया विवाहपदवाच्यं भवति तथैवात्रापि गर्भाधानादिसंस्कारेषु प्रधानकालकृत्यं तत्तत्पदवाच्यं विवक्षितं सामान्येन तु प्रधानकालारम्भादागामिसंस्कारकालावधि यद्यत्कृत्यं तत्तत्सर्वमेव संस्कारपदवाच्यं बोध्यम्। यथोपनयनवेदारम्भकालात्समावर्त्तनावधि यद्यत्कृत्यं ब्रह्मचारिणस्तत्तत्सर्वं द्विजत्वसम्पादकत्वात्संस्कारवाच्यमस्ति। सर्वेणैव च वेदाध्ययनादिब्रह्मचर्यकालीनकृत्येन संस्कृतो द्विजः सम्पद्यते नतु केवलेन सूत्रस्य धारणेनैकमन्त्रस्याध्ययनमात्रेण वा। कुत्रचित्प्रधानकालीनकृत्यमेव व्यवहारे विवक्षितं भवति यथाद्य मम गृहे विवाहोस्ति। कुत्रचिच्च सामान्यतया सर्वमेव कृत्यं संस्कारपदेन ग्राह्यं भवति। यथा द्विजत्वसम्पादनादौ। एवमत्रापि संस्कारसामान्यमेव विवक्षितं बोध्यम्। यथा प्रक्षालनादिना वस्त्रं, मार्जनादिसंस्कारेण च गृहं पूयते मालिन्यं च निवर्त्तते तथैव शौचानुष्ठानेन शुद्धसात्त्विकाहारादिना च शरीरं, पावनप्रधानपरमन्त्रप्रयोगेण शुद्धसंस्कारोपचायकेन मन आत्मा च पूयते कुसंस्काररूपमेनश्च निवर्त्तते तस्माद् विधिना सम्यक्-

संस्कृताः शुद्धा निष्पापा धर्मात्मानः पुत्रा भवन्तीति संस्कारा अवश्यं कार्याः ॥२७॥

भावार्थः—अब छब्बीसवें श्लोक में कहे विधिवाक्य का दो श्लोकों से अर्थ वाद कहते हैं (गार्भैः, होमैः) गर्भस्थिति समय में सन्तानोत्पत्ति से पूर्व २ किये जाने वाले वा गर्भस्थ सन्तान के अच्छे बनने के निमित्त विधान किये गर्भाधान, पुंसवन और सीमन्तोन्नयन कालों में किये जाने वाले होमादि कर्मों और (जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः) जातकर्म, मुण्डन और यज्ञोपवीत वेदारम्भादि विधिविहित कर्मों के यथावत् करने से (द्विजानाम्) द्विज होने वाले द्विजों के अपत्यों का (बैजिकं गार्भिकं चैनः) पिता के बीज से वा माता के गर्भाशयस्थ रुधिर से आया पाप दोष अर्थात् अदृष्ट मलिनता (अपमृज्यते) दूर होती है। अर्थात् गर्भाधान से पूर्व और गर्भाधान के समय माता पिता के विरुद्ध तमोगुणी आहार, निकृष्ट आचार, पापकर्मादि की बुरी वासना, व्यभिचार, कामासक्ति की चेष्टादि होने से आर्त्तव और बीज में दोष वा मलिनता रोगादिजन्य दुःखों का कारण उत्पन्न होती है उस के हेतु गर्भस्थ सन्तान के पूर्वजन्मकृत कर्म हैं इस से वे उस के संचित पाप वा दोष दुःखों के हेतु हो जाते हैं उन की शुद्धि संस्कारों द्वारा करनी आवश्यक है॥

भा०—गर्भाधान के समय से लेकर पुंसवन पर्यन्त गर्भ स्थिति के लिये जो २ पथ्य वा सात्त्विक दूध भात आदि के भोजन वा शुभ आचरण ग्रन्थान्तरों में गर्भिणी स्त्री के लिये कहे गये हैं वे सामान्य कर सभी गर्भाधान पद से ग्राह्य हैं क्योंकि उन सभी कर्त्तव्यों से गर्भ की स्थिरता वा पुष्टि होती है। होम से उठे शुद्ध वायु के भक्षण से माता के द्वारा गर्भ की शुद्धि होती है। पुंसवन संस्कार में दूध में पकायी ओषधि का रस नासिका द्वारा गर्भिणी को पिलाने, गर्भ के समय में सदा शुद्ध संस्कृत सात्त्विक निष्टप्राय अन्न के भोजन, शुद्ध वायु के सेवने, संस्कार के समय वा अन्य काल में वेद मन्त्रों द्वारा परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना प्रायः वा नित्य करने कराने, स्नानादि से शरीर की नित्य शुद्धि करने, शुद्ध निर्मल वस्त्रों के धारण करने, शुद्ध स्थान में रहने और शुद्ध धर्मोपदेशादि के सुनने से खेत की शुद्धि से अन्नादि की शुद्ध उत्पत्ति होने के समान गर्भिणी के संस्कारों से शुद्ध संस्कृत धर्मात्मा पुत्र उत्पन्न होते हैं। जैसे वृक्ष की जड़ में जैसा जल और खात दिया जाता है वैसे ही गुणों वाले उस वृक्ष के फल होते हैं इसी प्रकार गर्भिणी के शुद्ध भोज्यपेयादि से गर्भस्थ सन्तान शुद्ध होता है। और पुंसवनादिसंस्कारों का भी आगामी संस्कार के समय तक काल जानना चाहिये और उतने काल में जो २ कृत्य होता है उस सब का नाम पुंसवनादिसंस्कार है। संसार के सभी कामों के प्रधान [खास] काल का कर्त्तव्य उस २

कार्यवाची पद का मुख्यार्थ माना जाता है । जैसे यद्यपि सामान्य कर वर पक्का करने के समय से चतुर्थीकर्म पर्यन्त सभी क्रियासमुदाय का नाम विवाह है तथापि एक दिन में होने वाला सप्तपदीपर्य्यन्त वेदी पर हुआ कृत्य मुख्यकर विवाह कहाता है, वैसे ही यहां भी गर्भाधानादिसंस्कारों में प्रधान समय का कर्त्तव्य उस २ पद का अर्थ प्रायः माना जाता है परन्तु सामान्य कर प्रधान समय से लेके आगामिसंस्कार के प्रधान काल पर्यन्त जो २ शुभ कर्त्तव्य इष्ट सिद्धि के लिये होना चाहिये वह सभी संस्कार पद का अर्थ जानो । जैसे उपनयन और वेदारम्भकाल से लेकर समावर्त्तन होने तक ब्रह्मचारी को द्विज बनने के लिये जो २ कुछ कर्त्तव्य है वह सभी संस्कार पद का अर्थ है । क्योंकि ब्रह्मचर्यकाल के वेदाध्ययनादि सभी कर्त्तव्य से संस्कृत वा शुद्ध हुआ मनुष्य द्विज बनता है किन्तु केवल सूत के धागा यज्ञोपवीत के धारण और एक गायत्री मन्त्र के उपदेशमात्र से कोई द्विज नहीं बनता । व्यवहार में कहीं संस्कारों के प्रधान समय का कृत्य ग्रहण किया जाता जैसे कोई कहे कि आज मेरे घर में विवाह है तो यहां प्रधान समय का कर्त्तव्य विवाह पद का अर्थ लेना है । और कहीं सामान्य कर सभी कृत्य संस्कार पद से लिया जाता है । जैसे द्विज बनने के लिये यज्ञोपवीत वेदारम्भादि में । वैसे यहां भी सामान्य संस्कार के कर्त्तव्य की विवक्षा जानो । जैसे पछारने आदि संस्कार से वस्त्र और झाड़ने आदि संस्कार से घर की पवित्रता होती और मलिनता दूर होती है वैसे ही शौचधर्म के सेवने और शुद्ध सात्त्विक आहारादि से शरीर तथा शुद्धसंस्कारों को मन में संचित करने वाले पवित्रस्वरूप पवित्रकारकों में सर्वोपरि प्रधान वेदमन्त्रों के प्रयोग से मन और आत्मा पवित्र होते तथा कुसंस्काररूप पापों की निवृत्ति हो जाती है इस कारण विधिपूर्वक सम्यक् संस्कार किये गये सन्तान शुद्ध निष्पाप और धर्मात्मा होते हैं इस लिये अवश्य संस्कार करने चाहिये ॥ २७ ॥

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ॥
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥२८॥

अ०—त्रिविद्यानामयं त्रैविद्यस्तेन प्रधानतया त्रिविधविद्यायुक्तेन वेदचतुष्टयस्य ब्रह्मचर्याश्रमदशास्थस्वाध्यायेन, व्रतैश्चान्द्रायणादिभिर्मद्यमांसादिवर्जननियमैर्वा, होमैः पर्वादिकाले क्रियमाणैर्दर्शपौर्णमासादिनामकैः, इज्ययाऽग्निष्टोमज्योतिष्टोमादिरूपया, सुतैः सुयोग्यसन्तानोत्पादनेन, महायज्ञैर्ब्रह्मयज्ञादिनि-

त्यकर्मभिः, यज्ञैश्च तपोयज्ञयोगयज्ञज्ञानयज्ञादिभिश्च शरीरात्मम-
नसां संस्कारैः संस्कृतेयं तनुश्चैतन्यविशिष्टा ब्राह्मी ब्रह्मभक्तिपरा
मनुष्येण क्रियते कर्त्तुं वा शक्यते ॥

भा०-यइच्छेत्सर्वमनिष्टं दुःखं जह्यां निरतिशयमिष्टं सुखं
चाप्नुयामिति तेनाश्रमत्रये नियमेन वेदाध्ययन-तदुक्तधर्म्यकर्म-
सेवन-धर्मपुरस्सरसन्तानोत्पादन-तपोयोगज्ञानयज्ञादिभिश्चर्ण-
त्रयमपाकरणीयं कुसंस्काररूपाणि पापानि च शोध्यानि, तदा स
सर्वथा सर्वतश्च शुद्धः सर्वमनिष्टं दुःखं विहाय, सर्वं चेष्टसुखमवाप्य
मुक्तिदशायां सर्वथा सर्वदा शुद्धमानन्दमयं ब्रह्माप्नोति ॥ २८ ॥

भाषार्थः-(त्रैविद्येन स्वाध्यायेन) मुख्य कर तीन प्रकार की विद्या से युक्त चारों वेदों को नियमानुसार पढ़ने जानने (व्रतैः) चान्द्रायणादि वा मद्य मांसादि के त्यागसम्बन्धी नियमों (होमैः) पर्वादि तिथियों में किये जाने वाले दर्शेष्टि पौर्णमासेष्टि आदि नामक यज्ञों (इज्यया) अग्निष्टोम ज्योतिष्टोमादि नामक बड़े २ यज्ञों (सुतैः) सुयोग्य सन्तानों के उत्पन्न करने (च) तथा (महायज्ञैः) ब्रह्मय-ज्ञादि पांच नित्य कर्त्तव्य महायज्ञों (च) और (यज्ञैः) तपोयज्ञ योगयज्ञ वा ज्ञानयज्ञादि कर्त्तव्यों द्वारा शरीर आत्मा और मन के संस्कारों से शुद्ध किये गये (इयम्) इस चेतनविशिष्ट (तनुः) शरीर को (ब्राह्मी क्रियते) ब्रह्म की भक्ति में परायण करते वा कर सकते हैं ॥

भा०-जो पुरुष चाहे कि मैं सब अनिष्ट दुःख को छोड़ूं और सर्वोपरि इष्ट सुख को प्राप्त होऊं उस को उचित है कि ब्रह्मचर्यादि तीन आश्रमों में रह कर नियम से वेदाध्ययन, वेदोक्त कर्मों का सेवन, धर्मानुकूल सन्तानों की उत्पादन, तप योगाभ्यास और ज्ञानयज्ञादि के सेवन से तीनों प्रकार के ऋण चुकावे और कुसंस्काररूप पापों को धोडाले तब वह सब ओर से सब प्रकार शुद्ध हुआ सब अनिष्ट दुःख को त्याग और सब इष्ट सुख को पाकर मुक्ति दशा में सर्वदा सब प्रकार शुद्ध आनन्दस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त हो सुखी होता है ॥ २८ ॥

प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते ॥
मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम् ॥२९॥

अ०-नाभिवर्धनान्नालच्छेदात्प्राक् पूर्वं गृह्यसूत्रादिषु पुंसो जातकर्म विधीयते तदानीमेवास्य सद्योजातस्य दारकस्य हिर-

एयमधुसर्पिषां सुवर्णचूर्णमिश्रितयोर्मधुसर्पिषोर्मन्त्रवन्मन्त्रोच्चारणपुरस्सरं प्राशनं कारयितव्यम् ॥

भा०—आयुर्वेदसुश्रुतस्य चिकित्सास्थानस्थमेधायुष्करणीयरसायनप्रकरणउक्तम्—"गव्यं सर्पिः सुवर्णं च तृतीयं माक्षिकं मधु । मेध्यमायुष्यमारोग्यपुष्टिसौभाग्यवर्धनम्" ॥ गृह्यसूत्रादिष्वपि मधुसुवर्णसर्पिषां प्राशनकर्मणो मेधाजननमिति नाम धृतम् । मेधां ते देवः सविता आदधात्वित्यादिमन्त्रैरपि मेधैव प्रार्थ्यते तस्मात्पावनवस्तुप्राशनेन, पावनतमवेदमन्त्रैः प्रार्थनेन च जातकर्मणि मेधाजननमेव प्रधानं कृत्यम् । तदिदमादावन्यत्पयआदिपानात्प्राक् प्राशनीयमिति विशिष्टं विधानं नत्वन्यदा प्राशनं प्रतिषिद्धमपितु शुभं सर्वदैव कल्याणकरमित्यन्यदापि तादृशवस्तुनः प्राशनं कारयितव्यमेव। सर्वे च संस्काराः प्रधानाप्रधानभावेन पावनस्याङ्गभूताः सन्ति तत्र सर्वैरेव सम्यक्क्रियमाणैः सर्वं पूयते । न्यूनैश्च न्यूनमेव पावनं बोध्यम् । छिन्ने च नाले बालश्चेतसा व्याकुलः स्यादिति सम्भवति । भृशं रुदति च बाले सम्यक् प्राशनं न सम्भवत्यतो नालच्छेदात्प्राग्बालशरीरमुष्णोदकेन मृदा च संशोध्य प्राशनं कारयितव्यमिति विधिः । केचित्तु नालच्छेदात्प्राक्सूतकं न भवति परं च भवतीति मन्यन्ते सूतकदशायां संस्कारनिषेधं मत्वा नालच्छेदात्प्राक्संस्कारविधानस्य प्रयोजनं वदन्ति । तदस्माकं न रोचते यतो गर्भाशयाद्बहिर्निस्सरणमेव प्रसवार्थः सूतकपदमपि तस्मादेव धातोर्निष्पन्नं यदा बालो निस्सरति तदा प्रसूयते यदा च प्रसूयते तदैव सूतकं भवति । सूतके च विहितमेव जातकर्म तस्मान्नालच्छेदात्प्राक्कार्यम् ॥ २९ ॥

भाषार्थः—(नाभिवर्धनात्प्राक् पुंसो जातकर्म विधीयते) पृथिवी पर गिरते ही बालक के शरीर को शुद्ध करके नाल काटने से पूर्व ही गृह्यसूत्रादि में बालक के जातकर्मसंस्कार का विधान किया है और उस में प्रधान कर्त्तव्य यह है कि (अस्य हिरण्यमधुसर्पिषां मन्त्रवत्प्राशनं विधीयते) इस बालक को सुवर्ण मधु

और गौ का घृत तीनों मिलाकर "मेधां मे देवः स० " इत्यादि मन्त्रों को पढ़ते हुए चटाना चाहिये यह विधान भी गृह्यसूत्रादि से विशेष कर जानो ॥

भा०-आयुर्वेदनामक सुश्रुत के चिकित्सास्थानसम्बन्धी मेधायुष्करणीय रसायनप्रकरण में लिखा है कि "गौ का घी सुवर्ण का चूर्ण और मक्खियों का मधु [शहद] ये तीनों वस्तु बुद्धि आयु आरोग्य और पुष्टि को बढ़ाने वाले हैं" गृह्यसूत्रादि में भी मधु सुवर्ण और गोघृत के चटानेरूप जातकर्म का नाम मेधाजनन रक्खा है। सो यह मेधाजनक वस्तु बालक के उत्पन्न होते ही अन्य दूध आदि पिलाने से पूर्व चटाना चाहिये यह विशेष विधान है किन्तु अन्य समय प्राशन का निषेध नहीं क्योंकि शुभकर्म सदा ही कल्याणकारी है इस कारण वैसे पदार्थ अन्य समय भी खिलाने चटाने उचित ही हैं। सभी संस्कार प्रधान वा गौणभाव से पवित्रता वा मनुष्य के सर्वविध सुधार के अङ्ग हैं सो यदि ठीक २ सब संस्कार किये जायं तो सब प्रकार की पूरी शुद्धि वा सुधार होता और कम करने से शुद्धि भी कम होती है। नाल कटने पश्चात् पीड़ा पहुंचने से बालक चित्त से कुछ व्याकुल हो यह सम्भव है और अधिक रोते हुए बालक को प्राशन ठीक नहीं हो सकता इसलिये नाल काटने से पहिले ही बालक के शरीर को गर्मजल और मट्टी से शुद्ध करके प्राशन कराना चाहिये यह विधान है। इस विषय में कोई लोग नालच्छेदन से पहिले सूतक नहीं होता किन्तु पीछे होता है ऐसा मानते तथा सूतकदशा में संस्कार का निषेध मानकर नालच्छेदन से पहिले संस्कार विधान का प्रयोजन कहते हैं सो यह हम को रोचक वा ठीक नहीं विदित होता क्योंकि गर्भाशय से बाहर निकलना ही उत्पन्न होना है और सूतक वा प्रसव शब्द एक ही धातु से बने हैं जब बालक निकलता तभी उत्पन्न होता और जब उत्पन्न होता तभी सूतक हो जाता है और सूतक में नालच्छेदन का विधान ही है इस कारण नालच्छेदन से पहिले ही जातकर्म संस्कार करना चाहिये ॥ २९ ॥

नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वाऽस्य कारयेत्॥
पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते॥३०॥

अ०—अस्य शिशोर्जन्मदिवसाद्दशम्यां द्वादश्यां वा तिथौ नामधेयं स्वयं पिता कुर्यादसत्यां च शास्त्रानुकूलनामकरणशक्तावन्येन कारयेत्। यद्यन्यकार्यासक्तत्वाद्दशम्यां द्वादश्यां वा कर्तुमशक्तश्चेत्तदाऽन्यस्मिन्पुण्ये यज्ञपर्वादितिथौ चेतोग्लानिकरविशि-

धूपांसुवर्षादिवर्जिते चेतःप्रसादके पुण्ये मुहूर्त्ते पूर्वाह्णादिसमये गुणान्विते पुष्यादिनक्षत्रे कुर्यात्कारयेद्वा । नक्षत्राणि स्वस्वनामार्थेन गुणावगुणपराणि प्रत्येतव्यानि ॥

भा०—अन्यग्रन्थेषु क्वचिदेकादश्यामपि तिथौ नामकरणं विधीयते तेन दिनत्रये स्वानुकूल्यं दृष्ट्वा नाम कार्यम् । वेदाङ्गज्योतिषशास्त्रे चतुर्दश्यमावस्याऽष्टमीपौर्णमासीपर्वतिथिष्वेव प्रायेण यज्ञा विधीयन्ते पर्वतिथिषु सृष्टौ पवित्रगुणानां प्रादुर्भावात्तासां पुण्यत्वम् । नक्षत्राणां च नामान्यर्थवन्ति तत्र शुभार्थबोधकनक्षत्रेषु वर्णानुकूलं नक्षत्रनामार्थमालोच्य तस्मिन्नक्षत्रे नाम कार्यम् । शतभिषज्पूर्वादिषु ब्राह्मणस्य, अभिजित्पुष्यादिषु क्षत्रियस्य, धनिष्ठाभरण्याश्लेषादिषु वैश्यस्य, उत्तरादिषु शूद्रस्य नाम कार्यम् । यादृशार्थेन नक्षत्राणां नामानि वेदादिषु रक्षितानि तादृशगुणप्रादुर्भावस्तद्दिने बोध्यः ॥३०॥

भाषार्थः—(तु) और (दशम्यां द्वादश्यां वा) जन्मदिन से दशवें वा बारहवें दिन (अस्य नामधेयं कारयेत्) इस उत्पन्न बालक का नाम स्वयं पिता करे यदि शास्त्र न पढ़ने से पिता को ठीक नाम धरने की शक्ति न हो तो अन्य विद्वान् पुरुष से नाम धरावे । यदि किसी प्रकार की रुकावट से दशवें वा बारहवें दिन नामकरणसंस्कार न कर सके तो अन्य यज्ञसम्बन्धी पर्वतिथि में, चित्त बिगाड़ने वाली धूलि वर्षा आंधी आदि जिस समय न हो ऐसे चित्तप्रसादक प्रातःकालादि समय में और अच्छे नामार्थ वाले पूर्वापुष्यादि नक्षत्र जिस दिन हों ऐसे किसी दिन नामकरणसंस्कार करलेवे ॥

भा०—अन्य ग्रन्थों में कहीं २ ग्यारहवें दिन भी नामकरण का विधान किया है इस से अपनी अनुकूलता देख दशवें ग्यारहवें वा बारहवें तीन दिनों में किसी दिन नाम धरे। ज्योतिष नामक वेदाङ्ग में चतुर्दशी अमावास्या पौर्णमासी और अष्टमी इन पर्वतिथियों में ही प्रायः यज्ञों का विधान किया है । पर्वतिथियों के समय सृष्टि में पवित्र उत्तम गुणों का प्रादुर्भाव होता है इस से वे पुण्य तिथि हैं । और नक्षत्रों के नाम सार्थक हैं इस लिये शुभ अर्थ जताने वाले नक्षत्रों में नक्षत्र के नाम का अर्थ बोध के उसी नक्षत्र में नाम करना चाहिये । जैसे शतभिषज्, पूर्वादि नक्षत्रों में ब्राह्मण का, अभिजित्–पुष्यादि में क्षत्रिय का, धनिष्ठा भरणी आश्लेषादि में वैश्य का और उत्तरादि नक्षत्रों में शूद्र का नाम करे ।

जैसे अर्थ से जिन २ नक्षत्रों के नाम वेदादि ग्रन्थों में रक्खे वा माने गये हैं। वैसे गुणों की प्रकटता उस नक्षत्र के दिन जाननी चाहिये ॥ ३० ॥

मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम् ॥
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ॥३१॥
शर्मवद् ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम् ॥
वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम् ॥३२॥

अ०—कस्य कीदृशं नाम रक्षणीयमिति पूर्वस्यैव विधिवाक्यस्यानुवादः। वेदोक्तधर्म्यकार्याणामुत्सवो मङ्गलं तस्मिन् मङ्गले विद्याधर्मप्रचारे साधु यद्वा मङ्गलाय विद्याधर्मप्रचाराय हितमर्थाद्वेदादिशास्त्रस्य धर्मस्य च प्रचारार्थबोधनपरं शर्म्मपदान्तं ब्राह्मणस्य नाम कार्यम्। क्षत्रियस्य बलार्थबोधकं रक्षाद्योतकवर्म्मपदान्तं, वैश्यस्य धनपुष्टिबोधनपरं गुप्तान्तं, शूद्रस्य जुगुप्सितं निकृष्टार्थपरं सेवार्थपदान्तं नाम कार्यम् ॥

भा०—नामकरणेन बाह्यमाभ्यन्तरं वा बालस्य किं संस्करणमित्याशङ्क्यायामुच्यते। यथा च सम्प्रति कोटपाल इति कस्यचिदुपनाम रक्षितं तस्मिन्नेव कार्ये स नियुक्तो यदान्यैः प्रतिष्ठापरतया व्यवह्रियमाणं स्वस्य नाम पश्यति स्मरति वा तदा तदेव कार्यं कर्त्तुमुत्सहते प्रयतते च यथेममधिकारं मत्तोऽन्यः कश्चिन्नाददीत येनाहं निकृष्टदशामापद्येयेति भयेन स्वस्यैव कर्त्तव्यं कर्त्तुं प्रवर्त्तते। स्वाधिकारनामस्मरणेन दुष्कर्मभ्यश्च बिभ्यति जनास्तथैवात्रापि ब्राह्मणादीनामधिकारार्थपराणि प्रतिष्ठाप्रशंसाबोधकानि नामानि पूर्वमासन् तदा च ते स्वस्वनामस्मरणेन सत्कर्मसु प्रवर्त्तन्तेस्म दुष्कर्मभ्यश्च बिभ्यतिस्मेति शुभकर्मसु प्रवृत्तिहेतुत्वान्नामकरणस्य संस्कारत्वं सुवचमेव। सम्प्रति च येषां नाम्नां मानाय राजतो रक्षणं राजकर्मचारिषु वा प्रतिष्ठा-

र्थमधिकारबोधनाय रक्षणं क्रियते तानि नामानि तेषां तथाविधसंस्कारकराणि भवन्त्येव । साम्प्रतं वर्णाश्रमिणां राज्यं नास्त्यतएव वर्णधर्मबोधकनाम्नां प्रतिष्ठाऽप्रतिष्ठे अपि दूरं गते । शूद्रस्य कर्मानुकूलं निकृष्टार्थबोधकं चौरस्येव नामापि तत्कर्मतो ग्लानिकरत्वाच्छुभे प्रवर्त्तयति तस्मात्तस्यापि नामकरणं संस्कारकमेव बोध्यम् । वैदिकवर्णधर्मिणां राज्यकाल आसीदेव सम्प्रतीव प्रतिष्ठाऽप्रतिष्ठाहेतुकं नामकरणम् । तथासति तस्य संस्कारकत्वं सुवचमेव । वेदनिधिः, विद्यानिधिः, वेदबन्धुः, वशंवदः, वाचंयमः, सत्यव्रतः, तपोधनः, ब्रह्मदेवः, ब्रह्मबन्धुः, विश्वामित्रः, सर्वसहः, धर्मदत्तः, धर्मवीरः, सुखदेवः, सहदेवः, दयानिधिः, विप्रदेवः, ऊर्ध्वरेताः, यज्ञदत्तः, देवदत्तः, इत्यादीनि शर्मान्तानि ब्राह्मणस्य। जनमेजयः, पुरन्दरः, धनञ्जयः, शत्रुन्तपः, महीपालः, युधिष्ठिरः, भीष्मः, भीमसेनः, धृतराष्ट्रः, इत्यादिनामानि वर्मान्तानि क्षत्रियस्य । प्रियव्रतः, प्रियंवदः, विश्वम्भरः, महादेवः, रन्तिदेवः इत्यादिनामानि गुप्तान्तानि वैश्यस्य । देवदासः, द्विजदासः, इत्यादीनि शूद्रस्य दासान्तानि नामानि रक्षणीयानि । शर्मपदं विद्याधर्मसम्बन्धिसुखवाचकं, वर्म पदं लोहमयशरीरावरणवाचकं तद्वदन्येषां स्वबलेन रक्षकः क्षत्रियो वर्मा । गुप्तपदं रक्षितार्थबोधकं वैश्यपरम् । धनादिबाहुल्याद्विशेषतया राजतो रक्षार्हो वैश्यएव, दासपदं सेवकवाचकं सेवाधर्मश्च शूद्रस्यैव प्रधानं कर्मास्ति। एवं वर्णिनां नामानि स्वस्वगुणकर्मपराणि रक्षणीयानि । ब्राह्मणादीनामेकैकस्य कर्त्तव्येष्वपि यत्रांशे यस्मिन् गुणे वा योयः प्रधानो ज्ञायेत तस्य तस्य तादृगेव नाम कार्यम् ॥३१।३२॥

भाषार्थः—किस का नाम कैसा रखना चाहिये इसलिये पूर्वोक्तविधिवाक्य का अनुवाद वा विशेष व्याख्यान दिखाते हैं (मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्, शर्मवद्ब्राह्मणस्य स्यात्) वेदोक्त धर्मसम्बन्धी कार्यों का उत्सव मङ्गल कहाता उस मङ्गल के लिये उपयोगी अर्थात् वेदोक्त धर्मकर्म वा विद्यासम्बन्धी अर्थ का सूचक शर्मान्त

ब्राह्मण का । (क्षत्रियस्य बलान्वितम्, राज्ञो रक्षासमन्वितम्) क्षत्रिय का बलार्थ सूचक और रक्षावाची वर्मपदान्त । (वैश्यस्य धनसंयुक्तम्, वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तम्) लक्ष्मीचन्द, लक्ष्मण आदि धन संयुक्त तथा पुष्टि वा रक्षा संयुक्त गुप्तान्त वैश्य का और (शूद्रस्य तु जुगुप्सितम्, शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम्) निकृष्ट अर्थ का वाचक सेवार्थ दासादिपदान्त शूद्र का नाम रखना चाहिये। इस विषय में गृह्यसूत्रादि में कहे द्व्यक्षर, चतुरक्षर, घोषवत्, आद्यन्तःस्थ, कृदन्त आदि नामकरण के लक्षणों का निषेध नहीं है। किन्तु जो बात वहां नहीं कही उस का यहां कथन है और उस के अनुकूल भी करना चाहिये ॥

भा०–नाम धरदेने से बालक की भीतरी वा बाहरी क्या शुद्धि होती है ? इस शंका के उत्तर में कहाजाता है कि जैसे वर्त्तमान समय में कोतवाल आदि किसी अधिकारी का उपनाम रक्खा जाय और उसी काम पर वह नियत भी हो तो जब वह कोतवाल नाम से अन्यों के द्वारा अपनी प्रतिष्ठा वा प्रभुत्व बढ़ते देखता वा शोचता है तब उसी कार्य के करने का उस को उत्साह बढ़ता और वैसा ही प्रयत्न भी करता है कि मेरे इस अधिकार वा प्रतिष्ठा को अन्य कोई न लेले जिस से मैं नीचदशा को प्राप्त हो जाऊं इस भय से अपने ही कर्त्तव्य के करने को सावधानी से प्रवृत्त रहता है। और अपने अधिकारी नाम के स्मरण से बुराई से भी मनुष्य डरते हैं। वैसे ही यहां भी गुण कर्मों के अनुकूल ब्राह्मणादि के अधिकारार्थपरक प्रतिष्ठाप्रशंसाबोधक नाम रक्खे जाते थे वैसे ही काम भी उन को सौंपे जाते थे उन नामों से ही वे यथोचित योग्यायोग्य भी समझे जाते थे तब वे लोग अपने २ नाम के स्मरण से सत्कर्मों में प्रवृत्त होते और दुष्कर्मों से डरते भी थे। इस प्रकार शुभ कर्मों में प्रवृत्ति का हेतु होने से नामकरण संस्कार वा शुद्धि कहने योग्य ही है। वर्त्तमान समय में मान्य के लिये रायबहादुर सितारेहिन्द आदि नाम वा राजकर्मचारियों में प्रतिष्ठार्थ अधिकार जताने के लिये राज्य से डिपटी तहसीलदार आनरेरी मजिस्ट्रेट आदि नाम रक्खे जाते हैं वे नाम उन २ मनुष्यों को वैसा ही अभिमान वा हृदय में संस्कार अवश्य कराते हैं कि हम अमुक हैं, हमारा अमुक काम है, हम प्रतिष्ठित हैं, मान्य हैं वा बड़े हैं। इस वर्त्तमान समय में वेदमतानुयायी वर्णाश्रम धर्म वालों का राज्य नहीं है इसी कारण वर्णधर्म जताने वाले नामों की प्रतिष्ठा वा अप्रतिष्ठा नहीं रही। शूद्र का भी कर्मानुकूल निकृष्ट अर्थ का बोध करना चोर नाम के तुल्य उस कर्म से ग्लानि करने वाला होने से शुभकर्म में प्रवृत्त करता है इस कारण उस का भी नामकरण शुद्धि का ही हेतु जानो। वेदमतानुयायियों का जब राज्य था तब ब्राह्मणादि के शर्म्मान्तादि नाम प्रतिष्ठा वा अप्रतिष्ठा के हेतु अवश्य होते थे और अब भी कहीं २ कुछ २ हैं भी जैसे अग्निहोत्री वाजपेयी श्रोत्रियादि उपनामों तथा शर्म्मान्तादि

नामों से उन २ के चित्तों में ब्राह्मणत्वादि का अहङ्कार वा कर्त्तव्य कुछ २ दीखता है। ऐसी दशा में नामकरण से अवश्य संस्कार होना मन्तव्य है। वेदनिधि, विद्यानिधि, वेदबन्धु, वशंवद, वाचंयम, सत्यव्रत, तपोधन, ब्रह्मदेव, ब्रह्मबन्धु, विश्वामित्र, सर्वसह, धर्मदत्त, धर्मवीर, सुखदेव, सहदेव, दयानिधि, विप्रदेव, ऊर्ध्वरेता, यज्ञदत्त, देवदत्त इत्यादि शर्मान्त ब्राह्मण के नाम—जनमेजय, पुरन्दर, धनञ्जय, शत्रुन्तप, महीपाल, युधिष्ठिर, भीष्म, भीमसेन, धृतराष्ट्र इत्यादि वर्मान्त क्षत्रिय के नाम—प्रियव्रत, प्रियंवद, विश्वम्भर, महादेव, रन्तिदेव, लक्ष्मीचन्द्र, लक्ष्मण, श्रीनिवास, पशुपाल इत्यादि गुप्तान्त वैश्य के नाम और ब्रह्मदास, विष्णुदास, शिवदास, देवदास, द्विजदास इत्यादि शूद्र के नाम रखने चाहिये। शर्मपद विद्या और धर्मसम्बन्धी सुख का वाचक है। शर्मान्त ब्राह्मण अन्य संसारी सुखों में न फंसकर विद्या और धर्म से अन्यों को सुख पहुंचावे और स्वयं सुखी रहे। वर्मपद युद्धादि के समय धारण करने को बनाये लोहमय कवच का नाम है जैसे उस से शरीर की रक्षा होती है वैसे संसार के रक्षा योग्य सब प्राणियों की वा वस्तुओं की और अपनी यथायोग्य धर्मानुकूल वर्मान्त क्षत्रिय रक्षा करे, इस लिये उस का वर्मान्त नाम है। गुप्तनाम धनादि सम्पत्ति से भरा पूरा वैश्य रहे, राजा उस के धनादि की रक्षा करे, वह धनादि सम्पत्ति से साध्य धर्मसम्बन्धी काम विशेष करे, धनादि से अपनी और जगत् के प्राणियों की यथोचित धर्मानुकूल रक्षा करे, इसलिये वैश्य का गुप्तान्त नाम है। दासनाम सेवक का है इसलिये ब्राह्मणादि के विद्याधर्मसम्बन्धी कामों में सेवा द्वारा शूद्र सहायता करे तो जानो वह भी धर्मात्माओं का सेवक होने से धर्मात्मा कहाने योग्य होसकता है। अधर्मियों की सेवा करना शूद्र का अधम काम है। इस प्रकार ब्राह्मणादि वर्णों के नाम अपने २ गुणकर्मस्वभावों के अनुसार रखने चाहिये। और ब्राह्मणादि के अवान्तर कर्त्तव्यों में जिस अंश वा गुण में जो प्रधान प्रतीत हो उस का वैसा ही नाम रखना चाहिये। जैसे—सत्य बोलने में जो प्रधान हो उस का नाम सत्यवचाः, तपोधर्म में अधिक तत्पर का नाम तपोनित्य वा तपोधन, यज्ञ करने में प्रधान का नाम याज्ञिक इत्यादि प्रकार क्षत्रियादि में भी जानो ॥३१।३२॥

स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम्।
मङ्गल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत् ३३

अ०—स्त्रीणां बालिकानां कीदृशं नामकार्यमित्युच्यते—सुखोद्यं सुखेन यदुद्यते बालैरपि तत्सुखोद्यम्। वदः सुपि क्यप्चेति क्यप्कृत्यप्रत्ययः। यथा सुवदना, चारुदती, चारुहासिनी, मङ्गली,

मङ्गलदेवी, मङ्गलवती, सुमङ्गली, सूर्या, सावित्री, इत्यादीनि सुखोद्यानि नामानि। शर्मिष्ठा, सुश्लिष्टा, सुपृष्ठा, सुपार्श्वा, सुगुल्फा, स्निग्धकण्ठीत्यादीन्यसुखोद्यानि। अक्रूरं हिंसातीक्ष्णार्थशून्यम् यथा-शर्मदा, सुखदा, यशोदा, सुभगा, सुमित्रा, इत्यादीनि। क्रूरार्थवाचकानि तु-घातिनी, डाकिनी, सिंहिनी, कुलकलङ्किनी, परुषा, परुषाक्षरा, इत्यादीनि न रक्षणीयानि। विस्पष्टार्थं शीघ्रमेवार्थप्रत्यायकं-चित्रा, सुवदना, सुदशना, इत्यादि, अविस्पष्टार्थं कारीषगन्ध्या, कामनिधा—इत्यादि। मनोहरं यथा—श्रेयसी, वल्लभा। विपरीतं तु कालाक्षी, तुङ्गनासिकी, इत्यादि। मङ्गल्यं यथा-सुभद्रा, विद्यावती, धर्मवती, धर्मदा, धर्मपालिका, कल्याणी, इत्यादि। दीर्घवर्णान्तं यथोदाहृतम्, विपरीतं पुण्यकृत्—इत्यादि। आशीर्वादाभिधानवदिति-आशीर्वादाभिधायकं च नाम कार्यं यथा—चिरंजीविनी, जयकुमारी, जयदेवी, सौभाग्यवती, सुपुत्रा, बहुपुत्रा, कुलवाहिका, कुलप्रदीपा, कुलतारा, कुलचन्द्रिका इत्यादीनि नामानि रक्षणीयानि॥

भा०—पुरुषाणां वर्णक्रमेण नामलक्षणान्युक्तानि स्त्रीणां तु सामान्येन कथनमिदं तत्र व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः कार्या। सुखोद्यमिति सामान्येन सर्ववर्णस्त्रीनाम्नां विशेषणं विशेषतया तु वैश्यायाः। अक्रूरमिति सामान्यं विशेषणं क्षत्रियशूद्रयोषितां तु क्रूरार्थबोधकान्यपि नामानि कार्याणीति विशेषः। विस्पष्टार्थमितिसामान्यं विशेषणम्। मनोहरमिति सामान्यं वैश्ये तु विशेषतः कार्यम्। मङ्गल्यमिति ब्राह्मणयोषितामेव विशेषणम्। पुरुषनाम्नामपि मङ्गल्यमिति ब्राह्मणस्यैव विशेषणं कृतम्। दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवच्चेति सामान्ये एव विशेषणे। स्त्रीणामपि वर्णभेदोऽपेक्षितएव धर्मशास्त्रकारस्यातएव सवर्णया विवाहविधिरुक्तः। तथासति पुरुषवत्स्त्रीणामपि वर्णक्रमेणैव नामानि रक्ष-

णीयानीत्यनभिमतं वदितुं कः क्षमः ?। पुरुषनामभेदसौकर्यमालम्ब्य स्त्रीणामपि वर्णक्रमेण नामानि करिष्यन्तीति भृगोः सदाशयः। ब्राह्मणादिपुरुषवद् ब्राह्मण्यादिस्त्रीणामपि गुणकर्मस्वभावाः पृथगेव मन्तव्यास्तथासत्येव सावर्ण्यं भविष्यति तथासति गुणकर्मानुकूलान्येव नामानि रक्षणीयानि। ब्राह्मण्या नामानि यथा-वेदपारगा सरस्वती धीमती चित्रकथा वेदप्रिया विद्यावती धर्मवती धर्मदा सत्यव्रता तपस्विनी संतुष्टा दानधर्मिणी क्षमाकरी धर्मभक्ता शुचिव्रता दयारता बुद्धिमती विबुधप्रिया ब्रह्मदेवी ज्ञानदेवी सावित्री उमा सुभद्रा भद्रिका कल्याणी आर्याणी आर्या मङ्गली सुमङ्गली मङ्गलदेवी मङ्गलवती शर्मदा सुखदा यशोदा सुमित्रा श्रेयसी वल्लभा कुलप्रदीपा कुलतारा कुलचन्द्रिका विद्वन्माला स्वागता प्रमिताक्षरा हेमवती रुक्मिणी मञ्जुभाषिणी शिवा कनकप्रभा मृडानी वसन्त तिलका इत्यादीनि। क्षत्रिययोषितां नामानि यथा-लक्ष्मी लोकमाता धर्मराजी महाराजी प्रजापालिनी वीरपत्नी वीरसूः तेजस्विनी शूरवल्लभा धुरन्धरा सत्यभामा दुर्गादेवी दुर्गा प्रहरणकलिता अपराजिता ईश्वरी विश्ववन्द्या रुद्राणी सूर्या इन्द्रवंशा इन्द्रवज्रा उपेन्द्रवज्रा वंशस्था सिंहोन्नता जयदेवी जयकुमारी जयन्ती विजयिनी विजयप्रिया शर्वाणी चित्रपदा मणिमाला कुड्मलदन्ती सर्वमङ्गला सुदक्षा गान्धारी पाञ्चाली कौसल्या माद्री मागधी इत्यादीनि। वैश्ययोषितां नामानि यथा-दात्री दानप्रिया श्रीमती श्रीदेवी रजतप्रिया सम्पदा गोपी गोपालिका पशुपालिका चिरंजीविनी सुरूपा रूपवती चारुदती चारुहासिनी सुदशना वल्लभा कामदेवी कामदा इन्दुवदना चन्द्रावर्त्ता राधा राधादेवी मयूरसारिणी मालिनी मनोरमा चन्द्रलेखा शालिनी मन्दाक्रान्ता वृत्ता चित्रलेखा सुरसा विलासिनी लीलावती सुवदना सुमुखी स्रग्धरा मालती सुन्दरी कुसुमविचित्रा गौरी प्रियंवदा शशिव-

दना प्रहर्षिणी चन्द्रमुखी रुचिरा हैमवती चन्द्रिका पार्वती उद्धर्षिणी अम्बिका प्रियव्रता कान्ता मृडङ्गी इत्यादीनि । शूद्र-योषितां नामानि यथा—ब्रह्मदासी धर्मदासी विज्ञा विज्ञान-प्रिया शिल्पदक्षा दासपत्नी सेविका दूती दूतिका प्रेष्या देव-दासी शाकम्भरी कृषिप्रिया विस्मिता अपर्णा चिन्तादेवी भा-राक्रान्ता मत्ताक्रीडा क्रौञ्चपदा हलधरी जलधरमाला काली, चञ्चलाक्षिका कालिका चण्डी चण्डिका इत्यादीनि । उदाह-णमात्रमिदं नामनिदर्शनं न तु परिगणनं तेन यथोचितमन्यद-प्यूह्यं पण्डितैः । पूर्वोक्तब्राह्मण्यादिनाम्नां यस्य बालस्य बालिकाया वा यादृशा गुणकर्मस्वभावाः समालोचनेन सम्भवेयुस्तस्य तादृ-शमेव गुणकर्मस्वभावार्थबोधकं नाम कार्यम् । नतु सर्वब्राह्मणानां ब्राह्मणीनां वा ब्राह्मणार्थमुक्तानि सर्वाणि नामानि कर्तुं युक्तानि । दीर्घदर्शिना परीक्षकेणातिविचक्षणेन विदुषा च सम्यग्विचारान-न्तरं कारणेन कार्य्यानुमानवत्संभावयितुं शक्यतेऽयमीदृशो भवि-ष्यतीति तथाविधमेव तस्य नाम कार्यम् । यदि कस्यचित्परी-क्षायाः कथमपि सम्यगभावाद्यौवने गुणकर्मस्वभावा विपरीता भवेयुस्तस्य तदानीमेव नाम परिवर्त्तयम् । यानि नामानि कन्या-भ्य उक्तानि पुंस्त्वेविपरिणतानि तान्येव पुरुषाणामपि तद्वर्णस्था-नां कर्तुं शक्यन्ते । पुरुषार्थमुक्तानि च स्त्रीत्वे विपरिणतानि स्त्रीणां तत्तद्वर्णस्थानां भवितुमर्हन्ति । यथा-वेदपारगः पुरुषो वेदपारगा स्त्री, धर्मराजः पुरुषो धर्मराजी स्त्री, गोपालकः पुरुषो गोपा-लिका स्त्री, धर्मदासः पुरुषो धर्मदासी स्त्री । द्व्यक्षरं चतुरक्षरं बालानां नाम कार्यं बालिकानां च विषमाक्षरं त्र्यक्षरं पञ्चाक्षरं वेति गृह्यसूत्रेषु विधानं दृश्यते ततो विपरीतान्यपि नामान्युदा-हृतानि पूर्वं, तत्रेदं बोध्यम्-सर्वलक्षणसम्पन्नान्यल्पान्येव नामानि भवितुमर्हन्ति । यत्कार्यपूर्तये यावन्तो गुणा लक्षणानि वा प्रति-

पाद्यन्ते तेषु प्रधानेष्वधिकांशेषु वा सत्सु तत्कार्यं पूर्णमेव परिगण्यते तथैवात्रापि सुखोद्यादिषु प्रधानलक्षणेषु बहुषु वा सत्सु यथोक्तितान्नरसङ्ख्याया अभावेऽपि नास्ति काचित् क्षतिरिति बोध्यम् ॥ ३३ ॥

भाषार्थः-बालिकाओं का कैसा नाम धरना चाहिये सो कहते हैं (सुखोद्यम्) जो सहज में सुखपूर्वक बोला जाय जैसे—सुवदना, चारुहासिनी, मङ्गली, सुमङ्गली, मङ्गलदेवी, सावित्री, यशोदा, इत्यादि नाम सुवाच्य हैं और शर्मिष्ठा, सुश्लिष्टा, सुपृष्ठा, स्निग्धकण्ठी इत्यादि नाम बोलने में कठिन हैं (अक्रूरम्) जो हिंसार्थक वा कठिन, घृणितअर्थवाला न हो जैसे—शर्मदा सुखदा, सुभगा, सुमित्रा इत्यादि अक्रूरार्थ और डाकिनी, सिंहिनी, कुलकलङ्किनी, परुषा, कर्कशा, इत्यादि क्रूरार्थ नाम हैं (विस्पष्टार्थम्) शीघ्र ही जिस का अर्थ प्रतीत हो विचारने न पड़े जैसे—सुवदना, सुदशना, यशोदा और कारीषगन्ध्या आदि अविस्पष्ट अर्थ वाले हैं (मनोहरम्) मन को प्रसन्न करने वाला हो जैसे—श्रेयसी, वल्लभा, प्रियंवदा और कालाक्षी, तुङ्गनासिका आदि मन को हरने वाले नहीं हैं (मङ्गल्यम्) जो मङ्गल नाम कल्याण वा धर्म का बोधक हो जैसे—सुभद्रा, कल्याणी, धर्मदा, धर्मवालिका, धर्मवती, विद्यावती आदि (दीर्घवर्णान्तम्) जो दीर्घ स्वरान्त हो जैसे कि पूर्व से उदाहरण दिये हैं किन्तु पुण्यकृत् आदि हलन्त नाम नहीं रखने चाहिये (आशीर्वादाभिधानवत्) और जो आशीर्वाद अर्थ को जताने वाला नाम हो जैसे—चिरञ्जीविनी, जयकुमारी, जयदेवी, भाग्यवती, सौभाग्यवती, सुपुत्रा, बहुपुत्रा, कुलवाहिका, कुलतारा इत्यादि नाम (स्त्रीणाम्) स्त्रियों अर्थात् कन्याओं के होने चाहिये ॥

भा०-पुरुषों के वर्णक्रम से नाम रखने के लक्षण पूर्व कहे थे। परन्तु स्त्रियों के नामों के लिये यह सामान्य कथन है। उस में व्याख्यान से विशेषता का निश्चय करना चाहिये। सुखोद्य-सुखपूर्वक उच्चारण जिस का हो यह सामान्य कर सब स्त्रीमात्र के नामों का विशेषण है परन्तु विशेष कर वैश्यस्त्रियों के नाम सुखोद्य होने उचित हैं। ब्राह्मण ब्राह्मणी के तप आदि धर्म कार्य कुछ २ रूखे भी होंगे तो तदनुकूल नाम भी रूक्ष हो सकते हैं और क्षत्रिय के भी युद्धादि रूक्षतावाचक कामों के साथ कोई २ कठिन नाम भी हों तो बुराई नहीं। अक्रूर नाम हो यह भी सभी का विशेषण है पर क्षत्रिय और शूद्र की कन्याओं के क्रूरार्थबोधक भी नाम हों तो ठीक है। विस्पष्टार्थ बोधक नाम हों यह सभी का विशेषण है। मनोहर भी सामान्य लक्षण है पर वैश्य स्त्री पुरुषों के नाम विशेष कर मनोहर होने चाहिये। मङ्गलार्थबोधक नाम ब्राह्मणवर्ण का ही मुख्य विशेषण है। दीर्घ-

वर्णान्त और आशीर्वादार्थसूचक सभी वर्ण की कन्याओं के नाम होने चाहियें । धर्मशास्त्रकार को स्त्रियों में भी वर्णभेद होना अवश्य अपेक्षित है इसी कारण अपने२ वर्ण की सवर्णा स्त्री के साथ विवाह का विधान कहा है । ऐसा होने पर पुरुषों के तुल्य स्त्रियों के भी वर्णक्रम से ही नाम रखने चाहिये यह ग्रन्थकार को अभिमत नहीं ऐसा कौन कह सकता है ? अर्थात् मनु वा भृगु जी को भी यही अवश्य स्वीकृत है। यहां वर्णभेद से स्त्रियों के नाम रखने को इसलिये नहीं कहा कि ब्राह्मणादि पुरुषों के नाम भेद की सुगमता से ब्राह्मणी आदि स्त्रियों के भी वर्ण क्रम से नाम करलेंगे यह भृगु जी का सदाशय प्रतीत होता है । ब्राह्मणादि पुरुषों के तुल्य ब्राह्मणी आदि स्त्रियों के भी गुण कर्म स्वभाव भिन्न २ ही मानने चाहिये तभी ब्राह्मण ब्राह्मणी आदि की सवर्णसंज्ञा हो सकेगी । ऐसा होने पर गुण कर्मों के अनुकूल ही नाम रखने चाहिये । ब्राह्मण कन्याओं के नाम—वेदपारगा, सरस्वती, धीमती, चित्रकथा, वेदप्रिया, विद्यावती, धर्मवती, धर्मेदा, सत्यव्रता, सत्यवती, तपस्विनी, संतुष्टा, दानधर्मिणी, क्षमाकरी, धर्मभक्ता, विबुधप्रिया, ब्रह्मदेवी, ज्ञानदेवी, सिद्धादेवी, मुक्तादेवी, शुचिव्रता, दमयन्ती, दयावती, बुद्धिमती, सावित्री, उमा, उमादेवी, सुभद्रा, भद्रिका, कल्याणी, आर्याणी, आर्या, मङ्गली, मङ्गलदेवी, सुमङ्गली, मङ्गलवती, शर्मदा, सुखदा, यशोदा, सुमित्रा, श्रेयसी, वल्लभा, कुलप्रदीपा, कुलतारा, कुलचन्द्रिका, विद्युन्माला, स्वागता, प्रमिताक्षरा, ब्राह्मी, भारती, वाग्देवी, वचोविदा, मनीषिणी, मनीषा, धिषणा, प्रज्ञादेवी, प्राज्ञी, हेमवती, रुक्मिणी, रुक्मवती, मञ्जुभाषिणी, शिवा, मृडानी, कनकप्रभा, जातरूपा, रुक्माभा, वसन्ततिलका, इत्यादि । क्षत्रिय कन्याओं के नाम—लक्ष्मी, लोकमाता, मा, धर्मराजी, महाराजी, प्रजापालिनी, वीरपत्नी, वीरवल्लभा, वीरसूः, तेजस्विनी, शूरवल्लभा, धुरन्धरा, भामिनी, सत्यभामा, दुर्गा, दुर्गादेवी, प्रहरणकलिता, अपराजिता, ईश्वरी, विष्णुदेवी, विश्ववन्द्या, रुद्राणी, सूर्या, जया, विजया, विचित्रवीर्या, चित्राङ्गदा, सहदेवी, इन्द्रवंशा, सूर्यवंशा, इन्द्रवज्रा, सौदामिनी, चञ्चला, चपला, तडिद्देवी, ऐरावती, क्षणप्रभा, उपेन्द्रवज्रा, वंशस्था, सिंहोन्नता, संग्रामप्रिया, समरकामा, कलहप्रिया, जयदेवी, जयकुमारी, विजयिनी, विजयप्रिया, जयन्ती, शर्वाणी, चित्रपदा, मणिमाला, कुङ्कुमदन्ती, सर्वमङ्गला, सुदक्षा, गान्धारी, पाञ्चाली, कौसल्या, मादी, मागधी, इत्यादि । वैश्यवर्ण की कन्याओं के नाम—दात्री, दानप्रिया, श्रीमती, श्रीदेवी, विश्वम्भरी, रजतप्रिया, रूपा, रूपवती, सुरूपा, सम्पदा, गोपी, गोपालिका, पशुपालिका, चिरंजीविनी, चारुदती, चारुहासिनी, चारुदशना, सुदशना, वल्लभा, भवानीदेवी, पूर्णादेवी, अम्बा, अम्बालिका, कामदेवी, कामदा, इन्दुवदना, चन्द्रावर्त्ता, राधा, राधादेवी, आनन्दी, सुभगा, भाग्यवती, मयूरसारिणी, मालिनी, मनोरमा, चन्द्रलेखा, शालिनी, मन्दाक्रान्ता, वृत्ता, वृत्तज्ञा, चित्रलेखा, सुरसा, विलासी,

विलासिनी. लीलावती. सुवदना. कान्ता. कामिनी. सुमुखी. चन्द्रमुखी. स्रग्धरा. मालती. सुन्दरी. कुसुमविचित्रा. गौरी. प्रियंवदा. शशिवदना. प्रहर्षिणी. रुचिरा. हैमवती. चन्द्रिका. कौमुदी. पार्वती. उद्धर्षिणी. अम्बिका. प्रियव्रता. मृदङ्गी. अङ्गना, सुगात्री इत्यादि। शूद्र कन्याओं के नाम–ब्रह्मदासी. देवदासी. विष्णुदासी. धर्मदासी. विज्ञा. विज्ञानप्रिया. शिल्पदक्षा. दासपत्नी. सेविका. प्रेष्या. दूती. दूतिका. शाकम्भरी. कृषिप्रिया. विस्मिता. अपर्णा. चिन्ता. चिन्तादेवी. भाराक्रान्ता. मत्ताक्रीड़ा. क्रौञ्चपदा. हलधरी. जलधरमाला. श्यामादेवी. घनश्यामा. हरिणी. काली. कालिका. चञ्चलाक्षिका. चण्डी. चण्डिका इत्यादि। यह नामों की गणना उदाहरण (नमूना) मात्र है इस लिये यथोचित ऐसे ही अन्य भी नाम खोज लेने चाहियें। पूर्वोक्त ब्राह्मणी आदि के नामों में जिस बालक वा कन्या के समालोचना करने से जैसे गुणकर्म वा स्वभाव प्रतीत हों उस का वैसा ही गुण कर्म वा स्वभाव अर्थ का बोधक नाम रखना चाहिये किन्तु ब्राह्मण स्त्री पुरुषों के लिये कहे सब नाम सब किसी के नहीं हो सकते। कोई कहे कि उत्पन्न होते ही दशदिन के बालक के गुण कर्म स्वभावों का निश्चय कैसे हो सकता है? तो उत्तर यह है कि दीर्घदर्शी परीक्षक अतिप्रवीण विद्वान् सम्यक् विचार करने पश्चात् कारण से कार्य का अनुमान करने के समान निश्चय कर सकता है कि यह सन्तान ऐसा होगा। क्योंकि जैसे वृक्ष में होने वाले सब गुण सूक्ष्मरूप से आम्रादि के बीज में पहिले से ही विद्यमान रहते हैं उन्हीं गुणों की वृद्धिमात्र होती जाती है वैसे आगे प्रकट होने वाले सब गुणादि सन्तान में विद्यमान जानो और वे गुण कर्म सन्तान में पूर्वजन्मों के कर्मानुसार आते हैं। और माता पितादि के आचार विचार देखने से भी आगे पीछे का अनुमान हो सकता है। सब प्रकार के विचार से जैसे गुण कर्म ठहरें वैसा ही नाम रखना चाहिये। इसी भविष्यत् परीक्षा के लिये लोक में कहावत चली है कि "होनहार बिरवा के होत चीकने पात" इस से परीक्षा तो अवश्य हो सकती है पर विद्या की अवनतिदशा में परीक्षक मिलना कठिन है इस लिये यदि किसी कारण किसी की ठीक परीक्षा न होने से युवावस्था में गुण कर्म स्वभाव विपरीत जानपड़ें तो उस का तभी नाम भी बदल देना चाहिये। जो नाम कन्याओं के लिये कहे हैं उन को पुंलिङ्ग बना के वे ही पुरुषों के हो सकते और जो २ ब्राह्मणादि पुरुषों के लिये कहे हैं उन को स्त्रीलिङ्ग कर देने से वे उन २ वर्णों की कन्याओं के हो सकते हैं। जैसे–वेदपारग पुरुष वेदपारगा स्त्री, धर्मराज पुरुष धर्मराजी स्त्री, गोपालक पुरुष गोपालिका स्त्री, धर्मदास पुरुष धर्मदासी स्त्री इत्यादि प्रकार पुरुषनामों से कन्याओं के और कन्यानामों से पुरुषों के नाम रख लेने चाहिये। पुरुष का नाम दो वा चार अक्षरों का और कन्याओं के विषम अक्षर वा पंचाक्षर नाम रखने के लिये गृह्य सूत्रों में विधान है। उस से विरुद्ध पंचाक्षर वा चतुरक्षर आदि नामों

के पूर्व उदाहरण दिये हैं उस का समाधान यह जानो कि सब लक्षण जिन में पूरे २ हों ऐसे नाम थोड़े ही हो सकते हैं। और सब कार्यों के करने का सामान्य नियम यह है कि जिस कार्य की पूर्त्ति के लिये जितने गुण लक्षण वा मनुष्यादि नियत किये जाते हैं उन में से प्रधानों वा अधिकों के एकत्र हो जाने से काम करलेना उत्तम वा पूर्ण कोटि का माना जाता है। इसी के अनुकूल बहुसम्मत्यनुसार सभा समाजादि में भी काम होता है। इसी प्रकार यहां भी सुखोद्यादि प्रधान मुख्य वा अधिक लक्षणों के होने पर यथोचित अक्षरसंख्या के न मिलने पर भी कुछ दोष नहीं मानना चाहिये ॥ ३३ ॥

चतुर्थे मासि कर्त्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात् ॥
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले ॥३४॥

अ०—चतुर्थे मासि शिशोर्गृहाद् धात्रीनिवासस्थानात्सूतिकागृहाद्वा गृह्योक्तं होमादिकमङ्गलं विधाय बहिर्निष्क्रमणं कर्त्तव्यम्। षष्ठे मासि चान्नप्राशनं कारयितव्यं यद्वा कुले कुलस्थप्राज्ञैः शिशोरानुकूल्यमालोच्य निश्चितेऽन्यस्मिन्यथेप्सिते मासि निष्क्रमणमन्नप्राशनं च कार्यं तदेव साधुतरं मङ्गलम् ॥

भा० ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृन्मनो वार्युपाञ्जनम्। वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्त्तॄणि देहिनामिति पञ्चमाध्याये व्याख्यास्यते। तत्र निष्क्रमणे वाटिकादिस्थशुद्धवायुसेवनेन सूर्यकिरणैर्वा शिशुः शुध्यति प्राशनकाले च शुद्धसात्त्विकाहारेणापि जनिष्यमाणशुद्धधातुद्वारा बुद्धिः शुध्यति। पावनैर्वेदमन्त्रैः क्रियमाणेन होमेन परमेश्वरप्रार्थनेन च शिशोः शोधनं जायतेऽतोऽनयोः कर्मणोः संस्कारकत्वं बोध्यम्। यदि सम्यगरोगः शिशुर्हृष्टः पुष्टश्च तदा चतुर्थे मासि बहिर्देशीयं वायुं सोढुं शक्नोति तदा चतुर्थे होमादिकं मङ्गलं स्वस्तिवाचनादिकं च कृत्वा बहिर्निस्सार्यो नोचेत्कुलीनैः प्राज्ञैर्बालशक्तिमालोच्य निष्क्रमणसमयो निर्धार्यः। एवं बलिष्ठारोग्यदशायां षष्ठे मासि प्रायेण दन्ता निस्सरन्ति सत्सु च दशनेष्वन्नं भोक्तुं शक्नोति। यदि षष्ठे दन्ता न निस्स-

रेयुस्तदा दन्तनिस्सरणानन्तरं भुक्तपाचनशक्तिमालोच्य प्राज्ञैरव-धारितेऽन्यस्मिन्मासि प्राशनमपि कारयितव्यमिति सूचयितुं "य-द्वेष्टं मङ्गलं कुल" इत्युक्तम्। एवं सर्वत्रैव संस्काराणां प्रयोजनसा-फल्यमपेक्षणीयं न तु रेखाताडनं कार्यसाधकं किन्तु बालाः सं-स्कृताः स्युरिति तात्पर्यम् ॥ ३४ ॥

भाषार्थः—(चतुर्थे, मासि, शिशोर्गृहान्निष्क्रमणं कर्त्तव्यम्) चौथे महिने में बालक वा बालिका को माता के निवासस्थान से वा सूतिकाघर से गृह्यसूत्रा-दि में लिखे अनुसार होमादि मंगलकृत्य करके बाहर निकालना चाहिये। और (षष्ठे मासि, अन्नप्राशनम्) छठे महिने में अन्नप्राशन कराना चाहिये (यद्वा कु-ल इष्टं मङ्गलम्) अथवा जिस कुल में उस कुल के विद्वान् लोग बालक की अ-नुकूलता शोच के यथेष्ट अन्य मास निश्चित करें तब उस कुल के लोग निष्क्रमण और अन्नप्राशन करावें वह भी अच्छा उत्तम कर्त्तव्य मङ्गल कार्य है ॥

भा०—उत्तम भोजन, वायु, कर्म और सूर्यादि आगे पञ्चमाध्याय में शुद्धि क-रने वाले माने हैं उन में से निष्क्रमण में बगीचे आदि के शुद्ध वायु के सेवने, यज्ञकर्म और सूर्य की किरणों से बच्चा की शुद्धि जानो तथा प्राशनी [पसनी] में शुद्धसात्त्विक खीर घी मधु आदि के आहार से उत्पन्न होने वाले शुद्ध धातुओं द्वारा और होम कर्म से बालक की शुद्धि होती है। और पवित्रार्थबोधक वेद मन्त्रों द्वारा किये होम और परमेश्वर की प्रार्थना से बालक की शुद्धि होती है। इस कारण ये निष्क्रमण और अन्नप्राशन दोनों काम संस्कारक वा शोधक होने से संस्कार कहाते हैं। यदि बालक सम्यक् नीरोग तथा हृष्टपुष्ट रहे तो चौथे महिने में बाहर के वायु का सहन कर, संस्कृत हो सकेगा तभी चौथे मास में हो-मादि मङ्गल कार्य और स्वस्तिवाचनादि करके बाहर निकालना चाहिये और यदि निर्बल वा रोगी हो तो कुलीन विद्वानों को बालक की शक्ति विचार के निष्क्रमण का अन्य समय निश्चित करना चाहिये। तथा नीरोग और बलिष्ठ दशा में ही छठे मास में बालक के प्रायः दांत निकलते हैं और दांत निकलने पर ही बालक अन्न को काट के खा सकता है इस कारण दांतों का निकलना ही अन्न पचाने की शक्ति होने का सूचक है इसी विचार से छठे महिने में अन्नप्रा-शन कहा गया है। यदि रोगादि की निर्बलता से छठे महिने में दांत न निकलें तो दांत निकलने पश्चात् खाये को पचाने की शक्ति देखकर विद्वानोंने निश्चित किये अन्य महिने में अन्नप्राशन भी कराना चाहिये यही जताने के लिये (यद्वे-ष्टं मङ्गलं कुले) यह वाक्य कहा गया है कि जिस कुल वा घर में जब संस्कार करना इष्टसाधक हो तभी करना मङ्गल नाम उत्तम है। इस प्रकार सर्वत्र ही संस्कारों

के प्रयोजन की सफलता का ध्यान रखना उचित है किन्तु लीक पीटना कार्य-साधक नहीं है अर्थात् बालकों की शुद्धि वा शारीरिक आत्मिक उन्नति होना संस्कारों का मुख्य तात्पर्य है। सो यदि समय भेद से भी सिद्ध हो तो वही करना उचित है ॥ ३४ ॥

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः ॥
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्त्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥३५॥

अ०—सर्वेषां द्विजातीनामेव धर्मतो धर्मार्थं शिखाबन्धनेन सन्ध्योपासनादिधर्म्यकर्मपूर्त्यर्थं चूडाकर्म चूड़ायै शिखायै कर्म केशवपनरूपं प्रथमेऽब्दे तृतीये वा श्रुतिचोदनात्कर्त्तव्यम् ॥

भा०—नियमेन द्विजानामेव यथाविधि केशवपनं कर्त्तव्यं तेषामेव सन्ध्योपासनादिकर्मसु कुलपरम्परया संस्कृतानां शक्तत्वेनाधिकारित्वात्। शूद्रबालस्यापि कार्यं न तु धर्मसेवनार्थमिति धर्मतइति विशेषणस्याशयः। श्रुतिचोदनादिति कर्त्तव्यत्वेनैव सम्बद्धं द्रष्टव्यं यतो वेदमन्त्रेषु चूडाकर्मणः कर्त्तव्यत्वमेव द्योत्यते न तु कालावधारणं दृश्यते। प्रथमे तृतीयेपञ्चमादिषु वा बालस्य शिरःकाठिन्यादियोग्यतां बुद्ध्वा कार्यमिति समयावधारणं नातिप्रयोजनीयम्। योग्यता च नैकदा सर्वेषां सम्भवति कालेन रोगादिना च शक्तिभेदादतः शिरोदार्ढ्यकाले चूडाकर्म कार्यम्। समयानवधारणं च समयविकल्पेन सूचितं बोध्यम्। पञ्चमहायज्ञादिषु शिखाया उपयोगात्तेनैव सार्द्धमस्य कर्मणोऽङ्गभावेन संस्कारकत्वं द्रष्टव्यम्। यथा गणपाठादि व्याकरणाङ्गमपि व्याकरणपदवाच्यमेवं संस्काराङ्गस्यापि संस्कारत्वं ज्ञेयम् ॥३५॥

भाषार्थः—(सर्वेषां, द्विजातीनामेव, धर्मतः) सब ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य नाम द्विजों का ही शिखा बांधकर सन्ध्योपासनादि धर्मयुक्त कर्म करने के लिये (चूडाकर्म) चोटी छेकने के लिये मुण्डन रूप कर्म (प्रथमेऽब्दे तृतीये वा) प्रथम वा तृतीय वर्ष में (श्रुतिचोदनात्) वेद की आज्ञा होने से (कर्त्तव्यम्) करना चाहिये ॥

भा०—नियम से द्विजों का ही मुण्डन संस्कार यथाविधि करना चाहिये क्योंकि कुलपरम्परा से शुद्ध होते रहे द्विजों के लिये ही सन्ध्योपासनादि कर्मों में समर्थ होने से अधिकार है। और शूद्र के बालकों का भी मुण्डन कराना चाहिये परन्तु सन्ध्योपासनादि धर्मयुक्त कामों के लिये नहीं यही धर्मतः पद कहने का प्रयोजन है। वेद की आज्ञा चूड़ाकर्म करने मात्र के लिये है इस लिये श्रुतिचोदनात् पद का सम्बन्ध केवल कर्त्तव्य के साथ जानो किन्तु प्रथम तृतीय वर्षों के साथ नहीं क्योंकि वेद मन्त्रों में चूड़ाकर्म की कर्त्तव्यता मात्र दिखायी है किन्तु काल का निश्चय नहीं किया। प्रथम तृतीय वा पञ्चमादि वर्षों में शिर के कठिन हो जाने आदि की योग्यता को जान कर करना चाहिये। समय के निश्चय की अधिक आवश्यकता नहीं है। क्योंकि सब बालक एक ही समय चूड़ाकर्म के योग्य नहीं हो सकते क्योंकि समय भेद वा रोगादि से बल न्यूनाधिक होना सम्भव है। पहिले समय में जब ब्रह्मचर्य आश्रम की परम्परा अच्छी थी और विषयासक्ति भी कम थी तब इतने पुष्ट बालक जन्मते थे जो प्रथम ही वर्ष में प्रायः चूड़ाकर्म के योग्य हो जावें अब प्रथम वर्ष में प्रायः योग्यनहीं हो सकते इस कारण शिर की दृढता देख कर तृतीयादि वर्षों में यथा योग्य मुण्डन संस्कार करना चाहिये। एक समय नियत नहीं यह प्रथम वा तृतीय वर्ष का विकल्प दिखा कर ही ग्रन्थकार ने जताया है। पञ्चमहायज्ञादि में शिखा बन्धन की आवश्यकता होने से उसी के साथ इस मुण्डन कर्म का अवयव रूप से संस्कारपन है। जैसे गण पाठादि व्याकरण के अङ्ग भी व्याकरण ही कहाते वा माने जाते हैं वैसे प्रधान संस्कार के अवयव का भी संस्कार होना ठीक ही जानना चाहिये ॥३५॥

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् ॥
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥३६॥

अ०—ब्राह्मणस्य जातिमात्रेण ब्राह्मणकुलोत्पन्नस्य शूद्रतुल्यस्य द्विजत्वेन ब्राह्मणंभविष्णोर्वा गर्भाष्टमे गर्भस्थितिदिनादष्टमेऽब्दे वर्षे राज्ञः क्षत्रियबालस्य गर्भकालादेकादशे विशो वैश्यापत्यस्य च गर्भाधानदिनाद्द्वादशे वर्षउपनायनं गुरुसमीपागमनस्मवद्धं यज्ञोपवीतधारणं वेदारम्भणं च कर्म कुर्वीत। उपनायनमित्यत्र कृत्यल्युटोबहुलमिति बहुलवचनाण्ण्यन्तादपि ल्युट् ॥

भा०—वेदमूलमादाय ब्राह्मणपुस्तकेषु "गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत्त्रिष्टुभा राजन्यं, जगत्या वैश्यम्" इति व्याख्यातं दृश्यते

तत्राष्टाक्षरपादा गायत्री, एकादशाक्षरपादा त्रिष्टुप्, द्वादशाक्षरपादा च जगती छन्दःशास्त्रे प्रसिद्धा। तस्मात्स्वस्वच्छन्दःपादाक्षरपरिमितवर्षेषु द्विजत्वसम्पादकः प्रधानसंस्कारो वर्णत्रयस्य विधीयते। ब्राह्मणबालाश्च विद्याधर्मप्रधानकुलेषूत्पन्नत्वाज्जन्मतस्तादृशसुसंगाच्चान्यापेक्षया शीघ्रं वेदानध्येतुं धर्ममाचरितुं चाधिकारिणो भवितुमर्हन्त्यतस्तेषामष्टमेऽब्दे उपनयनं युक्तमेव ततो न्यूनसंस्कारिणां क्षत्रियबालानामेकादशे ततोऽपि न्यूनसंस्कारिणां वैश्यबालानां च द्वादशे कार्यमिति युक्तमेव सर्वं बोध्यम्। यज्ञोपवीतवेदारम्भसंस्कारयोश्चातिसान्निध्यमतो भेदं विहाय मिश्रितमेव व्याख्यानं भृगुणा कृतमिति। अयं च यज्ञोपवीतस्य कालनियमो वर्णधर्मस्य मध्यदशायां बोध्य उत्तमनिकृष्टदशयोर्वक्ष्यमाणत्वात्। मातापित्रोर्मध्यमदशास्थब्रह्मचर्येण धर्माचरणेन चोत्पन्ना ब्राह्मणादीनां बाला अष्टमादिवर्षेषु संस्काराधिकारिणः सम्भवन्ति। अर्थाच्छिक्षानुकूलानि सन्ध्योपासनादिकर्माणि नियमेनानुष्ठातुं वेदानध्येतुं व्रतचर्या च यथोद्दिष्टां पालयितुं शक्नुवन्ति। न च कदापि काले धर्मविषये सर्वे वर्णा उत्तमा मध्यमा निकृष्टा एव वा भवितुमर्हन्ति किन्तु सर्वदैव तारतम्येन त्रिविधानामपि ब्राह्मणादिवर्णानामवस्थितिः सम्भाव्यते। तस्मान्मध्यमानां ब्राह्मणादीनामष्टमादिवर्षेषु संस्कारः कार्यः। इदन्तु तथ्यं यदितः पूर्वं ब्रह्मर्षीणां स्थितिकाले उत्तमा एवाधिका, मध्यमा न्यूना, निकृष्टाश्च न्यूनतरा आसन्। तदनन्तरं मध्यमानामाधिक्यमासीत्साम्प्रतन्तु निकृष्टाएव प्रायेण वर्णा लक्ष्यन्ते, मध्यमास्तु कोचिदेवोत्तमाश्च दुर्लभाइव प्रतीयन्ते, तस्माद्येषां सन्ध्योपासनादिकर्माणि नियमेनानुष्ठातुं शक्तिर्दृश्येत तेषामेवाष्टमादिषु संस्कारः कार्यः ॥३६॥

भाषार्थः—(ब्राह्मणस्य) ब्राह्मणकुल में ब्राह्मण माता पिता से उत्पन्न, जाति मात्र से ब्राह्मण, कर्मों से शूद्र के तुल्य ऐसे ब्राह्मण सन्तान का अथवा भाविनी

संज्ञा मानकर ब्राह्मण कहा गया कि द्विजरूप से आगे ब्राह्मण बनने वाले सन्तान का (गर्भाष्टमे) गर्भाधान समय से आठवें (राज्ञो गर्भादेकादशे) जन्ममात्र क्षत्रिय कुल में होने से वा आगे क्षत्रियत्व को प्राप्त होने वाले क्षत्रियसन्तान का गर्भ समय से ग्यारहवें तथा इसी प्रकार (गर्भात्तु द्वादशे विशः) जातिमात्र से वा आगे वैश्यत्व को प्राप्त होने वाले वैश्य कुलोत्पन्न सन्तान का गर्भ स्थिति समय से बारहवें (अब्दे) वर्ष में (उपनायनम्) गुरुकुलवाससम्बन्धी यज्ञोपवीत धारण और वेदारम्भ कर्म करे वा करावे ॥

भा०—मूल का आशय लेकर ब्राह्मण पुस्तकों में «गायत्री के साथ ब्राह्मण को, त्रिष्टुप् के साथ क्षत्रिय को और जगती छन्द के साथ वैश्य को रचा अर्थात् यह ब्राह्मण है वा इन २ गुण कर्मों से यह ब्राह्मण हुआ इस प्रकार यज्ञोपवीतादि-संस्कारों में योग्यतानुसार ब्राह्मणत्वादि का शरीरों के साथ सम्बन्ध नियत होना ही ब्राह्मणादि की रचना है । जैसे योग्यता होने पर गद्दी पर बैठाना अभिषेक करना ही राजा होना राजा बनना वा राजा की रचना कही जायगी। वैसे गायत्री आदि छन्दों का ब्राह्मणादि बनते समय उन को उपदेश करना चाहिये» इत्यादि आशय का व्याख्यान दीखता है। गायत्रीछन्द का आठ अक्षर का, त्रिष्टुप् का ११ ग्यारह अक्षर का और जगतीछन्द का १२ बारह अक्षर का एक पाद होता यह पिङ्गलसूत्रनामक छन्दःशास्त्र में प्रसिद्ध है । इस कारण अपने २ मन्त्र के पादाक्षर जितने २ हैं उतने २ ही वर्षों में ब्राह्मणादि वर्णों का द्विज बनाने वाले यज्ञोपवीत नामक प्रधान संस्कार का विधान किया है । विद्या और धर्म जिन में प्रधानता से वर्त्ता जाता ऐसे ब्राह्मण कुलों में उत्पन्न होने और जन्म से वैसा विद्याधर्मसम्बन्धी सत्संग रहने से अन्य वर्णों की अपेक्षा ब्राह्मणों के सन्तान वेद पढ़ने और धर्माचरण करने के शीघ्र अधिकारी हो सकते हैं इसलिये ब्राह्मणसन्तानों का आठवें वर्ष में उपनयन करना युक्ति सिद्ध ही है । ब्राह्मण से न्यूनसंस्कारी क्षत्रियसन्तानों का ग्यारहवें और उस से भी न्यूनसंस्कारी वैश्यों का बारहवें वर्ष में यज्ञोपवीत करना चाहिये । इस प्रकार यह सब ठीक ही है । यज्ञोपवीत और वेदारम्भसंस्कार अतिसमीप किये जाते हैं इस से इन दोनों का भिन्न २ व्याख्यान न करके भृगु जी ने मिश्रित ही व्याख्यान किया है । और यह आठवें आदि वर्ष में यज्ञोपवीत करने का कालनियम वर्णधर्म की मध्यम दशा में जानो क्योंकि उत्तम निकृष्ट दशाओं के लिये आगे कहा है । माता पिताओं के मध्यम ब्रह्मचर्य और मध्यम धर्माचरण से उत्पन्न हुए ब्राह्मणादि के सन्तान आठवें आदि वर्षों में यज्ञोपवीतसंस्कार के अधिकारी होने सम्भव हैं। अर्थात् सिखाने के अनुकूल सन्ध्योपासनादि कर्मों का नियम से सेवन, वेदों को पढ़ना और ब्रह्मचर्य आश्रम के गुरुशुश्रूषादि अन्य नियमों का पालन कर सकते हैं । और किसी समय में सब वर्णों के सब मनुष्य उत्तम ही मध्यम

ही वा निकृष्ट ही नहीं हो सकते किन्तु सभी समय में न्यूनाधिक भाव से ब्राह्मणादि वर्णों में उत्तम मध्यम निकृष्ट तीनों प्रकार विद्यमान रहते हैं। इसलिये मध्यम कोटि के ब्राह्मणादि सन्तानों का ही आठवें आदि वर्षों में संस्कार करना ठीक है। और यह तो सत्य है कि जो अब से बहुत पहिले ब्रह्मर्षि लोगों के विद्यमान काल में उत्तम कोटि के ब्राह्मणादि अधिक, मध्यम कम और निकृष्ट बहुत ही कम होते थे। तदनन्तर मध्यम कोटि के अधिक होते थे परन्तु इस वर्त्तमान समय में ब्राह्मणादि वर्ण निकृष्ट ही प्रायः दीखते हैं मध्यम भी कोई २ होने सम्भव हैं और उत्तम तो दुर्लभ से प्रतीत होते हैं। इसलिये सन्ध्योपासनादि कर्मों का नियमसेवन करने की शक्ति जिन की परीक्षा करने से दीख पड़े उन्हीं का अष्टमादि वर्षों में संस्कार कराना चाहिये ॥ ३६ ॥

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ॥
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ३७

अ०—योजन्मान्तरीयसुकृतसंस्काराणामतिप्राबल्याच्छैशवदशायां स्वतएव ब्रह्मवर्चसं वेदाध्ययनधर्माचरणजन्यं तेजः कामयते तादृशकर्माणि कर्त्तुमुत्सहते मातापित्रोर्ब्रह्मचर्यादिप्राबल्येन शरीरेणापि यः पुष्टस्तस्य ब्राह्मणसन्तानस्य गर्भाज्जन्मतो वा पञ्चमवर्षे उपनयनं कार्यमेवं तादृशप्रबलसंस्कारस्य बलार्थिनः क्षत्रियसन्तानस्य वेदतो राजधर्मावगमाय षष्ठे, तादृशसंस्कारिणो वैश्यबालस्य चाष्टमे उपनयनं कार्यम् ॥

भा०—उत्तमकोटिस्थानां ब्राह्मणादिसन्तानानां सम्प्रति संस्कारउच्यते। यैः पूर्वजन्मस्वसकृद्वेदादिशास्त्राण्यभ्यस्तानि वेदोक्तानि धर्म्यकर्माण्येव च सर्वदा सर्वथा सेवितानि ते मरणानन्तरमसत्यां मोक्षप्राप्तियोग्यतायां क्वचिदपि विद्याधर्मपरायणब्राह्मणादिकुलेषु जायन्ते जाताश्चाल्पीयसा यत्नेनाल्पीयसा कालेन च सर्वा विद्या अभ्यस्य प्रतिबुद्धाइव सर्वं धर्मकृत्यं सद्यएव ज्ञात्वा कर्त्तुं प्रवर्तन्ते। एवंभूताश्चेतिहासादिप्रसिद्धा बहव ऋषिपुत्रा बभूवुर्येत्रोदाहरणानि भवितुमर्हन्ति स्वामिदयानन्दसरस्वत्योऽपि। तथा क्षत्रियेषु

पाण्डवाश्चोदाहरणानि । एतादृशा उत्तमकोटिस्था धर्ममर्मज्ञाः केचिदेव भवन्ति तेषां शैशवदशायामेव गुणकर्मस्वभावाचरणैः परीक्षां कृत्वा पञ्चमादिवर्षेषु संस्कारः कार्यः । ते हि शक्तत्वेनाधिकारित्वात्पञ्चमादिवर्षेषु ब्रह्मचर्यकृत्यान्यनुष्ठातुं शक्नुवन्ति ॥ ३७ ॥

भाषार्थः—(ब्रह्मवर्चसकामस्य विप्रस्य पञ्चमे कार्यम्) जो पूर्वजन्मकृत पुण्य सम्बन्धी शुभसंस्कारों की अति प्रबलता से पांच वर्ष के भीतर ही स्वयमेव वेदाध्ययन और धर्माचरण से होने वाले ब्रह्मवर्चस रूप तेज को चाहता अर्थात् धर्मकार्य करने में उत्तेजना और प्रवीणता से उत्साह बढ़ाता है और माता पिता के ब्रह्मचर्यादि सुनियमों की प्रबलता से शरीर से भी जो पुष्ट है ऐसे ब्राह्मण सन्तान का गर्भ से वा जन्म से पांचवें वर्ष उपनयन संस्कार कर देना चाहिये (बलार्थिनो राज्ञः षष्ठे) वैसे प्रबल संस्कारी बलमाध्य युद्ध के साधनों की ओर स्वभाव से ही अधिक तत्पर क्षत्रिय सन्तान का छठे में और (इहार्थिनो वैश्यस्याष्टमे) वैसे ही धन सम्बन्धी सामान में विशेष उद्योगी धर्मानुकूल तत्पर वैश्यसन्तान का जन्म वा गर्भ से आठवें वर्ष में उपनयनसंस्कार करना चाहिये ॥

भा०—अब उत्तम कोटि के ब्राह्मणादि के सन्तानों का संस्कार कहा जाता है—जिन्हों ने पूर्व जन्मों में बार २ वेदादि शास्त्रों का अभ्यास किया और सर्वदा सब प्रकार वेदोक्त धर्मयुक्त कर्मों का ही विशेष कर सेवन किया ऐसे प्रसिद्ध धर्मात्मा पुरुषों का मरण पश्चात् मोक्ष प्राप्ति की योग्यता न हो तो कहीं विद्याधर्म परायण ब्राह्मणादि उत्तम धर्मज्ञ कुलों में जन्म होता और वैसे लोग जन्म लेकर थोड़े ही परिश्रम से और थोड़े ही काल में सब वेदादि शास्त्रों सम्बन्धी विद्याओं का अभ्यास करके सोते से जागजाने के समान सब वेदानुकूल धर्मसम्बन्धी कर्त्तव्यों को शीघ्र ही जानकर करने को प्रवृत्त होते हैं ऐसे इतिहासादि में प्रसिद्ध अनेक ऋषिपुत्र हुए और स्वामी श्रीमद्दयानन्द सरस्वती जी भी यहां उदाहरण हो सकते हैं। क्षत्रियों की उत्तम कोटि में युधिष्ठिरादि पाण्डव उदाहरण के योग्य हो सकते हैं। ऐसे उत्तम कोटिस्थ धर्म का मर्म जानने वाले पुरुष जगत् में कोई थोड़े ही होते हैं । उन की बहुत थोड़ी तीन चार वर्षों की अवस्था में ही गुण कर्म स्वभाव तथा आचरणों से परीक्षा करके पांचवें आदि वर्षों में संस्कार कर देना चाहिये वा यों कहो कि तेजस्वी पुरुष सूर्यादि के समान छिपाने से छिप नहीं सकते सामान्य पुरुषों की अपेक्षा जन्म से ही उन में ऐसी विलक्षणता होती हैं जिन से स्वयमेव उन की परीक्षा हो जाती है । वे लोग शक्ति की अधिकता के कारण अधिकारी होने से पञ्चमादि वर्षों में ब्रह्मचर्य के कर्त्तव्यों का नियम से सेवन कर सकते हैं ॥ ३७ ॥

आषोडशाद्ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्त्तते॥
आद्वाविंशात्क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः॥३८॥

अ०-षट्त्रिंशत्तमसप्तत्रिंशत्तमपद्याभ्यामुक्त उत्तममध्यमदशास्थवर्णानां संस्कारः, सम्प्रति निकृष्टानामुच्यते। आषोडशादिष्वभिविधावाङ् पूरणप्रत्ययार्थश्च सर्वत्र विवक्षितो विज्ञेयः। सावित्री नातिवर्त्तते सवितृदेवताकमन्त्रोपदेशाय क्रियमाणमुपनयनं नातिक्रान्तकालं भवति॥

भा०-ये मातापित्रोर्निकृष्टदशास्थब्रह्मचर्यादिना निर्बलाः। पूर्वजन्मतश्च निकृष्टप्रकारकसंचितपुण्या मलिननिकृष्टसंस्कारा ब्राह्मणादिसन्तानाः पञ्चमाद्यष्टमादिवर्षेष्वनधिकारिणो बलबुद्धिन्यूनत्वात्सन्ध्योपासनादिनियमान् पालयितुमक्षमास्तेषां षोडशादिवर्षावधि यदा यस्य योग्यता लक्ष्येत तदा तस्य संस्कारः कार्यः। पञ्चमादारभ्य षोडशावधि ब्राह्मणस्य, षष्ठाद्द्वाविंशावधि क्षत्रियस्याष्टमादारभ्य चतुर्विंशावधि वैश्यस्य चेति सर्वविधवर्णानां कालो नियम्यते। आद्यन्तनियमोऽयम्। नतु षष्ठसप्तमवर्षयोर्ब्राह्मणस्य संस्कारः पापहेतुरिति बोध्यम्। किन्तु मध्यमोत्तमकोट्योर्मध्यमनिकृष्टयोर्वाऽन्तराले प्रतीयमानानां ब्राह्मणादीनां षष्ठसप्तमादिषु कर्त्तव्यमेव। प्रायेण पञ्चमात्पूर्वं योग्यता न सम्भवति षोडशाद्यनन्तरं च यौवने कामभोगाद्यासक्तिर्धर्मकर्मविहीनानां तेषामभ्युदयनिःश्रेयसप्रतिकूला दुःखहेतुका स्यादिति कालनियमस्य तात्पर्यम्। यथाऽरक्ते निर्मले च वाससि रागः सम्यक् प्रविशति तथैव बाल्यावस्थायां क्रियमाणेन संस्कारेण धर्मकर्मसु सम्यगनुरक्ता भवितुमर्हन्ति। अतीते च काले लौकिककार्येष्वासक्तचेतसोऽहंकारममकारानुपातिनः संस्क्रियमाणा अपि प्रायेण कृतकार्या भवितुं नार्हन्ति तस्मान्नियतकालाभ्यन्तरे सर्वेषां संस्कारः कार्यः॥३८॥

भाषार्थः—छत्तीशवें श्लोक से मध्यम और सेंतीशवें श्लोक से उत्तम दशा के ब्राह्मणादिवर्णों के यज्ञोपवीतसंस्कार का समय कह चुके । अब निकृष्ट प्रकार के ब्राह्मणादिवर्णों के संस्कार का समय कहते हैं (ब्राह्मणस्य—आषोडशात्) सोलहवें वर्ष पर्यन्त ब्राह्मणसन्तान का (क्षत्रबन्धोः—आद्वाविंशात्) क्षत्रियवर्ण के सन्तानों का बाईशवें वर्ष तक और (विशः—आचतुर्विंशतेः) चौवीशवें वर्ष पर्यन्त वैश्यसन्तानों के (सावित्री नातिवर्त्तते) यज्ञोपवीत लेने का समय निकल नहीं जाता अर्थात् सवितृदेवता वाले गायत्री त्रिष्टुप् जगती सभी सावित्री कहे जांयगे उस मन्त्र का उपदेश होने के लिये किया जाने वाला ब्राह्मणादि का यज्ञोपवीतसंस्कार अधिक से अधिक सोलहवें आदि वर्ष पर्यन्त हो सकता वा होजाना चाहिये ॥

भा०—जो सन्तान मातापिता के निकृष्टदशा के ब्रह्मचर्यादि से निर्बल और पूर्वजन्म से भी निकृष्ट प्रकार का जिन का पुण्यसंचित है ऐसे मलिनसंस्कारी ब्राह्मणादि के सन्तान जो पांचवें आदि वा आठवें आदि वर्षों में बल और बुद्धि के अधिकारी नहीं अर्थात् सन्ध्योपासनादि के नियमों के पालन कर सकने में असमर्थ हों उन का सोलहवें आदि वर्ष पर्यन्त जब जिस की योग्यता प्रतीत हो तब उस का संस्कार करना चाहिये। पांचवें वर्ष से लेकर सोलहवें तक ब्राह्मण का, छठे से बाईशवें तक क्षत्रिय का और आठवें से लेके चौवीशवें वर्ष तक वैश्य का इतने समय में उत्तम मध्यम निकृष्ट तीनों प्रकार के ब्राह्मणादि का संस्कार होना चाहिये । यहां आदि और अन्त काल का नियम बांधना अभीष्ट है मध्य का नहीं अर्थात् छठे वा सातवें वर्ष में ब्राह्मण का संस्कार करें तो कुछ पाप वा दोष नहीं है किन्तु उत्तम+मध्यम वा मध्यम+निकृष्ट दशा के बीच में प्रतीत होने वाले ब्राह्मणादि का छठे सातवें आदि में अवश्य संस्कार करना चाहिये । प्रायः पांचवें वर्ष से पहिले बालकों में इतनी योग्यता नहीं हो सकती जो संस्कार कराना सार्थक हो । और सोलहवें वर्ष के पश्चात् युवावस्था में उन धर्मकर्महीन ब्राह्मणादि का कामभोगादि में चित्त का फस जाना संसार परमार्थ के सुख का विरोधी और दुःख का हेतु हो इसलिये संस्कार के काल का नियम है । जैसे कोरे निर्मल वस्त्र पर अच्छा रंग चढ़ता है वैसे बाल्यावस्था में किये गये संस्कार से धर्मकर्मों में ठीक २ मन और आत्मा रंगा जा सकता है। और बाल्यावस्था निकल जाने पर लौकिक धनार्जन कामभोगादि में जिन का चित्त फस गया है कैसे ऐसा और यह मेरा २" इत्यादि विचार में पड़े ब्राह्मणादि के सन्तानों का संस्कार होने पर भी प्रायः कृतकार्य नहीं हो सकते इस कारण नियत समय के भीतर ही सब का संस्कार होना चाहिये ॥ ३८ ॥

अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः ॥
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्य्यविगर्हिताः ३९
नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित् ॥
ब्राह्मान् यौनांश्च संबन्धानाचरेद् ब्राह्मणः सह ॥ ४० ॥

अ०—पद्यत्रयेणोपनयनविधिरुक्तः सम्प्रति द्वाभ्यामर्थवादो निन्दारूप उच्यते—यथोक्तषोडशवर्षादिकालेऽनुपनीता असंस्कृतास्त्रयोऽप्येते ब्राह्मणादयः सावित्रीपतिता मन्त्रोपदेशानर्हा आर्येषु धर्मकर्मरतशिष्टब्राह्मणादिषु व्रात्यनाम्ना व्यवह्रियमाणा विगर्हिता निन्दिता भवन्ति ॥ विधिविहितप्रायश्चित्तैरपूतैर्व्रात्यैः पतितैरसंस्कृतैरेतैः सार्द्धं ब्राह्मणः कर्हिचिदापद्यपि हि ब्राह्मान् वेदाध्ययनाध्यापनादीन्यौनान् कन्यादानादानादीन् संबन्धान्नाचरेत् । ब्राह्मणइति पदमुपलक्षणार्थं तेन क्षत्रियादिरपि व्रात्य क्षत्रियादिना संबन्धान्नाचरेत् । प्रायश्चित्तपूतैस्त्वाचरेदित्यर्थादापन्नं भवति ॥

भा०—यदि षोडशवर्षावध्यादिकाले ब्राह्मणादयो वर्णा उपनीताः सन्ध्योपासनादिकर्माणि नाचरेयुस्तर्हि ते धर्मकर्मपरायणैः संस्कृतार्य्यैः स्वजातिपङ्क्तितो बहिष्कार्य्याः । निन्दापरया व्रात्यसंज्ञया च व्यवहर्त्तव्याः । दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद्भोगाय कल्पते । दण्डभयाच्चान्येषां यथाकालमुपनयनं भविष्यतीति सफलो दण्डविधिरस्ति । केवलं यज्ञोपवीतसूत्रं यथाकालमपि धृत्वा नियमेन सन्ध्योपासनादिकर्माणि वेदाध्ययनं च ये न कुर्वन्ति ते सन्तु सूत्रविहीनापेक्षया कथमपि संस्कृतंमन्याः संस्कृताएव वा, वस्तुतस्तु ब्रह्मचर्याश्रमकृत्यानुष्ठायिनामपेक्षया तेऽप्यसंस्कृता व्रात्याएव । यथापूर्वमन्यरागे रक्तमपि वासो मलिनं वा

प्रयत्नाधिक्येन प्रक्षाल्य धौतमभीष्टरागेण रञ्जनार्हं सम्भवति तथैव षोडशादिवर्षानन्तरमसंस्कृता धर्मकर्मविहीना यदि श्रौतस्मार्त्तकर्माण्यनुष्ठातुं श्रद्दधीरंस्तर्हि शास्त्रोक्तरीत्या शक्त्यनुकूलं प्रायश्चित्तं विधाय संस्कार्या वेदोक्तकर्माणि सेवमानाश्च शिष्टार्यसमुदाये विद्यायोनिसम्बन्धेषु ग्राह्याएव नोचेत्पृथगेव शिष्टसमुदायात्तिष्ठेयुर्व्यवहरेयुश्च। पुरा किल नियमेन संस्क्रियमाणाः श्रौतस्मार्त्तधर्मकर्मरता एव यदा प्रायेण ब्राह्मणादयो वर्णा आसंस्तदा केषांचिदसंस्कृतानां जातितो निस्सारणं सम्भवतिस्म। यदा तु सम्प्रति प्रायेण सर्वे व्रात्या नाममात्रं संस्कृता अपि सन्ध्योपासनादिधर्मकर्मशून्या दुष्कर्मरता एव दृश्यन्ते तदा कः कं जातिच्युतं कुर्यात्। तथापि वैदिकधर्ममुन्निनीषुभिर्यत्नः कार्यएव ॥ ३९ । ४० ॥

भाषार्थः—पहिले तीन श्लोकों से तीनों प्रकार के ब्राह्मणादि वर्णों के उपनयनसंस्कार का विधान कह दिया इस से वे तीनों श्लोक विधिवाक्य हुए अब दो श्लोकों से उस विधि का निन्दारूप अर्थवाद दिखाते हैं (अत ऊर्ध्वं यथाकालमसंस्कृतास्त्रयोऽप्येते) सोलह आदि वर्षों के नियत काल तक जिन का संस्कार नहीं हुआ वे तीनों ब्राह्मणादि वर्ण सत्रह आदि वर्षों में धर्मकर्मरहित अन्य संसारी कार्यों में फसे (सावित्रीपतिता आर्यविगर्हिता व्रात्या भवन्ति) संस्कार सहित मन्त्रोपदेश न होने से सन्ध्योपासनादि कर्म से भ्रष्ट इस से धर्मकर्मरत ब्राह्मणादि आर्य लोगों में व्रात्य इस निन्दित नाम से पुकारे जाने वाले निन्दा के योग्य होते हैं । अर्थात् धर्मपरायण आर्य ब्राह्मणादि को उचित है कि जो यज्ञोपवीतादि नियमानुकूल धारण करके सन्ध्योपासनादि धर्म कर्म न करे वह चाहे अपना निज पुत्रादि ही क्यों न हो उस को अपने समुदाय से पतित कर देवें और व्रात्य नाम से उस का व्यवहार करें निन्दनीय नीच समझें और (विधिवदपूतैरेतैः) शास्त्रोक्त रीति से ठीक २ प्रायश्चित्त करके फिर यज्ञोपवीत संस्कार कर धर्म कर्म न करने लगें तो इन पतित व्रात्यों के साथ (ब्राह्मणः) शुद्ध ब्राह्मणादि वर्ण का कोई भी पुरुष (कर्हिचिदापद्यपि, ब्राह्मान् यौनांश्च सम्बन्धान्नाचरेत्) कभी आपत्काल में भी उन से वेदादि को पढ़ना वा उन को पढ़ाना और उन को कन्या देना वा उन की कन्या का विवाह अपने यहां किसी के साथ करना, न करें अर्थात् इत्यादि सब व्यवहार उन के साथ छोड़ देवें । और वे लोग यदि प्रायश्चित्त करके फिर ठीक २ संस्कारी हो धर्मकर्म करने लगें तो

अवश्य उन के साथ सम्बन्ध वा व्यवहार करना चाहिये ॥

भा०—यदि सोलह आदि वर्षोंपर्यन्त काल में ब्राह्मणादि वर्ण उपनयन संस्कार करके सन्ध्योपासनादि कर्म का सेवन न कर लेगें तो धर्मकर्मनिष्ठ संस्कारी आर्यों को योग्य है कि उन को अपनी जाति पांति से बाहर करदें और निन्दार्थबोधक व्रात्य नाम से उन का व्यवहार करें क्योंकि दण्ड के भय से ही सब अपने २ काम में लगते हैं। दण्ड के भय से अन्य लोग ठीक २ समय में संस्कार करें वा करावेंगे इस से दण्ड का विधान सफल जानो। कोई लोग केवल यज्ञोपवीत सूत्र ठीक समय धारण भी करलें तो वे सूत्र भी न धारण करने वालों की अपेक्षा कुछ संस्कृत वा अपने को संस्कृत मानने वाले रहो पर वास्तव में ब्रह्मचर्याश्रम के कर्मों का सेवन करने वालों की अपेक्षा वे भी असंस्कृत व्रात्य ही हैं। जैसे पहिले अन्य रंग में रंगे वा मलिन वस्त्र को भी अरिष्टादि मसाला देकर विशेष उपाय से पछार के धोया जाय तो अभीष्ट रंग से रंगने योग्य हो सकता है वैसे ही सोलह आदि वर्षों के पश्चात् असंस्कारी धर्मकर्मरहित लोग यदि श्रौतस्मार्त्त कर्मों का सेवन श्रद्धापूर्वक स्वीकार करना चाहैं तो शास्त्रोक्त रीति से यथाशक्ति प्रायश्चित्त कराके संस्कार कराना चाहिये। वे लोग यदि फिर वेदोक्त कर्मों का सेवन करने लगें तो शिष्ट ब्राह्मणादि आर्य्यों में उन का वेद पठन पाठन वा विवाहादि सम्बन्ध होना चाहिये अर्थात् आर्यों में मिला लिये जावें और प्रायश्चित्तादि न करें तो शिष्ट समुदाय से अलग रहें और सब व्यवहार अलग ही करें। पहिले समय में जब नियमानुकूल ठीक २ संस्कार हो के प्रायः सब ब्राह्मणादि वर्ण अपने २ श्रौत स्मार्त्त धर्मकर्मों में तत्पर रहते थे। तब किन्ही असंस्कारियों को जातिबाह्य करना सम्भव था। और जब संप्रति प्रायः सभी अर्थात् नाममात्र जिन का संस्कार हुआ वे भी सन्ध्योपासनादि धर्म कर्मों से रहित दुष्कर्मों में प्रवृत्त व्रात्य ही दीखते हैं तब कौन किस को जाति बाहर करे ? अस्तु तथापि वैदिकधर्म की उन्नति चाहने वालों को यथोचित उपाय धर्मशास्त्रानुकूल वर्त्ताव का अवश्य करना चाहिये ॥ ३९ । ४० ॥

कार्ष्णरौरववास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः ॥
वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च ॥४१॥

अ०—ब्राह्मणादयः कृतोपनयना ब्रह्मचारिणः कृष्णरुरुमृगयोर्वस्तस्य छागविशेषस्य चानुपूर्व्येण चर्माणि शणक्षुमाविरोमसम्भवानि वस्त्राणि च यथाक्रमं वसीरन् ॥

भा० —बहुकालस्थायीनि दृढानि चार्शःप्रभृतिरोगनिवारकाणि च कृष्णाजिनादिचर्माणि तस्मात्तेषामासनार्थं स्वीकरणम्। शणादिविकारजानि वस्त्राणि च शरीरावयवाच्छादनाय कौपीनाय च विधीयन्ते। स्वयं मृतानामनायासप्राप्तानि कृष्णाजिनादिकचर्मासनानि कार्याणि न चासनार्थं हिंसा कर्तुं युक्ता तस्मादलाभे यथोचितमन्यदेव देशकालानुकूलमासनं विधेयमिति ॥ ४१ ॥

भाषार्थः—(ब्रह्मचारिणः कार्ष्णरौरववास्तानि चर्माणि) उपनयनसंस्कार किये हुए ब्राह्मणादि तीनों वर्ण के ब्रह्मचारी करसायल हिरण, रोज और पहाड़ी जंगली बकरों के चर्म क्रम से आसन के लिये और सन अलसी तथा भेड़ की ऊन के बने वस्त्रों को क्रम से ओढने के लिये ग्रहण करें अर्थात् ब्राह्मण ब्रह्मचारी कृष्णाजिन और दूसरी वस्त्र, क्षत्रिय ब्रह्मचारी रोज चर्म, अलसी का वस्त्र; और वैश्य ब्रह्मचारी बकरे का चर्म और ऊनी वस्त्र धारण करे ॥

भा०—कृष्णाजिनादि चर्म बहुत काल तक ठहरने वाले दृढ़ और बैठने वालों के बवासीर आदि रोगों को नहीं होने देते वा रोग हों तो दूर करते हैं इस से बन में रहने वाले ब्रह्मचारियों को चाम के आसनों का विधान किया है और होना भी चाहिये। सनई आदि के वस्त्र शरीर पर ओढने और कौपीन बनाने के लिये हैं। सब वर्णों के ब्रह्मचारियों का भेद और तारतम्य प्रतीत कराने के लिये चर्म वा वस्त्रादि चिन्हों का भिन्न २ विधान है। स्वयमेव अपने मृत्यु से मरे मृगादि के चर्म सहज में प्राप्त हो सकें तो उन के आसन बनाने चाहियें किन्तु आसनों के लिये हिंसा करना वा कराना उचित नहीं है इस कारण चर्मासन प्राप्त न हो सकें तो देश कालानुकूल अन्य कुशादि के आसन कर लेने चाहियें चर्मासन के विना ब्रह्मचर्य में कोई बाधा नहीं हो सकती धर्मशास्त्र का उद्देशमात्र देखना आवश्यक है ॥ ४१ ॥

मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला
क्षत्रियस्य तु मौर्वीज्या वैश्यस्य शणतान्तवी ४२
मुञ्जालाभे तु कर्त्तव्याः कुशाश्मन्तकवल्वजैः ॥
त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिः पञ्चभिरेव वा॥४३॥

अ०—मुञ्जस्य समं श्लक्ष्णं बन्धं बटित्वा तं च सम्यगेठित्वा

विप्रस्य ब्राह्मणस्य मौञ्जी समा श्लक्ष्णा त्रिवृन्मेखला कार्या, क्षत्रियस्य तु मौर्वाबन्धसम्भवा वैश्यस्य शणतन्तुसम्भवा च त्रिप्रस्येव समा श्लक्ष्णा च निर्मातव्या। मुञ्जालाभइत्यत्र कर्त्तव्याइति बहुवचननिर्देशादादिपदमध्याहर्त्तव्यम्। तेन मुञ्जाद्यलाभे ब्राह्मणादीनां मेखलाः कुशाश्मन्तकवल्वजतृणविशेषैः कार्याः। तत्र सर्वमेखलासु यथासम्भवं पुष्टिमालोच्यैकेन ग्रन्थिना त्रिभिर्ग्रन्थिभिः पञ्चभिर्वा सर्वथा त्रिवृता यज्ञोपवीतवत्कार्या॥

भा०-कौपीनधारणार्था ब्रह्मचारिणां मेखलास्ताश्च यथा मुञ्जाद्यभावे कुशादीनां कर्त्तव्यास्तथैव कुशाद्यभावेऽपि तत्सदृशान्यतृणैर्यथाप्राप्तैः कार्याः। मुञ्जादिष्वीदृशा अपि केचिद्गुणा अनुमीयन्ते ये कट्यां मुञ्जादिसङ्गेन ब्रह्मचर्यरक्षणे साहाय्यं दद्युर्विषयवासनां च न प्रकटयेयुः। ब्रह्मचारिभिर्विषयवासनातः सर्वथैव विरक्तैर्भाव्यमयमेव तेषां मुख्यो नियमः। मृदुत्वप्रधानवसनादिचिन्हधारणं च विषयवासनोद्बोधकमिति मत्वा मुञ्जादिमेखलाधारणमुक्तम्। कटिप्रदेशे त्वग्भेदेन व्रणा न स्युरेतदर्थं मेखलाः समाः श्लक्ष्णाश्च कार्याइति कथनम्। मेखला निर्माणप्रकारश्च शास्त्राज्ञानुकूलो लोकप्रसिद्धस्तथैव निर्मातव्याः॥ ४२। ४३॥

भाषार्थः-(मौञ्जी, समा, श्लक्ष्णा) मुंज का बराबर चिकना बान वा बाध बट कर और उस को अच्छे प्रकार ऐंठ के (विप्रस्य, त्रिवृत्, मेखला, कार्या) ब्राह्मण ब्रह्मचारी की तीन लर की मेखला अर्थात् कन्धनी बनानी चाहिये (तु, क्षत्रियस्य, मौर्वी, ज्या) और क्षत्रिय ब्रह्मचारी की मेखला धनुष वा कमान की रस्सी के तुल्य मूर्वा [मुरा वा मुरहरी] कर के प्रसिद्ध घास की बनानी और (वैश्यस्य शणतान्तवी) वैश्य ब्रह्मचारी की सन की सुतरी ऐंठ कर बराबर चिकनी तीन लर की मेखला बनानी चाहिये (मुञ्जालाभे तु) और किसी देश वा काल में ब्राह्मणादि के लिये पूर्वोक्त मूंज आदि मेखला के लिये न मिल सकें तो (कुशाश्मन्तकवल्वजैः, कर्त्तव्याः) कुश की ब्राह्मण को अश्मन्तक नाम उलप [आउड़] की क्षत्रिय को और बल्वज नाम बगई की वैश्य को मेखला बनानी चाहिये। उन सब मेखलाओं में जिस प्रकार ठीक पुष्टि हो वैसी (एकेन, ग्रन्थिना, त्रिभिः

पञ्चभिरेव वा त्रिवृता) एक तीन वा पांच गांठें लगाकर सब दशा में यज्ञोपवीत के तुल्य तीन ही लरों की मेखला बनानी चाहिये ॥

भा०—कौपीन नाम लंगोट लगाने के लिये ब्रह्मचारियों को मेखला नाम कन्थनी का विधान है । वे मेखला जैसे मूंज आदि के न मिलने पर कुशादि की बनानी चाहियें वैसे ही कहीं किसी को कुशादि के भी न मिलने पर अन्य किसी वैसे ही घास आदि की बनानी उचित है । मूंज आदि वा कुशादि तृणों में कुछ ऐसे गुण भी होते हैं जो शरीर में लगे रहने से ब्रह्मचारियों के ब्रह्मचर्य रक्षा में सहायक हों विषयवासना को प्रकट न होने देवें और वास्तव में अधिक कोमल वस्त्रादि चिन्हों का धारण करना मनुष्य को विषयभोग की ओर झुकाता है। इस कारण रूखी कठोर मूंज आदि की मेखलाओं का धारण कहा है। और कटिभाग में त्वचा छिल जाने से घाव न हो जायं इस कारण बराबर और चिकनी घोटी हुई रस्सी की मेखला बनाने का विधान है । मेखला बनाने की रीति शास्त्र की आज्ञा के अनुकूल लोक में भी प्रसिद्ध है इस कारण वैसी ही बनानी चाहिये ॥ ४२ । ४३ ॥

कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत् ॥
शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम् ॥४४॥

अ०—विप्रस्य कर्पास्याविकारभूतसूत्रसम्भवं कार्पासं, राज्ञः क्षत्रियस्य शणसूत्रमयं, वैश्यस्य चाविकसौत्रिकं मेषोर्णासम्भवमूर्ध्ववृतं तन्तुत्रयं संयोज्य दक्षिणहस्तेनोर्ध्वं संवलितं तच्च पुनरपि त्रिवृत् दक्षिणहस्तेनाधस्तात् त्रिगुणं वलितमेवं नवतन्तुकमुपवीतं स्यात् कार्यं निर्मातव्यमिति यावत् ॥

भा०—यदि पूर्वमधोवलितमनन्तरमूर्ध्ववलितं त्रिगुणं कुर्यात्तदापि न कश्चिद्दोषः । देशधर्मोऽयं यथा सुकरं तथा विधेयम् । क्वापि कार्पासादिसूत्रालाभे क्षौमादिसूत्राणामपि धार्यम् । यत्कार्यं येन प्रकारेण येन वस्तुना वा विहितं तस्यालाभे कार्यं नैव त्याज्यमपि तु तत्प्रतिनिधिना प्रकारान्तरेण वस्त्वन्तरेण वा कार्यं साध्यमिति पूर्वं मनुनोक्तं तत्सर्वत्रैव बोध्यम् । तथापि निर्दिष्टत्वात्कार्पासादेः प्राधान्यं बोध्यम्। उपवीतपदं वामस्कन्ध-

मवलम्ब्य दक्षिणकक्षावधि कस्यापि वस्तुनो धारणवाचकं तद्-द्यत्सूत्रं नियमेन धार्यते तदप्युपवीतमिति गौणभावेन रूढित्व-मुपवीतपदस्य । यज्ञानुष्ठात्रा यज्ञसूचकं चिन्हमवश्यं धार्यमिति यज्ञसम्बन्धकारणाद्यज्ञोपवीतमित्युच्यते । यज्ञपदेन च विधिय-ज्ञयोगयज्ञज्ञानयज्ञतपोयज्ञपञ्चमहायज्ञादयश्च सर्वे ग्राह्यास्तेषु ब-हुषु कस्मिंश्चिद्वा यज्ञे नियमेन यः प्रत्यहं तत्परस्तेन ब्राह्मणा-दिना तत्सूत्रमवश्यं धार्यं येनान्ये तस्य कर्माधिकारं च लिङ्गे-नैव ज्ञात्वा तथा व्यवहरेयुरिति । एकगुणमपि नवतन्तुकं धार-येत्तदापि नास्ति कश्चिद्दोषः स्मृतिवचनानां तथाप्यर्थः संघटते पञ्चगुणं सप्तगुणं वापि धारयितुं शक्यते तथापि गुणत्रयेण वेद-त्रयं विद्यात्रयं वा धारयामीति ज्ञापयितुं त्रिगुणं धारयेत्, आह-वनीयादग्नित्रये यज्ञानुपासीत, उत्पत्तिस्थितिलयकर्तृ त्रिमात्रो-पदवाच्यं ब्रह्मोपासीतेत्यादिरूपं त्रित्वसंख्याप्रधानं स्वस्य कृत्यं सू-चयितुमुपवीतस्य त्रिगुणस्यैव यज्ञोपवीतस्य प्रधानतया प्रायेण वा त्रयीविद्यायाः प्राधान्यवद्धारणं पूर्वकालात्सर्गारम्भादेव वा प्रचुरप्रचारमासीदित्यनुमानं सत्यमेव प्रतीयते नास्त्यत्र सन्देहले-शोऽपि । तथापि केनचित्पुरुषेण धर्मविषयएकमेव किमपि प्रधा-नकृत्यं सूचयितुमेकगुणं पंचत्वं सप्तत्वं वा स्वमन्तव्यानां सूचयितुं पञ्चगुणं सप्तगुणं वा धार्यमिति नास्ति काचित्तत्र दोषापत्तिः । सर्वस्य पृथक्पृथग्गुणकर्मबोधनाद्वैषम्यमेव सर्वस्य जगतो व्यव-स्थापकमिति कृत्वा विषमसंख्याकगुणानां धारणं प्रवृत्तमित्यनु-मीयते । समत्वं सामान्यं वा सामान्यमेव न च तद्विशेषबोधहे-तुकमिति समसंख्याकसूत्रधारणं पूर्वकालादेव शिष्टैर्नाङ्गीकृतमि-त्यपि बोद्धव्यमेव ॥ ४४ ॥

भाषार्थः-(विप्रस्य) ब्राह्मण ब्रह्मचारी का (कार्पासम्) कपास के सूत का, (राज्ञः) क्षत्रिय का (शणसूत्रमयम्) सनई की टसर का, (वैश्यस्याविकसौत्रिकम्)

धन्यवाद ॥

श्रीभट्टयानन्द विश्वविद्यालय पाठशाला प्रयाग की सहायता में एप्रिल, मई, जून ९५ में जिन २ महाशयों ने सहायता दी धन्यवाद सहित नीचे प्रकाशित की जाती है ॥

१) श्री० विष्णुदेव वर्म्मा उप संशोधक सर० प्रयाग ने हवनयज्ञ की दक्षिणा पाठशाला को देदी ।

२॥) श्री० फुन्नीलाल जी प्र० आ० स० भोलेपुर ने धर्म्मार्थ दान दिय

४) श्री० शाकम्भरीदास जी सब ओ० सी० जबलपुर ने धर्म्मार्थ

१५) श्री० लच्छीरामखेमकाचूरू निवासी महाशयने सहायता में

२) श्री० नारायणदास जी मं० आ० स० फर्रुखाबाद ने पुत्री के विवाहोत्सव पर दान दिया ।

८॥) श्री० शिवरावमंगेश रईस मंजेश्वर ने सहायतार्थ ।

॥) श्री० देवीदीन राय रईस प्रयाग ने विद्यार्थियों को खरबूजा खुलाने के अर्थ ।

४) श्री० मिट्ठनलाल जी आ० स० विजनौर ने श्री० उमरावसिंह जी सब ओ० सी० के विवाह में दान भेजा ।

५) आर्य्यसमाज रायबरेली जो नया स्थापित हुवा उस ने सहायता में दिये क्योंकि पं० तुलसीराम स्वामी को बुलाया था इस विचार से कि उन के आने से भी पाठशाला को कुछ हानि होगी उस की पूर्त्ति तथा धर्मार्थ–

५) इसी प्रकार ला० टीकाराम जी प्र० आ० स० कासगंज ने अपने पुत्र के विवाह में पं० भीमसेन शर्म्मा जी को बुलाया था तब भी पाठशाला को उक्त प्रकार से दान दिया॥ अन्य सज्जन भी जब २ किन्हीं उत्सवादि पर बुलावें और उस समय न्यून से न्यून ५) भी देकर पाठशाला को सहायता दिया करें तो उन्हें अपने उत्सव में यह खर्च साधारण प्रतीत पड़े परन्तु पाठशाला को इस प्रकार ऐसी सहायत मिलती रहे तो काल पाकर एक स्वतन्त्र अध्यापक रखने का समर्थ हो जावे–

१) श्री० मेघवर्णसिंह जी रायबरेली ने पुत्र के उपनयनसंस्कार में

१॥)॥ श्री० हनुमान्प्रसाद जी लखनऊ ने धर्म्मार्थ ।

७) श्री० पं० न्यादरसिंह जी ने पुत्र के विवाह में गौड़ब्राह्मण विद्यार्थी की सहायतार्थ । यदि इसी प्रकार अन्य गौड़ब्राह्मण भी सहायता करें तो एक विद्यार्थी स्वतन्त्र इन की ओर से ही विद्या लाभ कर आशीर्वाद देवे ।

२) श्री० ठा० कर्णसिंह जी बुटला न पुत्र के उपनयनसंस्कार में दान दिया

२) श्री० सेठ बेल जी लखमसी बम्बई ने सहायतार्थ ।

१) सूद पाठशाला फंड के १००) पर दो मास मई व जून ९५ का ।

१) श्री० जगदम्बाप्रसाद जी मिर्ज़ापुर ने धर्म्मार्थ ।

३) श्री० मन्नालाल जी मुंगेली धर्म्मार्थ ।

१) श्री रामप्रसाद जी गंडोला (बान्दा) ने धर्म्मार्थ ।

विशेष सूचना ॥

मनुभाष्य के ग्राहक महाशयों की सेवा में निवेदन है कि—यद्यपि मैं मनुभूमिका में जो २ सूचित कर चुका हूं प्रायः उन्हीं नियमों वा विचारों के अनुसार भाष्य छपाता हूं तथापि जब सत्य का ग्रहण असत्य का त्याग सदा करना हमारा मुख्य सिद्धान्त है तो तदनुसार यदि कोई पहिले असत्य समझी बात पीछे सत्य प्रतीत हो तो आप उस को निष्पक्ष दृष्टि से देखें। यद्यपि अभी ऐसा नहीं हुआ तथापि यह सिद्धान्त सदा दृढ़ मानना उपकारी अवश्य है। मनुभूमिका में जिन श्लोकों को मैंने प्रक्षिप्त ठहराया था उन कई वा प्रायः श्लोकों पर पूर्वपक्ष में जो समाधान होना सम्भव समझा सो भी भाष्य में लिखा गया है। इस से आप लोग यह न समझ लें कि उन श्लोकों को मैंने सत्य ही ठहरा दिया हो वा यह भी न समझ लें कि मिथ्या ही हो चुके किन्तु मेरी समझ में विचारसाध्य हैं वा सन्देह पक्ष में हैं इसीलिये मैंने मनुभूमि० में प्रायः यही लिखा है कि अमुक २ कारणों से ये श्लोक प्रक्षिप्त जान पड़ते वा प्रतीत होते हैं। और इसी कारण अब भी उन पर शङ्का समाधान दोनों लिखता जाता हूं। मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य यही है कि सत्य असत्य वा धर्म अधर्म की अच्छे प्रकार कुछ काल तक परीक्षा करके निश्चय करे परीक्षा होने पर जो सत्य ठहरे उसे सत्य माने और असत्य को छोड़ दे। तदनुसार अनेक सम्मति से यदि कोई सन्दिग्ध श्लोकों में समाधान के योग्य निकलेंगे तो माने जायंगे। पाठकों को भी उन की सत्यता असत्यता पर ध्यान दे शोचना उचित है और जिन २ महाशयों की समझ में जो आवे मुझे कृपया सूचित करें और कोई लोग यह समझते हों कि जो मनुष्य किसी पर भाष्य करे वह प्रत्येक विषय में सत्य वा असत्य का कुछ निश्चय कर ही दे विचारपक्ष में कुछ न छोड़े तो यह पूर्व से ऋषि लोगों ने भी नहीं किया अर्थात् ऋषिमहर्षिभाष्यकारों ने भी विचार पक्ष में कई विषय छोड़े हैं जैसे व्याकरण अष्टाध्यायी के महाभाष्यकार पतञ्जलि ऋषि जी ने लिखा है—

तदेतदत्यन्तं सन्दिग्धं वर्त्तते आचार्याणां विभाषानुवर्त्तते नवेति ॥

यह लेख प्रत्याहार सूत्रों के व्याख्यान में लिखा है कि "झरोझरि सवर्णे" सूत्र में विभाषा की अनुवृत्ति है वा नहीं इस का अध्यापकों को बड़ा सन्देह है दोनों प्रकार के हेतु मिलते हैं। इत्यादि सहस्रों उदाहरण मिल सकते हैं जिन में बहुत बातें विचार पक्ष में छोड़ी हुई आर्ष वा अनार्ष प्रायः सभी भाष्यों में मिलेंगी। और यह उचित भी है कि विचारपक्ष के योग्य विषयों को विचाराधीन ही रक्खा जाय। यदि शीघ्रता में अन्यथा निश्चय होजाय तो उस से संसार की हानि और लिखने वाले पर अधर्म ये दोनों ही सम्भव हैं इसलिये मेरा भी मनु के किन्हीं [अर्थात् जिन के लिये वेद विरुद्ध होना आदि पुष्ट प्रमाण दिया जाय उन को निश्चित प्रक्षिप्त ही समझना] श्लोकों को विचारपक्ष में लिखना प्राचीन परिपाटी के अनुकूल ही समझना चाहिये ॥ ह० भीमसेन शर्मा

॥ ओ३म् ॥

मानवधर्मशास्त्रम् ॥

लोकोपकारमनीषया भीमसेनशर्म्मकृतमानवधर्ममीमां-
साभिधव्याख्योपेतम् ॥
संस्कृतभाषया लोकभाषया च व्याख्यातम् ॥

२ भागे } ॥ मासिकपत्रम् ॥ { ८–९ खण्डौ

सज्जनानां साहाय्येन स्वीयसरस्वतीयन्त्रालये
तुलसीराम स्वामिनः प्रबन्धेन
मुद्रापयित्वा प्रकाशितम् ॥

प्रयाग

५ नवंबर, सन् १८९५ ईस्वी संवत् १९५२ मार्गशिर

इस की रजिष्टरी कराई गयी है किसी को छापने का अधिकार नहीं ॥

वार्षिक मूल्य २)

प्रथमवार १५०० मूल्य प्रति खण्ड ≡)॥

मूल्यप्राप्तिस्वीकार १ अगस्त से ३१ अक्तूबर ९५ तक ॥

६२६ श्रीताराचन्द टीचर बीवां गुड़गांवा २)
६२७ पं० गंगासेवक तेवारी कुन्दौली १॥)
२३८ श्री बालमकुन्दसहाय प्रयाग २)
६३१ श्री जानकीप्रसाद कुम्भराज २)
१२२ श्री पद्मसिंह सुन्दरपुर २)
१६० श्री रघुनन्दनप्रसाद सोनपुर २)
३६ श्री कर्त्तारास जी करनाल २)
१७८ श्री रलाराम जी भण्डारी मुरार २)
३८१ श्री द्वारिकाप्रसाद जी पुरवामीर २।)
३६१ पं० बालगोविन्ददीक्षित बीगहपुर २)
६३०ला०गङ्गीशाहहरलालशाहतल्लीताल२)
३२८ पं० बलभद्र शर्म्मा खुर्पोली २)
६३२ श्री महेन्द्रसिंह तरनतारन ४)
६२९ सेक्रीटेरीलाइब्रेरीबड़वानीसीआई२)
५० बा० रघुवरदयालु जी भदरसा २)
१६१ श्री केवलप्रसाद सेवनीछपारा २)
२०२ बाबू तुलसीराम देहरादून २)
१०९ पं० कर्त्तारास जगरांव २)
७७ डाक्टर इन्द्रमणि जी लखनऊ २)
९५ पं० नन्दनसिंह उपाध्याय बेरी २)
२५४ किशनलाल जी नागर मथुरा २)
१४४ श्री टक्कनलाल अम्बाला २)
६३६ श्री नारायणदत्त पतरिया १॥=)
४५६ ला० ब्रजलाल जी जलाली २॥)
२०३ श्री बदरीदत्त जोषी देहरादून २)
५३ श्री शिवदयाल मुदर्रिस तिगांव २)
२५३ ला० भिक्खीलाल तिगांव २)
२५२ श्री मूलचन्दरामप्रताप नवानगर २)
८५ बा० विहारीलाल मं० आ०स० बाड़ी२)
४९ श्री कमानसिंह देहरादून २)
[illegible] बाबू गोपालसहाय फ़ीरोज़पुर २)
६३५ श्री बादामसिंह छेरत्त ३)
५८६ श्री बेचेलाल घुरसेन २)
६३७ पं० छेदीप्रसादशर्म्मा बलौदा २)
६११ प० चिन्तामणि शर्मा रूपधनी २)
६३८ ला० चोखेलाल भीम १)
२८० श्री दुर्गाप्रसाद बनकट २)
६३९ ला०गंगासागर लोहिया कलकत्ता २)
४१३ बा० बालकृष्ण जी रांची २)
६० चौबे केशवदेव मथुरा २)
२२९ पं० कमलापति मा० मगनबि-
हारीलाल फ़ीरोज़ाबाद २)
६४२ पं० हरिशंकर मथुरा २)
६४० मास्टर आत्माराम जी अमृतसर २)
५१७ श्रीनवलसिंह मं० आ० किराणा २)
४०० ला० हरवंशलाल किराणा २)
६९ पं० देवीप्रसाद दुबे व्यावर २)
७० पं० गुरुप्रसाद शर्म्मा व्यावर २)
२८९ ठा० मगनसिंह धौंकड़ी २)
६४१ छगनलाल गोपालदास मुम्बई २)
२९ भैरवलाल शर्मा जूनी इन्दौर २)
५२० वरसा जी जिया जी बांकानेर २)
४९७ श्री मदनमोहन आगरा २)
१९१ श्री सतीप्रसाद सैदसू १=)८
३७९ श्री गदाधरसिंह जी मधुरापुर २)
९९ पं० रंगोपन्त सेक्र०आ०जबलपुर ४)
१०० बाबू गिरधारीलाल ,, २)
५२२ श्री सूर्य्यनारायणगिरि आरा २)
३०७ श्री ठाकुरप्रसाद अलीगढ़ २)
४८० बां० दुर्गाचरण मुरादाबाद १॥=)
२१४श्रीठाकुर गणेशसिंह कटनीमुड़वाड़ा२)
२६६ श्रीरुस्तमसिंह स्टे०मा०पटियाली २)
४९७ श्री मदनमोहन दुबे निर्ज़ापुर २)

और वैश्य वर्ण के ब्रह्मचारी का भेड़ की ऊन का (ऊर्ध्ववृतम्)पहिले तिगुना एकत्र करके बाम हाथ पर धर के दहिने हाथ से ऊपर को ऐंठ के (त्रिवृत्) फिर भी उस तिगुने को तिगुना कर के दहिने हाथ से नीचे को ऐंठे इस प्रकार नव सूतों का (उपवीतं स्यात्) उपवीत यज्ञोपवीत बनाना चाहिये ॥

भा०– यदि पहिले नीचे को तिगुना ऐंठ कर पश्चात् तिगुना कर ऊपर को ऐंठ ले तब भी कुछ हानि नहीं यह देश चाल के आधीन है जैसी सुगमता हो बना ले दोष किसी में नहीं है । तथा किसी देश वा काल में किसी को कपास आदि यथोक्त वस्तु प्राप्त नहीं तो अन्य रेशम आदि का वा किसी प्रकार की ऊन का बना कर पहरना भी अच्छा है । अर्थात् एक प्रकार से वा उक्त वस्तु के न मिलने से कार्य रुकता हो तो अन्य यथोचित प्रकार से वा यथाप्राप्त वस्तु से काम निकाल लेना यह एक बार मनु जी ने पहिले जता दिया है उस को सर्वत्र समझ लेना चाहिये पर जिन कपासादि का नाम लिया गया उन का बनाना प्रधान अवश्य है ॥ बायें कंधे पर से दहिनी कक्षा–कांख वा कोख तक किसी वस्तु के धारण का नाम उपवीत है । उसी के तुल्य जिस सूत्र का नियम से धारण किया जाय वह भी गौणभाव से उपवीत पद का रूढि अर्थ हो जाता है । उपवीत शब्द के साथ यज्ञ शब्द इस लिये लगाया गया कि यज्ञ करने वाले को यज्ञ का सूचक चिन्ह अवश्य धारण करना चाहिये । अर्थात् पूर्वज लोगों ने वेदानुकूल यज्ञकर्त्ताओं के लिये यह चिन्ह नियत किया था ऐसे यज्ञ के सम्बन्ध से यज्ञोपवीत नाम कहा जाता है । और यज्ञ शब्द से अग्नि में होम करना रूपविधियज्ञ, योगयज्ञ, ज्ञानयज्ञ, तपोयज्ञ, और पञ्चमहायज्ञादि सर्व सामान्य यज्ञों का ग्रहण होना चाहिये । जो पुरुष इन बहुत से यज्ञों में वा किसी एक यज्ञ में नियम से प्रति दिन तत्पर रहता है उस ब्राह्मणादि को यज्ञोपवीत चिह्न अवश्य धारण करना चाहिये । जिस से अन्य लोग उस के चिह्न से ही उस के कर्म वा अधिकार की योग्यता जान कर उस के साथ वैसा ही वर्त्ताव करें । वर्त्तमान समय में भी चिन्हों [तग्मा या वर्दी आदि] के अनुसार अधिकार वा योग्यता मक्क के अंग्रेजी राज्य में वर्त्ताव होता है । यदि कोई पुरुष नवसूत मिला के नाया एक लर का यज्ञोपवीत पहने तो भी कोई दोष नहीं क्योंकि धर्मशास्त्र वचनों का अर्थ वैसा भी घट सकता है और कदाचित् जैसे सर्वत्र सामान्य से विशेष वा थोड़े से बहुत होता है वैसे ही प्रारम्भ में एक ही लर का यज्ञोपवीत ने की चाल चली हो पीछे त्रयीविद्या के विशेष व्याख्यान के साथ तीन लर ाल चलायी हो यह सम्भव है और पांच वा सात आदि विषमलरों का भी हन सकते हैं । तो भी तीन लरों से तीन वेद वा तीन प्रकार की वेदविद्या को धारण करता हूं ऐसा जताने के लिये तीन लरों का ही यज्ञोपवीत अधिांश धारण करे । ब्रह्मचर्यादि तीन आश्रमों के आहवनीयादि नामक तीन अ-

ग्नियों में यज्ञों का सेवन करे, तीन मात्रा वाले ओंपद् के वाच्य उत्पत्ति स्थिति और प्रलय इन तीन कामों के मुख्यकर्त्ता ब्रह्म की उपासना करे इत्यादि तीन २ संख्या जिन में प्रधान हैं ऐसे अपने कर्त्तव्य को जताने के लिये तीन लरों वाले ही यज्ञोपवीत का मुख्य कर वा प्रायः त्रयीविद्या की प्रधानता के समान धारण करना पूर्वकाल से वा सृष्टि के आरम्भ से अधिक प्रचार पाया यह अनुमान से ठीक ही प्रतीत होता है किन्तु इस में कुछ भी सन्देह नहीं है। तथापि कोई मनुष्य धर्म विषय में अपने किसी एक पांच वा सात आदि विषम प्रधान कर्त्तव्यों को जताने के लियै एक पांच वा सात आदि लरों का यज्ञोपवीत पहने तो उस में कुछ दोषापत्ति नहीं है और सब प्राणियों के पृथक् २ गुण अवगुण वा सुकर्म दुष्कर्म जताने से विषमता ही सब की व्यवस्था रखने वाली है ऐसा मान कर विषम संख्या वाले यज्ञोपवीत का धारण करना प्रवृत्त हुआ। और समत्व वा सामान्य तो सामान्य ही है किन्तु वह विशेषता के बोध का हेतु नहीं इस कारण दो चार आदि संख्या के सूत्रों के यज्ञोपवीत का धारण पूर्वकाल से ही शिष्ट लोगों ने स्वीकार नहीं किया। और क्षत्रिय वैश्यादि का भिन्न २ यज्ञोपवीतादि वर्णभेद जताने के लिये है यह भी ध्यान रखना चाहिये ॥ ४४ ॥

ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ।
पैप्पलौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः ४५

अ०-धर्मतः स्वसदृशधर्मगुणसम्बन्धाद् ब्राह्मणो बिल्वपलाशविकारौ क्षत्रियो वटखदिरविकारौ वैश्यश्च पिप्पलोदुम्बरविकारौ दण्डान् प्राप्तुमर्हन्ति। एकस्याप्राप्तावितरस्य ग्रहणार्थं द्वयोर्द्वयोर्निर्देशो नतु दण्डद्वयग्रहणाय ॥

भा०-उपनयनं प्राधान्येन संस्काराङ्गं तस्य च दण्डधारणादीन्यङ्गानि। तस्मात्संस्काराङ्गभावेनैषामपि संस्कारकत्वम्। अत्र धर्मतइति पदं बिल्वादिषु ब्राह्मणत्वादिगुणसत्ताप्रदर्शनार्थम्। जगति यत्र यत्र सत्त्वगुणस्य प्राधान्यं तत्तद्ब्राह्मणत्वयुक्तं स्वीकार्यम्। एवं रजःप्रधानं क्षत्रियत्वम्। अस्ति च बिल्वे पलाशे च सत्त्वस्याधिक्यम्। तथाचोक्तम्-असौ वा आदित्यो यतोऽजायत ततो बिल्वउदतिष्ठत। स योन्यैव ब्रह्मवर्चसमवरुन्धे। क्षत्रं वा एत

नस्पतीनां यन्न्यग्रोधः क्षत्रं वै राजन्यइति । मरुतो वा एतदोजो यदश्वत्थः मरुतो वै देवानां विशः । ऐतरेयब्राह्मणादीनामिमानि वचनानि । मेधायुःकामीयरसायनप्रकरणे च सुश्रुतेऽपि बिल्वस्य सत्त्वप्राधान्यमेव प्रदर्शितम् । एवमन्यत्राऽप्यायुर्वेदे पलाशादि-गुणानां ब्राह्मणत्वादिना सम्बन्धोऽन्वेषणेन प्राप्स्यत्येवेति । तत्त-द्गुणप्रधानदण्डानां धारणेन ब्राह्मणत्वादिकमुद्बुद्धमुन्नतिशीलं वा भवति । यथाऽग्निनाग्नेः संयोगस्तेजोवर्द्धको जायतएवमत्रापि ब्राह्मणत्वादीनामुत्तेजकत्वाद्बिल्वदण्डादीनां संस्कारकत्वं बोध्यम् ॥

भाषार्थः-(ब्राह्मणः) ब्राह्मणवर्ण का ब्रह्मचारी (धर्मतः) अपने ब्राह्मणपन-रूप धर्म वाले (बैल्वपालाशौ) बेल वा ढाक के (क्षत्रियः) क्षत्रिय ब्रह्मचारी अपने क्षत्रियपनरूप धर्म वाले (वाटखादिरौ) बट वा खदिर के और (वैश्यः) वैश्य ब्रह्मचारी अपने वैश्यपन धर्म वाले (पैप्पलौदुम्बरौ) पीपल वा गूलर के [पैप्पल के स्थान में पैलव भी कहीं पाठ है जिस के अनुसार वैश्य को पीलु वा गूलर का दण्ड धारण करना चाहिये । परन्तु पीलु वृक्ष का गुण वैश्यपन के साथ मिलता नहीं और पिप्पल का गुण उक्त प्रमाणानुसार मिलता है इसलिये पैलव के स्थान में पैप्पल पाठ मानना उत्तम प्रतीत होता है] (दण्डान्-अर्हन्ति) दण्डों को ग्रहण करें बिल्व के कहीं कभी न मिलने पर ढाक वा ढाक के न मिलने पर बिल्व का दण्ड बनावे इसलिये दो २ दण्ड कहे हैं किन्तु एक २ ब्रह्मचारी को दो २ दण्ड का विधान नहीं है ॥

भा०-ब्रह्मचर्याश्रम का आरम्भ कराने वाला उपनयन मुख्य कर संस्कार का अङ्ग है । उस उपनयन के अवान्तर अङ्ग दण्ड धारणादि हैं । इसलिये संस्कार के अंश होने से ये भी संस्कार कहे जाने योग्य हैं । इस श्लोक में "धर्मतः" यह पद बिल्वादि में ब्राह्मणत्वादि गुणों की सत्ता दिखाने के लिये है । जगत् में जहां २ सत्त्वगुण की प्रधानता है वह २ वस्तु ब्राह्मणपन से युक्त मानना चाहिये । इसी प्रकार रजोगुण प्रधान क्षत्रियपन है । बिल्व वा पलाश में सत्त्वगुण की अधिकता अवश्य है । सो ऐतरेयब्राह्मणादि में लिखा भी है कि "यह सूर्य जिस सत्त्व की प्रधानता से उत्पन्न हुआ अर्थात् जिस तैजस सत्त्वगुणी कारण से सूर्य न्न हुआ है उसी गुणयुक्त कारण से बिल्व वृक्ष भी उत्पन्न हुआ है [इसी ण अतिनिकट आकर्षण सम्बन्ध होने से अन्य वृक्षों के होते भी बिल्व वृक्ष पर विद्युत् प्रायः गिरती है] वह बिल्व प्राकृत कारण से ही ब्रह्मवर्चस बुद्धि नादि गुण को धारण करता है । अधिक पुष्ट दीर्घायु होने से वनस्पतियों

में षट क्षत्रिय है। वायु सम्बन्धी ओज वा तेज पीपल है और देवताओं में वायु ही वैश्यवर्ण है इत्यादि" सुश्रुत के मेधायुःकामीयरसायन प्रकरण में बिल्व की बड़ी प्रशंसा है वहां भी सत्वगुण प्रधान माना है। इसी प्रकार अन्यत्र भी आयुर्वेद में पलाशादि के गुणों का ब्राह्मणपन आदि के साथ खोजने से पूरा सम्बन्ध प्रतीत होगा। उन २ प्रधान गुणों वाले दण्डों के धारण करने से ब्राह्मणत्वादि की उत्तेजना वा उन्नति होती है। जैसे अग्नि के साथ अग्नि का संयोग उस के तेज वा शक्ति को बढ़ाने वाला होता वैसे ब्राह्मणत्वादि शक्ति के सहायक वा वर्द्धक होने से बिल्वादि के दण्ड भी संस्कार करने वाले जानने चाहियें ॥ ४५ ॥

केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः ॥
ललाटसंमितो राज्ञः स्यात्तु नासान्तिको विशः ४६

अ०—ब्राह्मणस्य केशान्तिको मूर्द्धस्थकेशमूलावधिप्रमाणस्तथा चतुरङ्गुलन्यूनो ललाटावधि राज्ञो क्षत्रियस्य प्रमाणतो दण्डः कार्यः। ततोऽपि चतुरङ्गुलन्यूनो नासाछिद्रावधि विशो वैश्यस्य ॥

भा०—विधिशेषोऽयम्। दण्डप्रमाणतारतम्येन वर्णतारतम्यं बोध्यते। दण्डप्रमाणादिभेदेन च दूरतएव ब्राह्मणादीनां बोधः सुलभस्तस्माद्यथाशास्त्रं भिन्नप्रमाणका एव दण्डा धार्याः ॥४६॥

भाषार्थः-(ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण ब्रह्मचारी का (केशान्तिकः) मूर्द्धा के बालों की जड़ों तक नाप के (ललाटसम्मितो राज्ञः) उस से चार अङ्गुल छोटा नासिका के उपरि भाग भौंह पर्य्यन्त क्षत्रिय का (प्रमाणतो दण्डः कार्यः) नाप से दण्ड बनाना चाहिये (तु) और (विशः) वैश्य का (नासान्तिकः स्यात्) उस से भी चार अंगुल छोटा नासिका के छिद्रों तक नाप से दण्ड बनावे ॥

भा०-यह दण्डविधि का शेष व्याख्यान है। दण्ड प्रमाण की न्यूनाधिकता दिखाने से वर्णों की न्यूनाधिकता दिखायी वा जतायी है। तथा दण्डप्रमाण के भेद से ब्राह्मणादि वर्णों का दूर से ही सुगमता के साथ बोध हो जावे यह भी प्रयोजन है इसलिये शास्त्र की आज्ञानुसार वैसे ही दण्ड धारण कराने उचित हैं ॥ ४६ ॥

ऋजवस्ते तु सर्वे स्युरव्रणाः सौम्यदर्शनाः
अनुद्वेगकरा नृणां सत्वचो नाग्निदूषिताः ॥४७॥

अ०—ते तु सर्वे ब्राह्मणादीनां बिल्वादिविकारा दण्डा ऋजवोऽवक्रा अव्रणा अच्छिद्रा अत एव सौम्यदर्शना ग्रन्थ्यादिरहिताः स्निग्धा नृणामित्युपलक्षणार्थम् । तेन मनुष्यादिप्राणिभ्योऽभयंकराः सत्वचश्च ते रक्षणीयास्त्वचि यः सत्त्वादिगुणः स तस्या उत्पाटनेन सहैव न गच्छेदेतदर्थं सत्वचइति विशेषणम् । विद्युत्पातेनान्यथा वा दाहेन सत्त्वादिप्राकृतगुणानामपकर्षः सम्भवति तस्मादग्निदूषिता दण्डा न स्युरिति तात्पर्य्यम् ॥

भा०—श्वादीनामन्येषां वा प्राणिनां ताडनाय दण्डानां धारणं ब्रह्मचारिभिः कार्यमिति प्रयोजनं नास्ति । तस्मादेवानुद्वेगकराइति विशेषणं कृतमर्थाद् ब्रह्मचारिणा केऽपि नोद्वेजयितव्याः ब्रह्मचारिणां नास्ति केनापि साकं शत्रुभावस्तस्मादुक्तप्रकारेण ब्राह्मणत्वादिधर्मप्रकर्षायैव दण्डानां धारणमिति प्रयोजनमीक्षणीयम् ॥ ४७ ॥

भाषार्थः—(ते तु सर्वे) और वे सब ब्राह्मणादि के बिल्वादि से बने दण्ड (ऋजवः) सीधे हों टेढे बकुचे न हों (अव्रणाः) खोद वा छेद जिन में न हों इसी कारण (सौम्यदर्शनाः) गांठें आदि जिन में न हों किन्तु चिकने देखने में सुन्दर हों (नृणामनुद्वेगकराः) मनुष्यादि प्राणियों को भय देने वाले लट्ठ न हों अर्थात् किन्हीं प्राणियों को मारने वा धमकाने के विचार से धारण न किये जायं (सत्वचः) उन के ऊपर का वक्कल बना रहे निकाला न जाय क्योंकि वक्कल के द्वारा उस का गुण न जाता रहे और (न, अग्निदूषिताः) बिजुली गिरने वा अन्य प्रकार अग्नि में जलाने से स्वाभाविक गुण उन का निकल न गया हो जिस से वे दूषित न हों ऐसे दण्ड ब्रह्मचारियों के होने चाहियें ॥

भा०—कुत्ता वा अन्य प्राणियों के ताड़ना देने के लिये ब्रह्मचारियों को दण्डों का धारण नहीं कहा गया है । इसी लिये "अनुद्वेगकराः, भयङ्कर न हों" ऐसा विशेषण दिया गया है अर्थात् ब्रह्मचारी किसी को भय न देवे । क्योंकि उस की शत्रुता किसी के साथ नहीं है । इस कारण उक्त प्रकार ब्राह्मणत्वादि धर्म की वृद्धि के लिये दण्डधारण करना प्रयोजनीय है उस को धर्मबुद्धि से धारण करें ॥४७॥

प्रतिगृह्योप्सितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम् ॥
प्रदक्षिणं परीत्याग्निं चरेद्भैक्षं यथाविधि ॥४८॥

अ०—ईप्सितं यथोक्तलक्षणं दण्डं प्रतिगृह्य तदनन्तरं भास्करं सूर्याभिमुखं स्थित्वा "उद्वयंतमसस्परि०" इत्याद्युपस्थानमन्त्रैरीश्वरस्तुतिं कृत्वा तदनन्तरं वेदिस्थमग्निं प्रदक्षिणं परीत्य यथाविधि वक्ष्यमाणप्रकारेण भैक्षं भिक्षासमूहं चरेद् याचेत ॥

भा०—अत्र गृह्यसूत्रोक्तप्रकारेण मन्त्रैरेव दण्डग्रहणादिकं सर्वं कार्यमिति यथाविधिपदेन सूच्यते भास्करोपस्थानमग्निप्रदक्षिणा च श्रद्धयावश्यं कार्या सत्यां च श्रद्धायां "श्रद्धया सत्यमाप्यते" इति वेदोक्तं फलं सम्भवति। नैत्यकं चेदमुपस्थानादिकं ब्रह्मचारिणः कृत्यं तत्सदैव धर्मं मत्वा सेव्यम् ॥ ४८ ॥

भाषार्थः-(ईप्सितम्) ब्राह्मणादि ब्रह्मचारी अपने २ यथोक्त (दण्डम्) दण्ड का (प्रतिगृह्य) ग्रहण करके पश्चात् (भास्करम्, च, उपस्थाय) सूर्य के सम्मुख स्थित हो कर [उद्वयं तमसस्परि०] इत्यादि मन्त्रों से परमेश्वर की स्तुति कर और (अग्निं प्रदक्षिणम्, परीत्य) वेदिस्थ अग्नि की प्रदक्षिणा करके (यथाविधि) आगे कहे अनुसार वा गृह्यसूत्रों के कथनानुसार (भैक्षम्) कई माता आदि से थोड़ी २ भोजनार्थ भिक्षा (चरेत्) मांगे ॥

भा०-यहां विशेष कर गृह्यसूत्रोक्त प्रकार से उन २ मन्त्रों का उच्चारण करके ही दण्ड धारणादि सब काम करे यह "यथाविधि" पद से जताया है। सूर्य के सामने खड़े होकर ईश्वरस्तुति अग्नि की प्रदक्षिणा यह सब श्रद्धा बढ़ाने के लिये है इसलिये श्रद्धा से ही करना चाहिये। श्रद्धा के ठीक होने पर ही "श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती" यह वेदोक्त फल प्राप्त हो सकता है। यह सब उपस्थानादि ब्रह्मचारी का नित्य कर्म है जिस का आरम्भ यहां दिखाया गया है उस को धर्म मान कर सेवन करना चाहिये ॥ ४८ ॥

भवत्पूर्वं चरेद्भैक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः ॥
भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम् ॥४९॥

अ०—उपनीतः कृतोपनयनोद्विजोत्तमो ब्राह्मणवर्णस्थो ब्रह्मचारी भवच्छब्दपूर्वकं वाक्यमुच्चारयन् राजन्यः क्षत्रियो ब्रह्मचारी भवच्छब्दप्रयोगमध्यं वाक्यमुच्चारयन् तथा वैश्यो ब्रह्मचारी भव-

च्छब्दप्रयोगोत्तरं वाक्यं वदन् भैक्षं चरेद्याचेत । उपनीतइति त्रयाणामपि विशेषणं विज्ञेयम् ॥

भा०—"भवति ! भिक्षां देहि" इति ब्राह्मणः, "भिक्षां भवति ! देहि" इति क्षत्रियः, "भिक्षां देहि भवति !" इति वैश्यो वदन्नादौ भिक्षां याचेत । इदमपि नित्यं कर्म, वाक्यभेदो वर्णभेदविज्ञापनायैवेति ॥ ४९ ॥

भाषार्थः—(उपनीतः) उपनयन किया हुआ (द्विजोत्तमः) ब्राह्मण ब्रह्मचारी (भवत्पूर्वम्) भवत् शब्द का प्रयोग जिस के आदि में हो ऐसे वाक्य का (राजन्यः, तु) और क्षत्रिय ब्रह्मचारी (भवन्मध्यम्) भवत् शब्द जिस के बीच में आवे ऐसे वाक्य का (तु) और (वैश्यः) वैश्य ब्रह्मचारी (भवदुत्तरम्) भवत् शब्दान्त वाक्य का उच्चारण करता हुआ (भैक्षम्, चरेत्) भिक्षा मांगे । उपनीत पद तीनों ब्रह्मचारियों का विशेषण करने के लिये है ॥

भा०—" भवति ! भिक्षां देहि " ऐसा ब्राह्मण " भिक्षां भवति ! देहि " ऐसा क्षत्रिय तथा "भिक्षां देहि भवति ! " ऐसा वाक्य वैश्य ब्रह्मचारी बोलता हुआ भिक्षा मांगे । यह भी ब्रह्मचारी का नित्यकर्म है वाक्यभेद वर्णभेद जताने के लिये है । भिक्षा पहिले ब्रह्मचारी आदि धर्मिष्ठ ही मांगते थे तब यह कर्म निन्दित नहीं था । अब लोभी नीच प्रकृतियों ने अपनी जीविका ठहरा ली जिस से निन्दित हो गया । यह शास्त्र का दोष नहीं किन्तु मनुष्यों का दोष है निर्लोभ सन्तोषी धर्मात्मा भिक्षुक मिलें तो नीचों का देना बन्द हो ॥ ४९ ॥

मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम् ॥
भिक्षेत भिक्षां प्रथमं याचैनं नावमानयेत् ॥५०॥

अ०—ब्रह्मचारी मातरं स्वस्य जननीं निजां स्वसारं भगिनीं मातुर्वा निजां भगिनीं प्रथममादौ भिक्षां भिक्षेत । आसु सर्वासु सतीषु कतमामप्यासामभावे वा स्नेहाधिक्याद्यावमानं न करिष्यतीति ज्ञायेत तामेव भिक्षेत ॥

भा०—निजमात्रादीनां स्नेहाधिक्यं बालेन सह स्वाभाविकमेव नच ता अवमानं कर्तुमर्हन्तीति मत्वा भिक्षणाय परिगणिताः ।

यथान्यत्र कार्यारम्भे हतोत्साहता विघ्नकरी भवति। एवमत्रापि ब्रह्मचारिणो भिक्षायामवमानेन हतोत्साहता भाविकृत्येषु विघ्नसूचिका न स्यादिति कारणादवमानं निषिद्धम्। बालेन यथा मात्रादीनां स्नेहो न तथा पुरुषाणां सम्भवति तदर्थं भिक्षणाय स्त्रियो निर्दिष्टा नतु पुरुषाणां निषेधोऽस्ति किन्तु स्नेहकर्त्रीणां मात्रादीनामभावे गृह्यसूत्राज्ञानुकूलं पुरुषा अपिभिक्षणीयाः॥५०॥

भाषार्थः—ब्रह्मचारी (निजाम्, मातरं वा) अपनी निज माता वा (स्वसारम्, वा) निज सगी बहिन अथवा (मातुर्भगिनीम्) माता की निज सगी बहिन मौसी से (प्रथम) पहिले (भिक्षाम्) भिक्षा (भिक्षेत) मांगे। यदि ये सब एकत्र हों तो जिस की अधिक प्रीति अपने पर देखे उस एक से मांगे वा इन में से कोई न हो तो (याचैनं नावमानयेत्) अधिक प्रीति रखने वाली अन्य सम्बन्ध की स्त्री जो इस का अपमान न करे गी ऐसा विश्वास हो उस से पहिले भिक्षा मांगे॥

भा०—निज मातादि का बालक पर स्वाभाविक ही स्नेह अधिक होता है इस लिये वे देने में कभी नकार नहीं कर सकतीं ऐसा मान कर भिक्षा के लिये मातादि गिनायी हैं। जैसे अन्य सब प्रसंगों में कार्यारम्भ के समय उत्साह का भंग होना विघ्नकारी होता है वैसे यहां भी भिक्षा मांगने में पहिले ही अपमान से उत्साह बिगड़े तो भावि कर्त्तव्यों में विघ्न का सूचक है इस कारण अपमान का निषेध किया गया। बालक के साथ जैसा मातादि का स्नेह होता वैसा पितादि-पुरुषों का नहीं होता इस कारण मातादि स्त्रियों से भिक्षा मांगना कहा गया किन्तु पुरुष से भिक्षा मांगने का निषेध नहीं है। अर्थात् स्नेहकारिणी मातादि न हों तो गृह्यसूत्रों में लिखी आज्ञानुसार पिता भाई आदि पुरुषों से भी ब्रह्मचारी भिक्षा मांग सकता है॥ ५०॥

समाहृत्य तु तद्भैक्षं यावदर्थममायया॥
निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः५१

अ०—ब्रह्मचारी तद्भैक्षममायया लोभं परित्यज्य शुद्धभावेन यावदर्थमेकाहभोजनोचितं समाहृत्य किञ्चित्किञ्चिद्बहुभ्यो मात्रादिभ्य आदाय गुरवे निवेद्येदं मयानीतमित्यभिधायाग्रे धृत्वा गुरुणानुज्ञातः शुचिः प्राङ्मुखः सन्नाचम्याबलिङ्गैर्निर्दिष्टमन्त्रैराचमनं कृत्वाऽश्नीयात्॥

भा०-अत्र यावदर्थमित्यस्य स्थाने यावदन्नमिति पाठान्तरमुपलभ्यते तथासति यावदन्नं मिलेत्तावदादायेति तात्पर्यं ज्ञेयम् । अत्र भैक्षपदेन पक्वमन्नं रोटिकौदनादिकमेवाभिप्रेतं नतु गोधूमादिचूर्णमन्नं वा । गुरवे निवेदनमादरार्थम् । प्रात्यहिकं चेदमपि कर्म तदपि धर्मबुद्ध्या सेव्यम् । एवं हि सम्यगध्ययनमन्यनियमपालनं च सम्भवति । एतदपि ज्ञाप्यते यत्केनापि गृहस्थवस्तुना सार्द्धं ममेदमिति भावो ब्रह्मचारिणा न कार्योऽपितु विरक्तदशास्थेन वेदाध्ययनैकमनसा गुरुशुश्रूषणरतेन चासमावर्त्तनात्तेन भवितव्यमेवं सति विद्वान् भवितुमर्हति ॥५१॥

भाषार्थः-ब्रह्मचारी को चाहिये कि-(तद्भैक्षम्, अमायया, यावदर्थम्) उस भिक्षा को लोभ वा छल कपट छोड़ शुद्धभाव से एक दिन के भोजन करने योग्य (समाहृत्य) थोड़ी २ कई घरों से मांग इकट्ठी कर के (गुरवेनिवेद्य) गुरु जी के सामने समर्पित करे कि यह भिक्षा मांग कर मैं लाया हूं ऐसा कह के आगे धरे और गुरु आज्ञा दें कि भोजन करलो तब (शुचिः) हाथ पग आदि की यथोचित शुद्धि कर के शुद्ध स्थान में (प्राङ्मुखः, आचम्य) पूर्वाभिमुख बैठ कर मन्त्र पढ़ के आचमन कर (अश्नीयात्) लाई हुई भिक्षा का भोजन करे ॥

भा०-इस श्लोक में "यावदर्थम्" के स्थान में यावदन्नं-ऐसा भी पाठान्तर मिलता है। सो वैसा मानें तो यह अर्थ होगा कि जितना अन्न मिले उतना सब लाकर गुरु कोनिवेदन करे। यहां भैक्ष कहने से पकाया हुआ अन्न रोटी दाल भात आदि लेना इष्ट है किन्तु दाने वा आटा मांग कर लाने से प्रयोजन नहीं है। गुरु को निवेदन उन के आदरार्थ और उचितानुचित देख लेने के लिये है। शिष्य की रक्षा करना गुरु पर निर्भर है। ब्रह्मचारी बिना समझे तमोगुणी रोगकारी अभक्ष्य अन्न न खा जावे। यह भिक्षा मांगनारूप कर्म भी नित्य कर्त्तव्य है इस को भी धर्मबुद्धि से करना चाहिये। नित्य २ भिक्षा मांग कर खाने से ही ठीक २ पढ़ना वा अन्य ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करना हो सकता है क्योंकि यदि स्वयं बनावे और आटादि जोड़ २ रक्खा करे वा पिसावे अन्य वस्तु दाल मसाला घृतादि खरीद कर लावे तो दूसरे काम में बुद्धि बंट जाने से इधर के कर्त्तव्य में अवश्य विघ्न हो। और भिक्षा मांगने की आज्ञा से यह भी जताया है कि गृहस्थ सम्बन्धी किसी पदार्थ का संचय कर उस का अहंकारी ब्रह्मचारी न बने किन्तु विरक्त दशा में रह कर वेद पढ़ने और गुरु सेवादि नियम पालने में समावर्त्तन होने तक उस को तत्पर रहना चाहिये। यदि गृहस्थ का सामान तथा धनादि

ब्रह्मचारी के पास रहे तो विषयासक्त होजाने का पूरा भय है। इस कारण उक्त प्रकार रहने पर ही पूरा विद्वान् और धर्मात्मा रह सकता है ॥ ५१ ॥

आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः ।
श्रियं प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्ते ह्युदङ्मुखः ॥५२॥

अ०—प्राङ्मुखो जनो यदन्नं भुङ्क्ते तदायुष्यमायुष्करं दक्षिणामुखो यद्भुङ्क्ते तद्यशस्करं प्रत्यङ्मुखो यद्भुङ्क्ते तच्छ्रीकरमुदङ्मुखो यद्भुङ्क्ते तदृतनिमित्तं भवति ॥ अस्यैवाग्रे (सायं प्रातर्द्विजातीनामशनं स्मृतिनोदितम् । नान्तरे भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः ॥ इत्यादिकः श्लोकोऽपि केषुचित् पुस्तकेषूपलभ्यते यद्यप्यत्र विशिष्टः कश्चित्तर्को नास्ति तथाप्यन्यभाष्यकारैरुपेक्षितत्वाज्ज्ञायते पश्चादेव केनचित्क्षिप्त इति ॥

भा०—नायं विधिर्नाप्यर्थवादोनुवादो वा भवितुमर्हति । केचित्काम्या विधयइति कल्पयन्ति तत्रापि मूलं न दृश्यते । तच्च यदि सम्भवति मूलं तदैकस्यामेव दिशि मुखं कृत्वा सदैव पुरुषेण भोक्तव्यम् । यद्यायुष्कामस्तदा प्राङ्मुखो, यशस्कामो दक्षिणामुखश्च यद्यार्द्रपादभोजनवत्कथमपि दीर्घायुष्ट्वादेर्निमित्तं सम्भवति तदा मन्तव्यमिदम्। मदनुमत्यां तु चिन्त्यमेवेदं पद्यं तथा च मानवधर्ममीमांसाभूमिकायामुक्तमेव । यथा शरदि शीतोदकस्नातस्य निशि दधि भुञ्जानस्य रुग्णस्य शीतप्राबल्यमुष्णोपायैरल्पैरबलैर्वा नाभिभूयतएवं केषांचिदायुषो निमित्तानां सेवनेऽपि प्रतिपक्षिबाहुल्यं बाधकं स्यादिति ध्येयम् ॥

भाषार्थः—(प्राङ्मुखः) पूर्व को मुख कर के जो पुरुष भोजन करता है (आयुष्यम्) वह आयु बढ़ाने वाला भोजन होता (दक्षिणामुखः, यशस्यम्) दक्षिण को मुख कर के भोजन करना यशकीर्त्ति बढ़ाने वाला होता (प्रत्यङ्मुखः, भुङ्क्ते, श्रियम्) पश्चिम को मुख कर भोजन करना लक्ष्मी वा शोभा को बढ़ाता और (उदङ्मुखः, भुङ्क्ते, ऋतम्) उत्तर को मुख कर भोजन करना सत्य को बढ़ाता है। इसी श्लोक के आगे एक श्लोक (सायंप्रातर्द्विजातीनां०) किन्हीं पुस्तकों में

अधिक मिलता है। अर्थः—सायंकाल और प्रातःकाल सन्ध्योपासन अग्निहोत्र करने पश्चात् दोही वार भोजन ब्राह्मणादि द्विजों को करना चाहिये यह धर्म-शास्त्र की आज्ञा है। अर्थात् दो वार सन्ध्या दोवार अग्निहोत्र दोही वार भोजन करना चाहिये किन्तु बीच में तीसरी वा चौथी वार भोजन नहीं करना चाहिये। यद्यपि इस श्लोक का आशय अच्छा है तथापि किसी टीकाकार ने इस पर टीका नहीं किया जिस से सिद्ध है कि बहुत पीछे मिलाया गया है। इस आशय का उपदेश मनु के किसी वाक्य से आजाना सम्भव भी है ॥

भा०—तीन प्रकार के वाक्य वेदादि शास्त्रों में माने जाते हैं। विधि, अर्थ-वाद और अनुवाद जिस में यह श्लोक किसी के साथ सम्बन्ध नहीं रखता। कोई मेधातिथ्यादि भाष्यकार इस को काम्यविधि वाक्य ठहराते हैं "आयुःकामः प्राङ्मुखो भुञ्जीत" अवस्था बढ़ाना चाहे वह पूर्व को मुख कर के भोजन किया करे। सो इस का मूल कहीं वेद में नहीं दीखता। यदि कदाचित् कभी कहीं वेद में इस का मूल मिल जावे तो किसी एक ही दिशा में मुख कर के मनुष्य को भोजन करना चाहिये। आयु की वृद्धि चाहे वह पूर्व और यश चाहने वाला दक्षिण को मुख करके भोजन करे। "गीले पगों से सदा भोजन करे तो आयु बढ़ता है" इसी के तुल्य किसी प्रकार आयु बढ़ने का कुछ निमित्त पूर्वादि दिशाओं में मुख कर भोजन करना हो सकता है तो इस श्लोक को ठीक मानना चाहिये। मेरी सम्मति में तो यह विचारसाध्य वा चिन्तनीय है। ऐसा ही मानवधर्म० भूमिका में कहा है। जैसे कोई रोगी शरद् ऋतु में रात्रि के समय ठंढे जल से स्नान करके दही खावे तो शीतवर्धक कई प्रबल साधनों के इकट्ठे हो जाने से शीत इतना हो सकता है जो प्रायः मर्मों पहुंचाने वाले अच्छे २ उपायों से भी न दब सके और प्रबल शीतरोगी का प्राणग्राहक हो जावे तो भी यह नहीं कह सकते कि "अग्नि शीत का औषध है" यह वेद वाक्य मिथ्या हो गया। क्योंकि कहीं किसी विशेष कारण से अपवाद में उत्सर्ग के सामान्य नियम की प्रवृत्ति न हो तो भी वह अधिकांश में यथार्थ ही रहने से खण्डित हुआ नहीं माना जाता। इसी प्रकार किन्हीं छोटे २ आयु बढ़ाने वाले निमित्तों का सेवन करने पर भी आयुनाशक प्रतिपक्षी साधनों के प्रबल हो जाने से किसी का आयु न बढ़े वा अल्पायु हो कर कोई शीघ्र मरजावे तो यह आयुवर्धक उपाय मिथ्या नहीं होते और शास्त्र में दोष नहीं लग सकता है ॥ ५२ ॥

उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात्समाहितः॥
भुक्त्वाचोपस्पृशेत्सम्यगद्भिःखानिचसंस्पृशेत्५३

अ०—सम्प्रति दशपद्यैर्भोजनविचारस्तत्रान्यत्रवाऽऽचमनं च

यथा यदर्थं वा कार्यं तौ विध्यर्थवादावुच्येते। सर्वाश्रमस्थो द्विजः समाहितश्चाञ्चल्यरहितो भोजनेन धर्म्यगुणोत्कर्षं चिन्तयान उपस्पृश्य यथाविध्याचम्य नित्यं प्रतिदिनमेव संस्कृतं परिमितमन्नमद्यात्। भुक्त्वा च हस्तपादं मुखं च सम्यक् प्रक्षाल्य "आपः पुनन्तु पृथिवीं०" इत्यादिमन्त्रेणाचमनं कुर्यात्। तदनन्तरमद्भिः खानि शिरःस्थानि सप्तछिद्राणि "वाङ्म आस्येऽस्तु" इत्यादि वाक्यैः स्पृशेत्॥

भा०—विधिरयम्। भुक्तान्नान्निष्पन्नरसादिना मदीयशरीरे सत्त्वादयः शुद्धा धर्मानुकूला धर्मवर्धका वा गुणा उत्पद्येरन्निति सदैवेष्टव्यम्। तथैव चिन्तयानो भोज्यमेव भुञ्जीताभक्ष्यं च जह्यादादाववसाने चेश्वरं प्रार्थयन्मन्त्रैराचमनं कुर्वीत तथा सति संस्कृतधातूनामुत्पादान्मन आत्मा च संस्कृतो भवति। इन्द्रियस्पर्शोऽपि भुक्तेन प्राणेन्द्रियशक्तीनामाप्यायनार्थः॥५३॥

भाषार्थः—अब दश श्लोकों से भोजन सम्बन्धी विचार तथा भोजन में वा अन्यत्र जैसे वा जिस लिये आचमन करना चाहिये उस का विचार दिखाते हैं (द्विजः) सब आश्रमों वाले ब्राह्मणादि द्विज (समाहितः) चञ्चलता रहित एकाग्र चित्त से भोजन से शरीर में उत्पन्न होने वाले धर्मानुकूल शान्ति आदि गुणों का चिन्तन करता हुआ (उपस्पृश्य) नियमानुसार मन्त्र द्वारा आचमन करके (नित्यम्) प्रतिदिन ही (अन्नमद्यात्) अच्छा पकाया परिमित अन्न खावे (भुक्त्वा, च) और खाकर (सम्यगुपस्पृशेत्) हाथ पांव मुख को धोकर "आपः पुनन्तु०" इत्यादि मन्त्र से भोजनान्त में सम्यक् आचमन करे (च) और तदनन्तर (अद्भिः खानि संस्पृशेत्) हाथ में जल लेकर शिर के मुखादि सातों इन्द्रिय छिद्रों का स्पर्श करे इस के मन्त्र वास्तव में मूलरूप तो अथर्व० कां० १९ सूक्त ६०। ६१ में हैं। तदनुसार ही अन्य ब्राह्मण वा शाखादि में कल्पना की गयी है "वाङ्मआसन्०" इस मूल पर "वाङ्मआस्येऽस्तु" कहित मन्त्र है॥

भा०—यह विधिवाक्य है कि भोजन के आदि अन्त में मन्त्र पूर्वक आचमन करना चाहिये। भोजन किये अन्न से बनने वाले रसादि धातु से मेरे शरीर में धर्मानुकूल धर्मवर्द्धक शुद्धसत्त्वादि गुण उत्पन्न हों यह सदैव चाहना रखनी चाहिये। ऐसी ही चिन्ता रखता हुआ भोजन करने योग्य वस्तु को ही खावे अभक्ष्य को छोड़ देवे। भोजन के आदि अन्त में परमेश्वर से प्रार्थना क-

रता हुआ मन्त्रों से आचमन करे। ऐसा करने पर संस्कृत शुद्ध धातुओं की उत्पत्ति होने से मन और आत्मा का भी संस्कार वा शुद्धि होती है। और इन्द्रियस्पर्श भी भोजन किये वस्तु से प्राण तथा इन्द्रिय शक्ति की वृद्धि करने तथा चाहने के लिये है ॥ ५३ ॥

पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन् ॥
दृष्ट्वा हृष्येत् प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः ५४

अ०—शुद्धं संस्कृतं सात्त्विकमशनं नित्यं पूजयेत्तस्य शुभान् गुणान् कीर्तयेत्तेषां स्वदेहे समारोपणं च ध्यायेत्। एतदन्नमकुत्सयंश्चाद्याद्यदि निन्द्यमभक्ष्यं वस्तु सम्मुखमागच्छेत्तदा कुत्सयन्न खादेदपि तु पूर्वतएव त्यजेत्। भोजनार्थं सम्मुखमागतं पक्वमन्नं दृष्ट्वा हृष्येन्मुखाद्याकृतेः प्रसन्नतां प्रदर्शयेत्। प्रसीदेच्च मनसापि प्रसन्नएव स्यात्। सर्वशः सर्वप्रकारेण प्रतिनन्देच्च परिवेष्ट्रादिकृतगुणकीर्त्तनस्यान्नस्तुतिरूपं सम्यगनुवादं कुर्यात् ॥

भा०—विधिरयमन्नस्य पूजनं विधीयते। सुसंस्कृतमनिन्द्यं सत्त्वगुणोपपन्नं परिणामेऽमृतोपमं पूजार्हमेवान्नं स्वयमन्येन वा प्रयत्नतः संस्कृतं भुञ्जीतेत्यर्थादापद्यते। यथा प्रीत्या श्रद्धयाऽऽदरेण च कृतानि सर्वाण्येव कार्याणि सुखहेतूनि भवन्ति तथैव शरीरस्य धारकः पालकश्चाहार आदरेण कृतः सुखहेतुः सम्भवति। यथा मद्यादि मादकं विषं च चैतन्यविघातकमेवं हृद्यं सात्त्विकं शुद्धं सद्यःसंस्कृतं भोजनं च चैतन्यवर्धकं चित्तादीनां च स्वास्थ्यरक्षकम्। ऋग्वेदस्याद्यमण्डलेसप्ताशीत्युत्तरशततममेकादशमन्त्रात्मकं सूक्तमन्नस्तुतिप्रसङ्गे प्रयोज्यम्। भोजनारम्भे तस्य सूक्तस्य श्रद्धयार्थज्ञानपुरस्सरं पाठं कृत्वाऽनन्तरं भोक्तव्यम्। तत्रत्योयं द्वितीयो मन्त्रः—"स्वादो पितो मधो पितो वयं त्वा ववृमहे। अस्माकमविता भव" ॥ मधुररसप्रधानं स्वादिष्ठं पक्वमन्नं मया भोक्तुमादीयते तन्मम रक्षकं स्यादित्याशासे। यादृशं यावच्च मदीयं शरीरं

तदन्नादेव जातमन्नमन्तरा न शक्नोति स्थातुम्। "अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्ब्रह्म०"। इत्याद्युपनिषद्वचसामप्याशयो वेदमूलक एवास्ति। तस्मात्कल्याणमिच्छता पुरुषेण पूजितमेवान्नं भोक्तव्यमिति ॥५४॥

भाषार्थः-(पूजयेदशनं नित्यम्) पकाये हुए शुद्ध सात्त्विक भोजन की नित्य पूजा करे अर्थात् अन्न के शुभगुणों का कीर्त्तन और अपने शरीर में उन के आरोपण वा सम्बन्ध का चिन्तन करे (तद्वाकुत्सयन्नश्नीयात्) और इस अन्न को निन्दा किये विना ही खावे अर्थात् यदि अभक्ष्य निन्द्य वा ठीक रीति से न पकाया अन्न सामने आजावे जिस के खाने को चित्त न चाहे। तो उस के अवगुण कहे विना खाने से पहिले ही छोड़ देवे। भोजन के लिये सामने आये पके हुए अन्न को (दृष्ट्वा) देख कर (हृष्येत्) मुखादि द्वारा प्रसन्नता दिखावे (प्रसीदेच्च) और मन से भी प्रसन्न हो। (च) तथा (सर्वशः) सब प्रकार से (प्रतिनन्देत्) परोसने वाले आदि के कहे पक्वान्न के शुभगुणों का अन्नस्तुतिरूप अनुवाद करे यही तीनों प्रकार की अन्न की पूजा है॥

भा०-इस श्लोक में पहिला पूजा करने की आज्ञारूप वाक्य मूल है अगले सब वाक्य उसी के आख्यानरूप हैं। निन्दा न करना देख के प्रसन्न होना इत्यादिरूप ही अन्नकी पूजा है। यह विधिवाक्य है अन्न की पूजा का विधान है। अच्छे पकाये अनिन्द्य सत्त्वगुणयुक्त परिणाम में अमृत तुल्य गुणों वाले प्रशंसा के योग्य स्वयं वा अन्यद्वारा विचारपूर्वक परिश्रम से पकाये अन्न का भोजन करे यह अर्थापत्ति से सिद्ध है क्योंकि निन्दा योग्य की पूजा नहीं कही जा सकती। जैसे प्रीति श्रद्धा वा आदर के साथ किये सभी काम सुख के हेतु होते हैं वैसे ही शरीर का धारण वा पालन करने वाला आहार भी आदर से किया सुखहेतु होना सम्भव है। जैसे मद्यादिमादक वस्तु वा विष चेतनता को नष्ट करने वाला है वैसे ही हृदय को प्रिय शुद्ध सत्त्वगुणी तात्कालिक [ताज़ा] भोजन मूर्छित को भी चेतन करने, चेतनता को बढ़ाने वाला और चित्तादि के स्वास्थ्य का रक्षक है। ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त १८७ में ११ मन्त्र हैं वे सभी अन्नस्तुति के सम्बन्धी हैं। भोजन के आरम्भ में श्रद्धा से अर्थज्ञानपूर्वक उस सूक्त का पाठ करके भोजन करना चाहिये "स्वादो पितो०" यह उस सूक्त का द्वितीय मन्त्र है। अर्थात् अधिकांश मिष्टरस वाले स्वादिष्ठ पकाये अन्न का मैं ग्रहण करता हूं। परमेश्वर की कृपा से वह अन्न मेरा रक्षक हो ऐसी आशा रखता हूं। जैसा वा जितना मोटा पतला वा छोटा बड़ा मेरा शरीर है वह अन्न से ही बना है इसी

कारण अन्न के विना थोड़े दिनों भी जीवित नहीं रह सकता। "अन्न से ही सब प्राणधारी उत्पन्न होते। उत्पन्न हो कर अन्न से ही जीवित रहते हैं और अन्त में मर कर पृथिव्यादि अन्न में ही सब के शरीर लय हो जाते हैं इस से अन्न बड़ा वा ब्रह्म है" इत्यादि प्रकार का उपनिषदादि का आशय भी वेदमूलक ही है और यह सब अन्न की महिमा का वर्णन भी अन्न की पूजा वा स्तुति है। इस लिये अपना कल्याण चाहने वाले को उचित है कि पूजित अन्न का ही भोजन करे ॥ ५४ ॥

पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति ॥
अपूजितं तु तद्भुक्तमुभयं नाशयेदिदम् ॥५५॥

अ०—उक्तप्रकारेण नित्यमेव पूजितं भुक्तं सदन्नम्बलं भारोत्थापनादिक्षमत्वं दैहिकमूर्जं कार्येषु प्रवर्त्तकं मानसं साहसं धैर्यमुत्साहं च यच्छति ददात्युत्पादयति। अपूजितं तु भुक्तं तदन्नमिदं दैहिकं मानसं चोभयं बलं नाशयेत् तस्मात्पूजितमेव भोक्तव्यम् ॥

भा०—रस्यं स्निग्धं मधुरप्रधानं सावधानेन पक्त्रा शौचपरायणेन पवित्रतममहानसे सद्यःसंस्कृतं हृद्यमायुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिवर्धकं च भोज्यं प्रशंसार्हं पूजनीयं भवति। पूजनीयमेव सम्पाद्य मनसा वाचा च संपूज्य भोक्तव्यं नत्वपूजनीयं पूज्यं मत्वा भोक्तव्यं किन्तु पूज्यं निन्दया न भोक्तव्यं प्रशंसार्हं प्रशस्तमेवोक्त्वा मत्वा ध्यात्वा च भोक्तव्यं तथा सत्ययमर्थवादः सार्थकएव विज्ञेयः ॥ ५५ ॥

भाषार्थः—उक्त प्रकार से (नित्यं हि पूजितमशनम्) नित्य ही श्रद्धा वा आदरपूर्वक खाया हुआ अन्न (बलम्) भार उठाने आदि की शारीरिक शक्ति (च) और (ऊर्जम्) अन्तःकरण के साहस धैर्य वा उत्साहरूप सामर्थ्य को (यच्छति) देता वा बढ़ाता है (अपूजितं तु तद्भुक्तम्) अपूजित बुरा निन्दित मनमक्त चित्त विगाड़ कर खाया अन्न (इदम्) इस (उभयम्) शारीरिक वा मानस दोनों प्रकार के बल वा सामर्थ्य का (नाशयेत्) नाश करता है इस लिये अच्छा पूजित ही अन्न खाना चाहिये ॥

भा०—रसीला चिकना मीठा, शुद्धि रखने में तत्पर सावधान रसोइया ने अति शुद्ध पाकस्थान में तत्काल पकाया, हृदय को प्रिय, आयु सत्त्व बल आरो-

ग्य सुख वा प्रीति को बढ़ाने वाला, भोज्य वस्तु प्रशंसा के योग्य वा पूज्य होता है अच्छा पूजनीय ही अन्न बना के तथा मन वाणी से अन्न की पूजा करके ही खाना चाहिये किन्तु निकृष्टान्न को अच्छा मान आदर के साथ न खावे अर्थात् अच्छे को बुरा ठहरा के नहीं खाना और अच्छे प्रशंसा योग्य को प्रशस्त कह मान वा ध्यान में रख के खाना चाहिये। ऐसा होने पर ही यह अर्थवाद सार्थक ठीक बन जाता है ॥ ५५ ॥

नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा।
न चैवात्यशनं कुर्यान्नचोच्छिष्टः क्वचिद्व्रजेत्॥

अ०—अत्र चत्वारि विधिवाक्यानि। कस्यचिदिति शेषविवक्षायां चतुर्थ्यर्थे षष्ठी—कस्मैचित्स्वभुक्तपात्रेऽवशिष्टमन्नं न दद्यात्। यत्र च स्वशिष्यदासाद्यायोच्छिष्टदानं विधीयते सोऽस्यापवादः। तथा प्रातःसायं नित्यकर्मानन्तरं हिरेवाश्नीयादित्यन्यत्र विधीयते तयोः कालयोर्मध्ये त्रिवारं नाद्यात्। नाद्याच्चैतत्तथान्तरेति पाठान्तरे तु—एतदुच्छिष्टमन्तरा भोजनमध्ये नाद्यात्। हिरपि भुञ्जानोऽत्यशनं नैव कुर्याद्यावत्सुखेन जीर्येत्तावदेव भुञ्जीत न त्वधिकमस्यार्थवादं स्वयमेव वक्ष्यति। शौचमकृत्वोच्छिष्टः क्वचिन्न व्रजेत् ॥

भा०—यथा स्वयं कस्याप्युच्छिष्टं भोक्तुं न काङ्क्षति तथाऽन्येऽपि नेच्छन्ति तस्मान्न देयम्। स्वयमपि कस्याप्यन्यस्य स्वस्यैव वा भूतपूर्वमुच्छिष्टं न भुञ्जीत। उच्छिष्टयुक्तस्य क्वापि गमनं शौचनियमविघातकं तस्मात्तथा न कुर्यात् ॥५६॥

भाषार्थः—इस श्लोक में चार विधिवाक्य हैं (कस्यचित्, उच्छिष्टम्, न, दद्यात्) अपने खाये पात्र में बचा उच्छिष्ट—जूठा अन्न किसी को न देवे। जहां कहीं अपने शिष्य वा दास आदि को उच्छिष्ट देने का विधान है वह इस का उतने अंश में अपवाद मानना जायगा (नाद्याच्चैव तथान्तरा) सायं प्रातःकाल दो ही वार भोजन करने का सामान्य कर अन्यत्र विधान है उन दोनों समयों के बीच में तीसरी वार न खावे। यदि "नाद्याच्चैतत्तथान्तरा" ऐसा पाठ मानें तो यह अर्थ होगा कि किसी के उच्छिष्ट अन्न को भोजन के समय न खावे। दो वार खाने वाला भी (अत्यशनं न चैव कुर्यात्) बहुत भोजन न करे जितना सुख पूर्वक पच

जावे उतना ही खाना चाहिये। इस का हेतुरूप अर्थवाद आगे ग्रन्थकार स्वयमेव कहेंगे। भोजन किये पश्चात् हाथ मुखादि की शुद्धि किये विना (न चोच्छिष्टः क्वचिद् व्रजेत्) जूठे कहीं न जावे ॥

भा०—जैसे आप कोई मनुष्य किसी के उच्छिष्ट भोजन को करना नहीं चाहता वैसे अन्य भी उस के उच्छिष्ट को नहीं चाहते इस से किसी को उच्छिष्ट नहीं देना चाहिये। और स्वयं भी अन्य किसी का वा अपना ही पहिले का धरा उच्छिष्ट भोजन नहीं खाना चाहिये। विना मुखादि की शुद्धि किये उच्छिष्ट का कहीं जाना शुद्धि के नियम को तोड़ना है इस लिये वैसा न करे ॥ ५६ ॥

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥५७॥

अ०—यदा भुक्तं सम्यग् न जीर्यति तदैव प्रायेण रोगा उत्पद्यन्ते तस्मादधिकभोजनमेव प्रायेण व्याधिकरम्। अनायुष्यम्—अजीर्णे भोजनं विषमित्यस्याप्ययमेवाशयः। यः कश्चित्पूर्वभुक्तेऽजीर्णेऽल्पशक्तौ वा तृष्णया बहुतरं गरिष्ठमपथ्यं भुङ्क्ते स विषूचिकादिरोगेण सद्यो म्रियते। बहुभोजी शरीरावयवानां गौरवादालस्याच्च यथाकालं स्वर्गहेतून्यग्निहोत्रादिवेदोक्तकर्माण्यपनुष्ठातुमशक्तस्तस्मात्स्वर्गप्राप्तिबाधकं बहुभोजनम्। अपानवायोर्मलस्य वाऽधिकप्रवृत्तेरपुण्यमपवित्रतानिष्पादकं चेतःप्रसादस्य बाधकं चेतसि ग्लानेरुत्पादकं च लोकविद्विष्टं च लोकाश्चाद्यूनोऽयमुदरम्भरिः कुक्षिम्भरिरयमिति प्रायेणाक्षिपन्ति ॥

भा०—बहुभोजनं चात्र नैव कियदपि परिमाणतरं ग्राह्यमपि तु शरीरशक्त्यपेक्षाकृतमत्र बहुत्वमल्पत्वं च ग्राह्यम्। यथा पिपीलिका सर्षपमात्रं भोक्तुं शक्ता तस्याः सर्षपद्वयपरिमितमेवाधिकतरं यथा कुञ्जरः खारीमितं भोक्तुं शक्तस्तस्य सार्द्धखारीमितमधिकतरम्। एवं मनुष्यजातावपि देशकालादिभेदेन बहुविधं वैचित्र्यमुपलभ्यते। पुराकाले द्रोणभोजिनस्ततोऽप्यधिकतरभोजिनो वा वृहच्छरीरा महाबला हस्ताभ्यां हस्तिघ्ना वृक्षादीनामु-

त्पाटयितारो मनुष्या बभूवुरित्यैतिहासिकं वृत्तं सत्यमित्यनुमीयते तेषां तावदेव भोजनमल्पमिति सत्यम्। ततोऽधिकं भोजनं यद्दुःखेन जीर्येत्तदेव निषिद्धकोटिस्थम्। साम्प्रतमपि केचित्प्रस्थमात्रं भोक्तुं शक्ताः केचित्प्रस्थद्वयं प्रस्थत्रयं वा सुखेन जीर्णीकर्तुमर्हन्ति न तेषां तदधिकमपित्वल्पमेव तत्। केचिच्च पादार्द्धमपि दुःखेन पाचयितुं शक्तास्तेषां किञ्चिदेव ततोऽधिकं हानिकरम्। अधिकभोजिनः प्रायेण बलिनोऽल्पभोजिनश्चाल्पबला इति सामान्योऽयं नियमः। यदि कश्चित्क्वाप्यल्पभोज्यपि स्वतो बहुभोज्यपेक्षया बलवानुपलभ्येत बहुभोज्यबलो वा तत्र कारणान्तरं बाधकमन्वेष्यम्। नच तेनापवादेन सामान्यउत्सर्गनियमः सर्वांशे बाधनमर्हति ॥ ५७ ॥

भाषार्थः—जब भोजन किया वस्तु सम्यक् नहीं पचता तभी प्रायः रोग उत्पन्न होते हैं इस कारण अधिक भोजन का पहुंचना प्रायः (अनारोग्यम्) रोगकारी होता (अनायुष्यम्) अजीर्ण दशा में भोजन करना विष है इस का भी यही आशय है। जो कोई पहले खाये अन्न के न पचने पर वा कम पचाने की शक्ति में तृष्णा के मारे बहुत गरिष्ठ कुपथ्य भोजन कर जाता है वह विषूचिकादि रोगों से शीघ्र ही मरता है इस प्रकार बहुत खाना आयु का नाशक है (अस्वर्ग्यम्) बहुत खाने वाला शरीरावयवों के भारी रहने और आलस्य के बढे रहने से स्वर्गरूप सुख के हेतु अग्निहोत्रादि वेदोक्त कर्मों को ठीक समय नियम वा विधि के अनुसार सेवन नहीं कर पाता इस कारण स्वर्गप्राप्ति का विरोधी अधिक भोजन है। अपान वायु वा मल के अधिक निकलने से (अपुण्यम्) अपवित्रता बढाने वाला चित्त की प्रसन्नता का नाशक चित्त में ग्लानि का उत्पादक है (लोकविद्विष्टम्) संसारी मनुष्य उस अधिक खाने वाले की उदरम्भर वा पेटार्थू आदि शब्दों से निन्दा करते हैं प्रायः अधिक खाने वालों की निन्दा की ही जाती है॥

भा०—बहुत भोजन कहने वा अल्प कहने से यहां किसी प्रकार की कुछ तोल का ग्रहण इष्ट नहीं है किन्तु शरीर की शक्ति देख कर बहुत थोड़े का विचार करना चाहिये जैसे चीटी सरसों बराबर कुछ खा सकती है तो उस के लिये दो सरसों भर खालेना अधिक होगा अथवा जैसे हाथी एक मनभर खा सकता है तो उस के लिये डेढ मन भी खालेना अधिक होगा। यदि हाथी को मनभर के स्थान में सेर दो सेर भोजन दिया जाय तो वास्तव में उस का जीवन भी उतने से कठिन हो जाय गा। यदि मनभर में सेर आध सेर कम भी मिले

तो उस की कुछ हानि न होगी और उतने से ही वह अल्प भोजी कहा जाय गा । ऐसे ही मनुष्य जाति में भी देशकालादि के भेद से अनेक प्रकार की विचित्रता मिलती वा मिल सकती है । पहिले समय में दश सेर वा इस से भी अधिक खाने वाले बड़े २ लम्बे मोटे शरीरों वाले महाबली हाथों से हाथी आदि बड़े २ प्राणियों को मारने और वृक्षादि को उखाड़ डालने वाले मनुष्य होते थे जो वर्त्तमान मनुष्यों के हाथों से दश पन्द्रह हाथ तक हैंगे पर अपने हाथ से साढ़ेतीन ही हाथ के हों यह नियम सार्वकालिक है । क्योंकि अब भी क्रमशः मनुष्यादि के शरीर आगे २ छोटे होते जाते हैं । इस से भी पूर्वकाल का अनुमान हो सकता है । उन मनुष्यों का उतना भोजन भी शक्ति वा शरीर के अनुसार थोड़ा हो यह सत्य है । उस से अधिक भोजन जो कठिनता से पचे वही निषिद्ध कोटिस्थ अधिक खाना है । वर्त्तमान समय में भी कोई सेरभर कोई दो सेर और कोई २ तीन सेर तक सुखपूर्वक खाने पचाने को समर्थ हैं उन को उतना अधिक नहीं है किन्तु थोड़ा ही माना जायगा । और अब ऐसे भी निर्बल मनुष्य होने लगे जो आधपाव अन्न भी खा कर दुःख के साथ पचा सकते हैं उन के लिये उतने से पैसा दो पैसाभर भी अधिक पहुंचना अधिक भोजन हानि कारक होगा । तात्पर्य यह हुआ कि अपनी पाचन शक्ति से कुछ कम खाने वाले सभी अल्पभोजी होंगे और उतने से अधिक खाने वाले सभी दोष भागी बहुभोजी माने जायंगे । अधिक खाने पचाने वाले प्रायः बलवान् होते और कम खाने वाले निर्बल होते यह सामान्य नियम है । यदि कहीं कभी कोई थोड़ा खाने वाला भी अपने से बहुभोजी की अपेक्षा बलवान् हो और बहुभोजी निर्बल हो तो वहां सामान्य नियम का विशेष बाधक कारणान्तर खोजना चाहिये किन्तु उस अपवाद से सामान्य उत्सर्ग नियम सर्वांश में बाधित नहीं हो सकता ॥५७॥

ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन नित्यकालमुपस्पृशेत् ।
कायत्रैदशिकाभ्यांवा नपित्र्येण कदाचन॥५८॥

अ०—विप्रो नित्यकालं सन्ध्योपासनादिकर्मावसरे ब्रह्मदेवताकेन ब्राह्मेणातिप्रधानेन शुद्धतमेन तीर्थेन जलोत्तरणस्थानेनोपस्पृशेदाचमनं कुर्यात् । ब्राह्मतीर्थे व्रणादिसम्भवात्तेनाचमनं कथमपि कर्त्तुमशक्तः कायत्रैदशिकाभ्यां तीर्थाभ्यामुपस्पृशेत् । कः प्रजापतिर्देवताऽस्य तत्कायं त्रिदशा देवता अस्येति त्रैदशिकं तीर्थम् । पित्र्येण कदापि नोपस्पृशेत् ॥

भा०-विप्रइत्युपलक्षणार्थम्। तेन विप्रादिवर्णत्रयं ग्राह्यम-थवा मेधाविपर्यायो द्विजमात्रस्य विशेषको विप्रशब्दः। ब्राह्मा-दिपदान्यत्र गौणभावेनाचमनस्थानानां प्रधानाप्रधानतारतम्य-बोधकान्येव बोध्यानि। प्रधानतमं स्थानं च ब्राह्मं प्रधानतरं कायं प्रधानं त्रैदशिकं तदपेक्षयाप्रधानं पित्र्यं तीर्थं यतो न तेन सुगमतयाचमनं कर्तुं कोऽपि शक्नोति। चतुर्भिरेव तीर्थैराचमनं सम्भवति तत्र प्रधानतमतीर्थेन करणमाधिक्येनोचितम् ॥५८॥

भाषार्थः-(विप्रः) ब्राह्मणादि तीनों वर्ण (नित्यकालम्) सन्ध्योपासनादि कर्म करते समय (ब्राह्मेण,तीर्थेन) ब्राह्मतीर्थ सर्वोत्तम स्थान से (उपस्पृशेत्) आचमन करे। ब्राह्मतीर्थ में फुंसी आदि हो जाने से उस से (वा)यदि आचमन न कर सके तो (कायत्रैदशिकाभ्याम्) काय नामक द्वितीय प्राजापत्य वा त्रैदशिक नामक तृतीय दैव तीर्थ द्वारा आचमन करे अथवा प्रथम ब्राह्मतीर्थ से ब्राह्मण द्वितीय प्राजापत्य तीर्थ से क्षत्रिय तृतीय दैवतीर्थ से वैश्य और चौथे पित्र्यतीर्थ से शूद्र आचमन करे इस प्रकार चार तीर्थ चारों वर्णक्रम से भी लग सकते हैं। परन्तु (न, पित्र्येण, कदाचन) चौथे पित्र्य तीर्थ से ब्राह्मण वा द्विजमात्र कदापि आचमन न करें ॥

भा०-इस श्लोक में विप्र शब्द उपलक्षणार्थ है जिस से ब्राह्मणादि द्विजमात्र का बोध होता वा मेधावि का पर्यायवाचक होने से तीनों वर्ण का ग्रहण होता है। यहां ब्राह्मादि पद गौणार्थ से आचमन करने के स्थानों के उत्तम मध्यम निकृष्ट भेद को जताने के लिये ही जानो। पित्र्यतीर्थ सब से निकृष्ट चौथा आचमनस्थान है उस से उत्तम दैव तीसरा उस से उत्तम प्राजापत्य दूसरा और उस से भी उत्तम ब्राह्म प्रथम संख्या [अङ्क नम्बर] का तीर्थ है। चौथा पित्र्य तीर्थ सब से निकृष्ट इस लिये माना गया कि उस के द्वारा सुगमता से आचमन नहीं हो सकता। हाथ के चार ही तीर्थ नाम स्थानों द्वारा आचमन हो सकता है पांचवां कोई स्थान नहीं है उन में भी प्रथम ब्राह्मतीर्थ से आचमन करना अति सुगम होने से उत्तम है ॥ ५८ ॥

अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते।
कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे दैवं पित्र्यं तयोरधः ॥५९॥

अ०-अङ्गुष्ठमूलस्य तलेऽधस्ताद्भागभागे हस्ततलस्य मध्य-रेखामूले ब्राह्मं तीर्थं स्थानं कथयन्ति। कनिष्ठाङ्गुलिमूले तिर्यग्रे-

खावसाने कार्यं प्राजापत्यं द्वितीयं तीर्थं बोध्यम्। अङ्गुलीनामग्रभागे दैवं तृतीयमाचमनस्थानमस्ति। तयोरङ्गुष्ठाङ्गुल्योरधो मध्ये पित्र्यं चतुर्थं तीर्थमाचमनस्थानं सम्भवति तेन च प्रतिषिद्धम् ॥

भा०–आचमनस्थानानां तारतम्यप्रदर्शनाय हस्तप्रदेशविशेषाणां ब्राह्मादयः सञ्ज्ञाः कृता नतु किमप्यन्यद्विशिष्टं प्रयोजनमस्ति ॥५९॥

भाषार्थः– (अङ्गुष्ठमूलस्य तले) अंगूठा की जड़ के नीचे वाईं ओर अर्थात् हाथ में बीच की जो खड़ी रेखा है उस के मूल में जिस को कराई कहते हैं वह (ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते) ब्राह्म तीर्थ कहाता है। हाथ में लिये जल को उस ब्राह्म तीर्थ द्वारा मुख में ले जाना यह पहिली कक्षा उत्तम है वा ब्राह्मण के लिये मुख्य है (अङ्गुलिमूले, कायम्) सब से पिछली कनिष्ठिका छोटी अंगुली के मूल जहां तिरछी रेखा समाप्त है वह दूसरा प्राजापत्य तीर्थ कहाता (अग्रे) सब अंगुलियों के अग्रभाग से आचमन करना यह (दैवम्) तीसरा दैव तीर्थ माना जाता और (पित्र्यं तयोरधः) अंगुष्ठ और तर्जनी के बीच को पित्र्य तीर्थ मानते हैं इस तीर्थ से शिष्टों को आचमन करना निषिद्ध है ॥

भा०–आचमन के स्थानों की न्यूनाधिकता दिखाने के लिये हाथ के उन २ स्थान विशेषों की ब्राह्म आदि संज्ञा की हैं किन्तु अन्य कुछ विशेष प्रयोजन नहीं है ॥ ५९ ॥

त्रिराचामेदयः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम्।
खानि चैव स्पृशेदद्भिरात्मानं शिर एव च ॥६०॥

अ०–पूर्वं मन्त्रेण त्रिवारमपआचामेत् पिबेत्ततः पश्चाद्द्विर्द्विवारं शुद्धोदकेन मुखं प्रमृज्यात्प्रक्षालयेद्धासता च शोधयेत्। ततो वामहस्ते जलमादाय खानि शिरःस्थानि सप्तछिद्राण्यात्मानं हृदयं शिरो मूर्द्धस्थानं च दक्षिणहस्ताङ्गुलिस्पृष्टाभिरद्भिः स्पृशेत् ॥

भा०–आचमनानन्तरमुच्छिष्टविन्दुनिवारणाय मुखं प्रक्षाल्यम्। इन्द्रियच्छिद्रहृदयशिरसां च देहस्य प्रधानस्थानानां स्पर्शपुरस्सरं परमात्मतः प्रत्यहं रक्षा प्रार्थनीया ॥६०॥

भाषार्थः—(पूर्वं त्रिरपआचामेत्) पहिले मन्त्र द्वारा तीन वार जलों का आचमन पान करे (ततो द्विर्मुखं प्रमृज्यात्) तत्पश्चात् शुद्ध जल से दो वार मुख धोवे और अंगोच्छा से हाथ मुख पोंछ ले। तदनन्तर बांये हाथ में जल लेकर (खानि चैव) मुख नासिका नेत्र और कान के सातों छिद्रों (आत्मानं शिर एव च) और हृदय तथा शिर नाम मूर्द्धा स्थान को (अद्भिः स्पृशेत्) दहिने हाथ की अंगुलियों में जल लगा के स्पर्श करे॥

भा०—आचमन के पश्चात् जूठे जल विन्दुओं के निवारणार्थ मुख धोना चाहिये तदनन्तर मुखस्थ इन्द्रियों के छिद्र हृदय और मूर्द्धा इन शरीर के मुख्य स्थानों का जल से स्पर्श करता हुआ परमेश्वर से इन्द्रियादि की रक्षार्थ नित्य प्रार्थना करनी चाहिये॥ ६०॥

अनुष्णाभिरफेनाभिरद्भिस्तीर्थेन धर्मवित्।
शौचेप्सुः सर्वदाचामेदेकान्ते प्रागुदङ्मुखः॥६१॥

अ०—अग्न्यादिनाऽतप्ताभिरफेनाभिः फेनादिविकारवर्जिताभिः सर्वथाशुद्धाभिरद्भिर्धर्मविद्धर्ममर्यादातत्त्वं जानानः शौचेप्सुः पुरुषः प्राङ्मुखउदङ्मुखो वा भूत्वा सर्वदा प्रतिदिनं सन्ध्यामारभमाण एकान्ते जनसमुदायवर्जिते शुद्धप्रदेशे ब्राह्मादितीर्थेनाचामेत्॥

भा०—शौचमेव धर्मस्य मूलं बाह्याभ्यन्तरेण शुद्धएव धर्मात्मा भवितुमर्हति। शुद्धिहेतुषु सर्ववस्तुषु चापामेव सर्वापेक्षया प्राधान्यम्। अतएवर्ग्वेदस्य नवममण्डले पावमानीनां सर्वासामृचां प्रायेण सोमएव देवतोपलभ्यते। सोमपदेन च वायुकोटिस्था मध्यस्थानदेवता अप्प्रधानाएव गृह्यन्ते। तस्मादाचमनं प्रधानं धर्माङ्गमित्यनुसन्धानपरैरेवानुसन्धेयम्॥ ६१॥

भाषार्थः—(अनुष्णाभिः) जो अग्नि आदि से तपाये औटे न हों ऐसे (अफेनाभिः) फेनादि विकार वा काई आदि से रहित सर्वथा शुद्ध (अद्भिः) जलों से (धर्मवित्) धर्म की मर्यादा को जानता हुआ (शौचेप्सुः) शुद्धि चाहने वाला पुरुष (प्रागुदङ्मुखः) पूर्व वा उत्तर दिशा को मुख कर के (सर्वदा) प्रति दिन सन्ध्या का आरम्भ करता हुआ (एकान्ते) जहां बहुत मनुष्यादि की भीड़ न हो ऐसे शुद्ध प्रदेश में बैठकर ब्राह्मादि तीर्थ द्वारा प्रथम आचमन करे॥

भा०-शुद्धि ही धर्म का मूल है क्योंकि जो बाहर भीतर से शुद्ध हो वही धर्मात्मा हो सकता है। और शुद्धि करने वाले सब पदार्थों में सब की अपेक्षा जल प्रधान हैं। इसी लिये ऋग्वेद के नवमें मण्डल भर में पावमानी नामक सब ऋचाओं का सोमही देवता प्रायः लिखा है। और सोम शब्द से वायु कोटि के मध्यस्थान देवता जिन में जल ही प्रधान है लिये जाते हैं। इस लिये आचमन भी धर्म वा संस्कार का मुख्य अङ्ग है यह धर्मार्थों के शोचने वालों को ही विचारणीय है ॥ ६१ ॥

हृद्गाभिः पूयते विप्रः कण्ठगाभिस्तु भूमिपः।
वैश्योद्भिः प्राशिताभिस्तु शूद्रः स्पृष्टाभिरन्ततः

अ०-विप्रो हृद्गाभिर्भूमिपस्तु कण्ठगाभिर्वैश्यः प्राशिताभिः शूद्रस्त्वन्ततो मुखान्तर्गताभिराचमनावसरे पीताभिरद्भिः पूयते ॥

भा०-आचमनीयजलस्य वर्णभेदेन सार्द्धं सर्वकल्पभेदवत्तारतम्यप्रदर्शनमात्रेऽस्य तात्पर्यम्। ननु क्षत्रियादीनामाचमनोदके कण्ठाधस्ताद्गते कश्चिद्दोषोऽस्ति। मुखे प्रविष्टमल्पमप्युदकमुदरेऽवश्यं गमिष्यति तस्मात्पानावसरे हृदयावधिवेगेन गतिप्रतीतिर्यदा जायते तदा हृद्गा आपो बोध्या एवं च हस्तैकसम्पुटमितमुदकं ब्राह्मणः पिबेत्। तदर्धं क्षत्रियस्तदर्धं वैश्यस्ततोऽप्यर्द्धं शूद्रइति। ब्राह्मणोऽग्नितत्त्वप्रधानस्तस्मात्तदर्थमुदकाधिक्यमन्ये च तदपेक्षया न्यूनं न्यूनतरं न्यूनतमं चाग्नितत्त्वं धारयन्ति। अग्नितत्त्वाधिक्यादेव बुध्याधिक्यं ब्राह्मणादौ बोध्यम्। तच्छान्तये चाचमने जलाधिक्यम्। वेदे च कारणसाम्यमपि दर्शितमेव। यथा-"मुखादग्निरजायत" "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" एतन्मूलमाश्रित्यैव ब्राह्मणपुस्तकेषु बहुत्र दृश्यते "ब्रह्मह्यग्निः" "अग्निर्वै ब्रह्म" ब्रह्मपदं चात्र सामान्यब्रह्मत्वपरम्। तच्च निरतिशयिब्रह्मत्ववाचकं ब्रह्मपदं परमात्मवाचकं तदेव सातिशयिब्रह्मत्वं गुणो ब्राह्मणेषु भवति तस्मादेव ते ब्राह्मणाः। अग्नितत्त्वप्राधान्यं च बुद्ध्यादिप्र-

कृतिस्थमेवापेक्ष्यं नतु शारीरिकाग्नेः प्राबल्यप्रदर्शने प्रयोजनम्। यत्र शारीराग्नेः प्राबल्यं तस्य जाठराग्नेः प्राबल्यादबह्वाशित्वमपि बोध्यम्। बह्वाशित्वं च क्षत्रियगुणः क्षत्रियो हि बह्वाशित्वादपि कारणाद्बलिष्ठो भवति यस्मिन् ब्राह्मणादौ यादृशः शोषको गुणस्तस्य शान्तये तावदेवाचमने जलपानमभिहितमित्याशयः ॥ ६२ ॥

भाषार्थः—(विप्रः, हृद्गाभिः) ब्राह्मण हृदय तक पहुंचे इतना (भूमिपः, तु कण्ठगाभिः) और क्षत्रिय कण्ठ तक पहुंचे इतना (वैश्यः प्राशिताभिस्तु) वैश्य तालु तक पहुंचने योग्य (शूद्रः, अन्ततः, स्पृष्टाभिः, अद्भिः) और शूद्र जिह्वा के अग्र भाग तक पहुंचने योग्य आचमनीय जल पीने से (पूयते) पवित्र होता है ॥

भा०—वर्ण भेद के साथ अन्य सब यज्ञोपवीतादि का भेद दिखाने के तुल्य आचमनीय जल की न्यूनाधिकता दिखाने में तात्पर्य है किन्तु क्षत्रियादि के आचमन का जल कण्ठादि से नीचे चले जाने पर वे दोषभागी हों यह आशय नहीं है क्योंकि मुख में गया थोड़ा भी जल कुछ न कुछ पेट तक अवश्य जायगा। इस लिये पीते समय हृदय तक जल का जाना प्रतीत हो उतना जल हृदयगामी जानों। ऐसे ही कण्ठगामी आदि भी। अर्थात् एक चुल्लूभर जल ब्राह्मण पीवे उस से आधा क्षत्रिय उस से आधा वैश्य और वैश्य से भी आधा शूद्र पीवे। ब्राह्मण अग्नितत्त्वप्रधान है इस कारण उस के लिये अधिक जल कहा गया और अन्य क्षत्रियादि उस से कम २ यथाक्रम अग्नितत्त्व को धारण करते हैं। और अग्नि तत्त्व की प्रधानता से ही ब्राह्मण में बुद्धि वा चेतनता वा आत्मिक शक्ति अधिक होती है। महाभारत में लिखा है कि "मानसोऽग्निः शरीरेषु जीव इत्यभिधीयते" मानस सूक्ष्म कारणरूप अग्नितत्त्व से देह में प्राणधारण रूप चेतनता वा जीवन की स्थिति है जितनी जिस में कारणाग्नि की अधिकता है उतनी ही बुद्धि वा चेतनता उस में अधिक है। क्योंकि जड़चेतन दोनों अंश के संयोग से ही जगत् बना है। और आधेय वस्तु का गुण आधार में भी आता है इस कारण शारीर रूक्षता प्राणायामादि में बाधक न हो इस लिये आचमनादि का जल वैसी ही शान्ति पहुंचावे जैसी जिस में गर्मी और जैसा जिस का सन्ध्योपासनाङ्गों में परिश्रम हो। ब्राह्मण ज्ञानाग्नि की अधिकता से ही सब से अधिक भी सन्ध्योपासन में श्रम करेगा। अन्य लोग यथा क्रम उस से कम ही कर सकते हैं। और वेद में अग्नि और ब्राह्मण के कारण की तुल्यता भी स्पष्ट ही दिखायी है जैसे "मुख से अग्नि उत्पन्न हुआ, और मुख से ब्राह्मण हुआ।" इसी मूल वेद के आशय को लेकर ब्राह्मणग्रन्थों में प्रायः लेख आता है कि "ब्रह्म ही अग्नि है वा अग्नि ही ब्रह्म है" इत्यादि यहां ब्रह्मपद सामान्य ब्रह्मपन का वाचक है।

उस में निरतिशय वा अनन्त अनवधिक [अनहद्] ब्रह्मत्व अर्थ वाला ब्रह्मशब्द परमेश्वर का वाचक होता इसी प्रकार अग्नि के असीम अग्निपन से परमात्मा का नाम अग्नि होता। और वही असीम ब्रह्मत्व गुण वाला ब्राह्मण भी ब्रह्मपद का अर्थ हो जाता है उसी ब्रह्मत्व के होने से वे ब्राह्मण बनते वा कहाते हैं। और अग्नितत्त्व की प्रधानता बुद्ध्यादि प्रकृति की लेना इष्ट है। किन्तु शरीर के पित्तरूप अग्नि की प्रबलता ब्राह्मण में इष्ट नहीं। जहां शारीर अग्नि प्रबल है वहीं जाठराग्नि के प्रबल होने से उस में खाने पचाने की भी शक्ति अधिक होगी। सो अधिक खा पचा सकना क्षत्रिय का गुण है क्योंकि अधिक खा पचा सकने से ही शारीरिक बल की उन्नति होती है। और ब्राह्मण आत्मिक बल में प्रधान है। जिस ब्राह्मणादि में जैसा शोषक गुण हो उस की शान्ति के लिये उतने ही जल से उस को आचमन करना चाहिये यही आशय जानों ॥ ६२ ॥

उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते द्विजः।
सव्ये प्राचीन आवीती निवीती कण्ठसज्जने ६३

अ०—दक्षिणे पाणावुद्धृतउपरिस्थे वामस्कन्धावलम्बिते दक्षिणकक्षाश्रिते सव्ये सूत्रे द्विजो ब्राह्मणादिरुपवीती—इत्युच्यते। प्राचीने दक्षिणस्कन्धावलम्बिते वामकक्षस्थे प्राचीनावीती—उभयतः कण्ठासक्ते सूत्रे निवीती भवति। एवं वामस्कन्धेन धारणमुपवीतं दक्षिणांसेन धारणं प्राचीनावीतं कण्ठे मालावद्धारणं च निवीतमिति विज्ञेयम्। तादृशं धारणमस्यास्तीत्युपवीत्यादीनि द्विजविशेषणानि ॥

भा०—यज्ञसूत्रधारणस्य त्रय एव प्रकाराः सन्ति। अर्थात्रिधैव धारयितुं शक्यते यतः पृष्ठावलम्बनमपि कण्ठसज्जनान्तर्गतमेव। त्रीण्येव चोत्तममध्यमाधमानि कर्माणि सम्भवन्ति। तत्रोत्तमेषु ब्रह्मयज्ञादिषु द्विजेनोपवीतिना भाव्यम्। मध्यमेषु पितृयज्ञादिषु प्राचीनावीतिना—अधमेष्वभिचारादिषु [अधर्मिदुष्टदस्व्यादिनाशाय कृतेषु परमेश्वरप्रार्थनादिषु] कर्मसु च निवीतिनेत्येतदन्यभाष्यकारानुमतमपि। यथा यज्ञसूत्रधारणेन सामा-

न्यतया यज्ञानुष्ठायित्वं सूच्यत एवं यज्ञसूत्रभेदत्रयेण सात्त्विकराजसतामसयज्ञानुष्ठानं बोध्यम् ॥ ६३ ॥

भाषार्थः—(दक्षिणे, पाणावुद्धृते, सव्ये, द्विज, उपवीत्युच्यते) बायें कन्धे पर रख के दहिनी कांख में लगे दहिना हाथ ऊपर रहे ऐसे सव्य यज्ञोपवीत का धारण कर्ता ब्राह्मणादि द्विज उपवीती कहाता (प्राचीने) दहिने कन्धे पर से बायीं कांख में लटकाने वाला (आवीती) आवीती वा प्राचीनावीती कहाता और (कण्ठसज्जने, निवीती) और माला के समान दोनों ओर से कण्ठ में डालने वाला निवीती कहाता है। अर्थात् यज्ञसूत्र का सव्य धारण उपवीत अपसव्य धारण प्राचीनावीत और कण्ठ में धारण निवीत है और वैसा धारण जिस का हो वह उपवीती आदि कहाता है ॥

भा०—यज्ञसूत्र के धारण के तीन ही प्रकार हैं अर्थात् तीन ही प्रकार से धारण किया जा सकता है क्योंकि पीठ की ओर लटकाना भी कण्ठ सज्जन में ही गिना जायगा। और उत्तम मध्यम निकृष्ट तीन ही प्रकार के कर्म हो सकते हैं। सो उत्तम ब्रह्मयज्ञादि कर्मों में सव्य धारण करना चाहिये अर्थात् सव्य धारण करने वाले उत्तम कर्मानुष्ठानी होने चाहिये। मध्यम पितृयज्ञादि में प्राचीनावीती अपसव्य धारण करे अपसव्य धारण से मध्यम कर्म सेवी समझा जावे और निकृष्ट अभिचारादि [अधर्मी दुष्ट डाकू आदि के नाशार्थ परमेश्वर से प्रार्थनादि करना] कर्मों में निवीती अर्थात् कण्ठ में सूत्र धारण करे। कण्ठ में धारण करने वाला निकृष्ट कर्मसेवी समझा जावे यही अन्य भाष्यकारों के भी सम्मत है। जैसे यज्ञसूत्र का धारण सामान्य कर यज्ञानुष्ठायी होने का सूचक है वैसे ही सव्य धारण सात्त्विक यज्ञ का अपसव्य राजस यज्ञ का और कण्ठ में धारण तामस यज्ञ का सूचक है। यदि कोई अच्छा भी धारण कर बुरा काम करे वा बुरा धारण कर अथवा विना ही धारण किये अच्छा करे तो यह दूसरी बात है इसी लिये लिङ्ग वा चिह्न को धर्म का कारण नहीं माना ॥ ६३ ॥

मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम् ।
अप्सु प्रास्य विनष्टानि गृह्णीतान्यानि मन्त्रवत्

अ०—मेखलामजिनं कृष्णाजिनादिकं दण्डमुपवीतं यज्ञसूत्रं कमण्डलुरुदकपात्रं पूर्वतो धृतान्येतानि विनष्टानि यदा भवेयुस्तदाऽप्सु प्रास्य प्रक्षिप्यान्यानि नवानि निर्माय मन्त्रवन्मन्त्रपाठपुरस्सरं गृह्योक्तप्रकारेण गृह्णीत ॥

भा० —यद्यपीतः पूर्वं कमण्डलुधारणं ब्राह्मचारिणो नोक्तं तथापि गृह्योक्तरीत्या तद्धारणमिष्टं मनोरपीत्येतस्मादेव कथनादनुमीयते। एषामप्सु प्रक्षेपणं मलिननिकृष्टान्यमलाद्यसंसर्गार्थम्। सति सम्भवे चैतत्कथनम्। सति च महति जलाशये तत्रैव प्रक्षेप्यमसति च शुद्धिहेतूनि ब्रह्मचर्यचिह्नानि क्वाप्यन्यत्र शुद्धस्थले पात्यानि ॥ ६४ ॥

भाषार्थः—(मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम्) कन्थनी, मृगादि चर्म, दण्ड, यज्ञोपवीत, और जलपात्र ये ब्रह्मचारी के पूर्व से धारण किये चिह्न जब (विनष्टानि) टूट फूट फट जांय तब (अप्सु प्रास्य) जल में फेंक के (अन्यानि, मन्त्रवत्, गृह्णीत) मन्त्र पढ के अन्य नवीन धारण करे ॥

भा०—यद्यपि इस से पहिले इस ग्रन्थ में ब्रह्मचारी के लिये कमण्डलु का धारण नहीं कहा तथापि गृह्यसूत्रादि के अनुसार उस का धारण मनु जी को भी अभीष्ट है यह इसी कथन से अनुमान होता है। अन्य मलमूत्रादि निकृष्ट वस्तु के साथ उन उत्तम चिह्नों का मेल न हो इस कारण जल में डालना कहा गया है सो यदि ऐसा बड़ा जलाशय ब्रह्मचारी को प्राप्त हो सके तो जल में छोड़े अन्यथा शुद्धि के लिये धारण किये ब्रह्मचर्य के चिह्नों को अन्यत्र कहीं शुद्ध स्थान में डाल देवा पृथिवी में खोद कर गाड़ देवे ॥ ६४ ॥

केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिकेततः ६५

अ०—ब्राह्मणस्य केशान्तः संस्कारः षोडशे वर्षे क्षत्रियस्य द्वाविंशे वैश्यस्य च ततो द्व्यधिके चतुर्विंशे वर्षे विधीयते। गर्भाच्चैषा वर्षसङ्ख्या ग्राह्या ॥

भा०—केशान्तः संस्कारो वेदारम्भसमावर्तनयोर्मध्ये ब्रह्मचर्यकाले प्राप्तस्तेन च ब्रह्मचर्यव्रते नास्ति कश्चिद्बाधः। केशान्तपदेन च श्मश्रुकक्षस्थलोम्नां वपनमेवादौ कार्यं तत आरभ्याग्रे यथेच्छं यथावसरं वपनं कारयितव्यं नच ततः पूर्वमिति। एनमेव संस्कारं गोदानपदेनापि केचित्क्वचिद्वदन्ति। यदि ब्रह्मचर्यकाले

सर्वलोमकेशरक्षणमेव सङ्कल्पितं तर्हि समावर्त्तनकालएव तेन तत्कार्यम् ॥६५॥

भाषार्थः-(ब्राह्मणस्य, केशान्तः, षोड़शे वर्षे, विधीयते) ब्राह्मण का केशान्त संस्कार सोलहवें वर्ष (राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे) क्षत्रिय का बाईशवें वर्ष और (वैश्यस्य, द्व्यधिके, ततः) वैश्य का चौवीशवें वर्ष में करना चाहिये। और यहां सोलहवां आदि वर्ष जन्म से गिनना चाहिये ॥

भा०-केशान्त संस्कार वेदारम्भ तथा समावर्त्तन के बीच ब्रह्मचर्यकाल में तब आसकता है जब कम से कम चौवीस वर्ष तक ब्रह्मचारी बनने का नियम किया हो पर उस केशान्त के बीच में होने से ब्रह्मचर्य के नियम में कुछ बाधा पड़ने की सम्भावना नहीं है। क्योंकि डाढी मोंछ और वगलों के वाल काटने के आरम्भ का नाम केशान्त संस्कार है तब से लेकर आगे यथावसर इच्छापूर्वक डाढी आदि के वाल मनुष्य वनवा सकता है किन्तु केशान्त संस्कार से पहिले वहां २ के वाल नहीं कटाने चाहिये। यह संस्कार अन्यों की अपेक्षा छोटा वा साधारण है इसी कारण इस का प्रायः प्रचार नहीं रहा। कहीं २ कोई लोग इसी संस्कार को गोदान भी कहते हैं। यदि किसी ने ब्रह्मचर्य समय में सब वाल रखा लेने का नियम कर लिया हो तो उस को समावर्त्तन के समय ही यह संस्कार कर्त्तव्य है। जिन का शिखा छोड़ सब बाल मुंड़ाने का नियम हो वा जो बहुत कम काल तक ब्रह्मचारी बनें अथवा थोड़े काल भी न बनें उन के लिये सोलह आदि वर्षों की आज्ञा को अवकाश है ॥ ६५ ॥

अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः ।
संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम् ॥६६॥

अ०-इयमावृज्जातकर्मादिका संस्कारक्रिया स्त्रीणां कन्यानाममन्त्रिका कार्या मन्त्रपाठमन्तरेणैव मेधाजननादिकं सर्वं कृत्यं शरीरस्य संस्कारार्थं यथाकालं यथाक्रमं कार्यम् ॥

भ०-अत्र जातकर्मादीनामेव समन्त्रकानां निषेधो नतु गर्भाधानादीनां गर्भस्थस्य पुत्रोद्देशेन संस्कारविधानात्। अतएव गर्भकालीनद्वितीयसंस्कारस्य पुंसवनमिति नाम रक्षितं नतु कन्यासवनमिति। गर्भस्थस्य परोक्षत्वान्निर्णयोऽपि दुर्घटो गर्भे पुत्रोऽस्ति कन्या वा पुरुषप्राधान्यमाश्रित्य च पुत्रोद्देशेन संस्कारविधानम्। पुत्रोत्पत्तये च प्रायेणोपाया अपि दर्शिताः। नच तादृशः

कन्योत्पत्तये । यदिस्त्रीजातेरधिकारो वेदाध्ययनस्य नास्तीति सूचयितुं पद्यमिदं तदा तु चिन्त्यमेवेति मया भूमिकायामुक्तमेव । यदि चायमाशयः सम्भवति यत्पुरुषापेक्षया तासां कथमपि वर्ण-भेदवत्तारतम्यं मन्तव्यमिति तदा सम्भवतीदं यन्मन्त्रपाठमन्त-रेण संस्कारः कार्यइति । अधिकारस्तु पुरुषवत्स्त्रीणामप्यस्त्येव याश्च पठितुं शक्ता नास्ति तासां वेदाद्यध्ययननिरोधः । स्त्रीशक्तिः स्वभावतएव निर्बला पुरुषापेक्षयाऽप्रधाना च । पुरुषः स्वतन्त्रः प्रकृतिः पुरुषाधीना पुरुषेच्छामनुसरन्ती जगत्कार्याणि साधयति । अतएव सृष्टिकरणे पुरुषईश्वरः प्रधानः स्वतन्त्रश्चेति सृष्टिकर्त्ता स्रष्टा वा प्राधान्येन कथ्यते वेदादिषु । ये च पुरुषापेक्षया स्त्रीजातेः प्राधान्यं पुरुषेण साकं सर्वांशे साम्यं वा प्रवर्त्तयितुं कटिबद्धा यतन्ते ते स्वस्योन्नतिं बाधन्ते हीपान्तरीयाणामेवाचारान् वर्द्धय-न्ति च । वर्णाश्रमधर्मिणामार्य्याणां तु वेदादिसिद्धान्तप्रचारप्राचुर्या-देवोन्नतिर्भवित्री नत्वन्यदेशीयाचारप्रचारेण । वेदादीनां च स्फुट-एव सिद्धान्तः पुरुषः प्रधानः स्त्र्यप्रधानेति । इष्टदेवतोपासनावत्स्त्रीं ये पुरुषापेक्षया प्रधानां मत्वोपासते प्रधानकोटिस्थां वा कर्त्तुं य-तन्ते तेषां तादृक्प्रवृत्तौ कामासक्तिरेव मूलं कारणं सा च धर्मस्य बाधिका तस्मात्पुरुषापेक्षया स्त्रियोऽप्रधानाएव मन्तव्याः । वेदा दिशास्त्रस्यायमाशयोऽपि नास्ति यत्स्त्रीजातिरनादरणीया निकृष्टैव रक्षणीयेति किन्तु बहुत्र वेदानुयायिनिबन्धेषु तासामादराय पू-जनायोन्नत्यै च धर्मशिक्षादिरूपा भूरिश उपायाः प्रदर्शिताएव ते च तथैव कर्त्तव्या मन्तव्याश्च । स्त्रीणां विशिष्टस्वातन्त्र्ये ये दोषा-स्तेऽनुभवेनैव ज्ञातुं शक्याः । विशिष्टमस्वातन्त्र्यमपि हानिकर-मेव तस्माद्यथोचितमेव कार्यम् ॥६६॥

भाषार्थः—(तु) और (इयमावृत्) यह जातकर्मादि संस्कारों की क्रिया (स्त्रीणाम्) कन्याओं की (अमन्त्रिका, कार्या) मन्त्र पढ़े विना ही करनी चाहिये

अर्थात् (शरीरस्य, संस्कारार्थम्) लड़कों के समान लड़कियों के भी शरीरों की शुद्धि के लिये (यथाकालम्, यथाक्रमम्) जिस २ समय वा जिस २ क्रम से आगे पीछे जो २ जात कर्मादि संस्कार कहा है उस को वैसा ही करना चाहिये ॥

भा०–यहां गर्भाधानादि संस्कारों का निषेध इसलिये नहीं कि गर्भस्थ सन्तान के पुत्रोद्देश से तीनों संस्कार किये जाते हैं। इसीलिये द्वितीय संस्कार का नाम पुंसवन रक्खा गया है किन्तु कन्यासवन नहीं रक्खा। और परोक्ष होने से निश्चय भी नहीं हो सकता कि गर्भ में पुत्र है वा कन्या। पुत्रोद्देश से इसलिये करते हैं कि पुरुष प्रधान वा अधिक इष्ट है। यदि स्त्री जाति को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं इस बात को जताने के लिये यह श्लोक है तब तो चिन्त्य वा प्रक्षिप्त है यह बात हम ने भूमिका में लिख ही दी है। और यदि इस का अभिप्राय यह हो सकता है कि पुत्र की अपेक्षा कन्याओं की अप्रधानता वा न्यूनता दिखावे जैसा कि ब्राह्मणादि वर्णों के कामों वा चिह्नों में न्यूनाधिकता मानी वा दिखाई गयी है तो यह सम्भव है कि मन्त्र पाठ के विना कन्याओं का संस्कार किया जाय। अधिकार तो पुरुष के तुल्य स्त्री को भी है ही। जो कन्या वा स्त्री पढ़ सकती हैं उन को वेदादि शास्त्र पढ़ने की रुकावट नहीं है। स्त्री शक्ति स्वभाव से ही निर्बल और पुरुष की अपेक्षा अप्रधान है और पुरुष स्वतन्त्र है प्रकृति पुरुष के आधीन है पुरुष की इच्छा वा प्रेरणा के अनुसार चलती हुई जगत् के कार्यसिद्ध करती है। इसी कारण सृष्टि रचने में परमेश्वर नामक पुरुष प्रधान वा स्वतन्त्र होने से स्रष्टा वा सृष्टिकर्त्ता मुख्य कर वेदादि शास्त्रों में कहा जाता है। इस दशा में जो लोग पुरुष की अपेक्षा स्त्रीजाति को प्रधानता देने वा पुरुष के साथ सर्वांश में बराबरी ठहराने को कटिबद्ध हो प्रयत्न करते हैं वे अपनी उन्नति के बाधक हैं। और द्वीपान्तरीय लोगों के आचार बढ़ाते हैं। वर्णाश्रम धर्मी आर्यलोगों की तो वेदादिशास्त्रों के सिद्धान्त का विशेष प्रचार होने से ही उन्नति होगी किन्तु अन्यदेशीय आचार के बढ़ाने से कदापि नहीं। और वेदादिशास्त्रों का स्पष्ट ही सिद्धान्त है कि पुरुष प्रधान और स्त्री गौण है। जो लोग इष्ट देवता की उपासना के समान पुरुष की अपेक्षा स्त्री को प्रधान वा श्रेष्ठ मान कर उपासना करते हैं अथवा स्त्री जातिको सर्वथा स्वतन्त्र वा प्रधान कोटि में ठहराने का यत्न करते हैं। उस का मूल कारण उन की कामासक्ति ही है वा धर्म की ओर से विमुख होना भी इस का कारण हो सकता है और कामासक्ति धर्म से विमुख करने वाली अवश्य है इस कारण पुरुष की अपेक्षा स्त्री जाति को अप्रधान वा गौण मानना ही उचित है। परन्तु वेदादिशास्त्र में जो स्त्रीजाति को पुरुषापेक्षा गौण माना है उस का अभिप्राय यह भी नहीं है कि स्त्री जाति का निरादर किया जाय वा नीचदशा में ही रक्खी जाय वा स्त्रीजाति की उन्नति न की जाय किन्तु वेदानुकूल आर्षग्रन्थों में बहुधा उन के आदर पूजन वा सत्कार और

उन्नति के लिये धर्मशिक्षादिरूप बहुत से उपाय बताये वा दिखाये हैं उनको वैसा ही करना और मानना चाहिये। स्त्रियों के अधिक स्वतन्त्र होने में जो दोष हैं वे अनुभव से ही जाने जा सकते हैं। और अधिक पराधीनता वा लज्जा का बढ़ जाना भी हानि कारक है इस से यथोचित होना चाहिये ॥ ६६ ॥

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥६७॥

अ०—स्त्रीणां वैवाहिको विधिर्विवाहकाले क्रियमाणः संस्कारो वैदिको वेदप्रतिपादितः स्मृतोऽन्ये च स्मार्त्ताएवेत्यर्थादापन्नम्। उपनयनमपि विवाहकालएव द्विजस्त्रीणां कार्यं ततः पूर्वं पत्युरभावाद्गुरुकुलवासासम्भवात्। पतिसेवैव तासां गुरुकुलवासो गुरुशुश्रूषणं चास्ति। अग्निपरिक्रियाऽग्निहोत्रानुष्ठानं च गृहार्थएव गृहकृत्यानि-धनादीनामायव्ययौ पाकः सर्ववस्तूनां यथास्थानं रक्षणमवेक्षणं चेत्यादीनि चाग्निहोत्रस्थानीयानि ॥

भा०—यद्यपि "पुराकालेषु नारीणां व्रतबन्धनमिष्यते। वेदानां पठनं चापि सावित्रीवाचनं तथा॥" इत्यादिवचोभिः प्रतीयते पूर्वकाले स्त्रीणामपि यज्ञोपवीतसंस्कारप्रचार आसीत्ता अपि नियमेन ब्रह्मचर्याश्रमं वेदाध्ययनं च कृतवत्यइति। नच तदानीं कामासक्तेः प्राबल्यमासीदपितु धर्मनियमानां बन्धनान्येवं दृढतमान्यासन् यानि कामक्रोधलोभादिदोषैर्व्याहन्तुमशक्यानि यादृशास्तदानीं प्रायेण पुरुषाः स्त्रियश्चासन्नच तादृक्सम्प्रति कोऽपि कापि वा लक्ष्यते श्रूयते वा। तदानीं च "पुत्रप्रयोजना दाराः" अयमेव कूटस्थः सिद्धान्त आसीत्। अनन्तरं यदाकालेन कामः प्राबल्यं प्राप्तस्तदा "रतिपुत्रफला नारी" इत्यासीत्सिद्धान्तः। सम्प्रति तु प्रायेण कामरूपधारिणएव स्त्रीपुरुषा दृश्यन्ते ये कामभोगएव जन्मसाफल्यं मन्यन्ते। यद्यपि सर्गारम्भादेव पुरुषापेक्षया स्त्रीणां कामाधिक्यमासीत्तथापि धर्मबन्धनग्रन्थीनामति-

दार्ढ्यात्सम्भतिस्म पुरा तासां यज्ञोपवीतधारणनियमनिर्वाहः । तथापि नेदानीं तथा सम्भवति। वेदे च स्त्रीणां संस्कारा नैव निषिद्धा नच साक्षादाधिक्येन प्रदर्शिता वा । यस्माद्देदेऽपि पुरुषः प्रधानस्तदर्थमेव प्राधान्येन कृत्यमुक्तम्। स्त्रियश्च पुरुषाङ्गभूतास्तस्मात्तासां पुरुषसम्बन्धकालात्सर्वं कृत्यं पुरुषेण सहैव विहितं बोध्यम्। मनुनापि पञ्चमाध्याय उक्तमेव "नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषितम्" वेदे च प्रायेण स्त्रीणां कृत्यं पुरुषसम्बन्धापेक्षमेव वर्णितं दृश्यते। पुरुषसम्बन्धारम्भश्च विवाहकालादेव तस्माद्विवाहारम्भादेव तासां सर्वं कृत्यं पुरुषेण सहैव वैदिकमित्याशयः । यद्यपि वेदेषु स्त्रीणां संस्कारा न प्रतिषिद्धा नच साक्षाद्विहिताएव तथापि तासां यज्ञसूत्रादिधारणप्रमाणस्य मूलं वेदान्निस्सरेदिति सम्भवति । नच ताभिर्यज्ञसूत्रं न धार्यमिति प्रतिषेधं वेदात्कोऽपि निस्सारयितुं शक्तइति। एवं संस्काराः प्राप्तास्तस्मादेव च पुराकल्पे तासां संस्कारा बभूवुरिति । यथाऽन्येऽपि वैदिकाः सिद्धान्ता देशकालानुकूलं साफल्यं दृष्ट्वैव प्रचारणीया भवन्ति तथैवेदमपि स्त्रीकृत्यम्। मानवधर्मशास्त्रनिर्माणकाले ग्रन्थकर्त्रा देशकालावालोच्य स्त्रीणां यज्ञसूत्रधारणे ब्रह्मचर्याश्रमरक्षणे वा न किमपि साफल्यमवगतमपितु विपरीतफलमनुसन्दधता तेन यथोचितं समयानुकूलं कृत्यमुक्तम्। विवाहावसरे च यज्ञसूत्रं कन्याभिर्धार्यम् । पुनः पुरुषसंप्रयोगात्पूर्वमेव तया पुरुषाय स्वपतये दातव्यमिति । इत्थं स्वस्य पत्न्याश्च यज्ञोपवीतद्वयं पुरुषा दधतीत्यनुमीयते। कामाधिक्यादेव रजःप्रसवादिजन्यमालिन्यं तासां शरीरात्प्रायेण निस्सरति तस्मात्ता यज्ञोपवीतं शुद्धं रक्षयितुमशक्ता इति न ताभिर्धार्यम् ॥ ६७ ॥

भाषार्थः—(स्त्रीणां वैवाहिको विधिः) स्त्रियों का विवाह समय में होने वाला विधान (वैदिकः संस्कारः स्मृतः) वेदोक्त संस्कार माना गया है अर्थात् अन्य सब कन्याओं के संस्कारस्मार्त्त रीति से होने चाहिये । और इस से यह

भी सूचित होता है कि द्विज स्त्रियों का उपनयन संस्कार भी विवाह के समय होना चाहिये क्योंकि उस से पहिले पति के साथ सम्बन्ध न होने से पति के विना अन्य कोई पुरुष गुरु नहीं हो सकता और यज्ञोपवीत संस्कार से ही गुरु होने की आवश्यकता है इसी लिये (पतिसेवा, गुरौ वासः) गुरु के स्थान में स्त्री को पति की सेवा करनी चाहिये। पति ही उस का गुरु है। जैसे वा जिन २ नियमों के साथ गुरु की सेवा कही गयी है वैसा ही वर्त्ताव स्त्री को पति के साथ करना चाहिये और (अग्निपरिक्रिया, गृहार्थः) धनादि के आय व्यय का प्रबन्ध करना पाक स्वयं बनाना वा सामर्थ्य हो तो पाचक वा पाचिका से स्वादिष्ठ आरोग्यवर्द्धक शीघ्र पचने वाला सत्त्वगुणी रोचक भोजन बनवाना, घर के सब पदार्थों को सम्हाल कर ठीक २ अपने २ स्थान में रखना और समय २ पर प्रत्येक पदार्थ के हानि लाभ को देखना इत्यादि सब काम अर्थात् गृहरूप यज्ञकुण्ड का यथोचित प्रबन्ध करना यही उस का अग्निहोत्र है। घररूप कार्यालय की प्रबन्धकर्त्री (मेनेजर) स्त्री ही होनी चाहिये ॥

भा०—यद्यपि "पहिले समय में स्त्रियों का यज्ञोपवीत हो के वेद पढ़ना और सावित्री (तत्सवितु०) आदि मन्त्रों का जप करना आदि काम होते थे" इत्यादि वचनों से प्रतीत होता है कि पहिले स्त्रियों के यज्ञोपवीत संस्कार का भी प्रचार था अर्थात् स्त्रियां भी नियम के साथ वेदाध्ययन और ब्रह्मचर्य आश्रम करती थीं। उस काल में कामासक्ति की प्रबलता वा उन्नति नहीं थी किन्तु धर्मसम्बन्धी नियमों के बन्धन ऐसे दृढ़तर थे जो काम क्रोध वा लोभादि निर्बल दोषों से कदापि छूट नहीं सकते थे। जैसे स्त्री पुरुष उस समय प्रायः होते थे वैसा अब कोई भी नहीं दीखता वा न सुना जाता है। उस समय सन्तानोत्पत्ति के लिये ही विवाह करने का मुख्य उद्देश्य था यही सिद्धान्त अचल माना जाता था। तत्पश्चात् जब काल पाकर कुछ काम की प्रबलता हुई तब यह सिद्धान्त किया गया कि स्त्री सम्बन्ध के दो प्रयोजन वा फल हैं एक रतिसुख भोग और द्वितीय सन्तानोत्पत्ति, यह भी मध्यमदशा में अच्छा था। पर अब तो प्रायः कामभोग ही प्रधान है। चिकित्साग्रन्थों में कामी लोगों ने ऐसी भी ओषधियों की कल्पना लिख डाली कि जिन के सेवन से सन्तान ही न हों अर्थात् अब कामभोग को सन्तानोत्पत्ति की अपेक्षा प्रायः लोग अपना इष्ट कर्त्तव्य समझते हैं इसी में अपने जन्म की सफलता समझ लेते हैं। यद्यपि सृष्टि के आरम्भ से ही पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में कामासक्ति अधिक चली आती है तथापि धर्मबन्धनों की गांठों के अत्यन्त दृढ़ होने से पहिले समय में यज्ञोपवीत धारण के नियमों का निर्वाह स्त्रियां कर सकती थीं वैसा अब नहीं हो सकता। और वेद में स्त्रियों के लिये संस्कारों का न तो निषेध है और न साक्षात् संस्कारों का विधान ही किया क्योंकि वेद में भी पुरुष प्रधान है और उसी के लिये प्रायः

कर्त्तव्य कहा गया है और स्त्रियां पुरुषों का अङ्गरूप हैं इस कारण उन का सब कर्त्तव्य पुरुष के साथ सम्बन्ध होने के समय से पुरुष के साथ ही वेद में विधान किया गया जानो। और मनु जी ने भी पांचवें अध्याय में कहा है कि "पति से भिन्न स्त्रियों के लिये न कोई यज्ञ न व्रत और न कोई उपवासादि है" अर्थात् जो कुछ धर्म सम्बन्धी काम स्त्री कर सकती हैं वह सब पति के साथ में उस की आज्ञानुसार कर सकती हैं। परन्तु विधवा होने की दशा में धर्मिष्ठ पतिव्रता बुद्धिमती हो तो परमार्थ सुधार के लिये जप तपआदि यथोचित कर सकती है। इस का विशेष विचार यथावसर लिखा जायगा। और वेद में प्रायः स्त्रियों का कर्त्तव्य पति के साथ में वर्णन किया गया है। और पुरुष के सम्बन्ध का आरम्भ विवाह काल से ही होता है इस कारण उन का सब वेदोक्त कर्त्तव्य विवाह समय से लेकर पति के साथ ही जानना चाहिये तो भी स्त्रियों को यज्ञोपवीतादि धारण के प्रमाण का मूल वेद से निकलना सम्भव है किन्तु उन को यज्ञोपवीत धारण न करना चाहिये ऐसा निषेध वेद से कोई नहीं निकाल सकता। इस प्रकार स्त्रियों के भी यज्ञोपवीत वेदारम्भादि संस्कार प्राप्त हैं इसी कारण पूर्वकाल में उन के यज्ञोपवीतादि होते थे अर्थात् स्त्रियों का यज्ञोपवीत होना वेदविरुद्ध नहीं किन्तु वेदानुकूल है तथापि जैसे देशकाल के अनुकूल सफल होना वा विपरीत फल होने की समालोचना करके ही अन्य सब वैदिक वा लौकिक सिद्धान्तों का प्रचार किया जाता है वैसे ही यह स्त्री सम्बन्धी कृत्य भी जानो। अर्थात् मानवधर्मशास्त्र बनते समय ग्रन्थकर्त्ता ने देशकाल के प्रवाह को देख कर स्त्रियों को यज्ञोपवीत धारण करने वा ब्रह्मचर्याश्रम रखने में कुछ सफलता नहीं समझी किन्तु उस का विपरीत फल देखते हुए मनुजी ने समयानुकूल यथोचित कर्त्तव्य कहा और यज्ञोपवीत धारण तथा ब्रह्मचर्याश्रमादि का निषेध अर्थापत्ति से किया है। परन्तु अनुमान से प्रतीत होता है कि विवाह के समय द्विजों की कन्याओं को यज्ञोपवीत धारण कराना चाहिये पश्चात् पुरुष के साथ संयोग होने से पहिले ही स्त्री अपने पति को देदेवे अर्थात् स्त्री का यज्ञोपवीत भी पुरुष धारण करे [इस समय भी कहीं २ दुर्गा जनेऊ करके प्रसिद्ध है। यह विवाह समय कन्याओं का उपनयन होता था उसी से प्रचार चला आया है] इसी कारण पुरुषों में एक अपना एक स्त्री का दो यज्ञोपवीतों (जोड़ा) के धारण करने की चाल पड़ी है ऐसा अनुमान होता है। जगत् में जब कामासक्ति बढ़ जाती है तब पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में और भी अधिक बढ़ती है। इसी कारण रजस्वला होना वा शीघ्र २ सन्तान होने आदि के कारण स्त्रियों के शरीर से प्रायः मल निकलता रहता है जिस से वे यज्ञोपवीत को नियमानुकूल न शुद्ध रख सकतीं और जिस यज्ञादि के लिये चिन्ह का धारण है, उस को भी नियमानुसार नहीं कर सकतीं इत्यादि कारण उन को यज्ञोपवीत धारण का विधान नहीं है। यदि

कभी समय बदले कामासक्ति आदि निर्बल हों और धर्म की प्रधानता हो जाय तो धारण करना उचित हो सकता है ॥ ६७ ॥

एष प्रोक्तो द्विजातीनामौपनायनिको विधिः।
उत्पत्तिव्यञ्जकः पुण्यः कर्मयोगं निबोधत ॥६८॥

अ०-द्विजातीनां ब्राह्मणादीनामेष पूर्वोक्त उत्पत्तिव्यञ्जको मातापितृसम्बन्धाद्ब्राह्मणत्वादिगुणेन सहैवोत्पन्नस्यापि बालस्य प्रच्छन्नगुणानां व्यञ्जकोऽथवोत्पत्तेर्द्वितीयजन्मनो व्यञ्जकोऽत-एव पुण्यः पावनोऽन्यसंस्कारापेक्षया शरीरात्ममनसां विशेषतया शोधक औपनायनिक उपनयनसंस्कारसम्बन्धी [अत्रानुशतिकादित्वादुभयपदवृद्धिः] विधिः प्रोक्तः । अग्रे द्विजब्रह्मचारिभिः कर्त्तव्यं कर्मयोगं शौचाचारादिकर्मसम्बन्धं वक्ष्यमाणं निबोधत ॥

भा०-प्रकरणान्ते भृगुः श्रोतृमहर्षीन् सम्बोधयन्नाह । यद्यपि केशान्तः संस्कारः साक्षादुपनयनान्तर्गतो नास्ति तथापि समावर्त्तनात्प्रागुपनयनकाले विधानात्तस्योपनयनेन सम्बन्धोऽस्त्येव । उत्पत्तिव्यञ्जकपदेन जन्मतोऽपि ब्राह्मणत्वादिकमस्ति तदेव द्विजत्वसम्पादिसंस्कारेण व्यज्यते तथासत्येव "शर्मवद्ब्राह्मणस्य स्यात्" इत्यादिकथनं सङ्गच्छते। पुण्यपदेन चान्यसंस्कारापेक्षयोत्कर्षोऽस्य द्योत्यते। "शूद्रेण हि समस्तावदिति तु संस्कारप्राबल्येऽर्थवादः ॥६८॥

भाषार्थः—(द्विजातीनाम्, एषः) ब्राह्मणादि द्विजों का यह पूर्वोक्त (उत्पत्तिव्यञ्जकः) माता पिता के ब्राह्मणादि होने से तथा पूर्व कर्मानुसार ब्राह्मणपन आदि के सहित उत्पन्न होने वाले सन्तान के दबे हुए गुणों का प्रकट करने वाला अथवा द्वितीय जन्म का व्यञ्जक इसी से (पुण्यः) अन्य संस्कारों की अपेक्षा शरीर आत्मा और मन का विशेष कर शोधक (औपनायनिकः) उपनयन यज्ञोपवीत संस्कारसम्बन्धी (विधिः, प्रोक्तः) विधान यहां तक कहा गया आगे (कर्मयोगं निबोधत) द्विज ब्रह्मचारियों को करने योग्य शौच वा आचारादि कर्म सम्बन्ध को कहेंगे उस को तुम लोग सुनो वा जानो ॥

भा०-प्रकरण के अन्त में भृगु महर्षि, श्रोता ऋषि लोगों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं। यद्यपि केशान्त संस्कार साक्षात् यज्ञोपवीत में मिश्रित नहीं तथापि समावर्त्तन से पहिले यज्ञोपवीत के समय में विधान होने से उपनयन के साथ उस का सम्बन्ध अवश्य है। यहां उत्पत्तिव्यञ्जक पद से जन्म से ही ब्राह्मणपन आदि का होना जताया है वही ब्राह्मणत्वादि गुण द्विज करने वाले उपनयन संस्कार से प्रकट हो जाता है। ऐसा मानने पर ही यह भी बन सकता है कि "ब्राह्मण का शर्मान्त नाम धरे"। पुण्य पद से अन्य संस्कारों की अपेक्षा यज्ञोपवीत का अधिक उपकारी होना जताया गया है। और "द्विज संस्कार न होने से पहिले शूद्र के तुल्य होता है" यह कथन संस्कार की प्रबलता का अर्थवाद है॥ ६८॥

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।
आचारमग्निकार्यं च सन्ध्योपासनमेव च ॥६९॥

अ०-गुरुः शिष्यमुपनीय ब्रह्मचर्याश्रमे कर्त्तव्यान् व्रतधर्मानुपदिशेत्। तत्रादित आदौ मलमूत्रत्यागानन्तरमेवं मृद्वारिभ्यां छिद्रशोधनं हस्तपात्रप्रक्षालनं दन्तधावनं स्नानादिकं च कार्यमित्यादिप्रकारेण शौचं शिक्षयेच्छौचानन्तरं ह्यन्यत्कर्त्तुं शक्यते। आचारमाचार्यादिभिः सार्द्धं भाषणोत्थानादिव्यवहारम्। अग्निकार्यं समिद्धोमानुष्ठानं तत्रत्यं मन्त्रविनियोगं च, सन्ध्योपासनं च "पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्" इत्यादिप्रकारेण शिक्षयेत् स्वयं कृत्वा तत्तत्कर्म दर्शयेदेवं कार्यमिति ॥

भा०-वेदादिशास्त्राध्ययनापेक्षयाऽपि तदुक्तकर्मानुष्ठानस्य प्राधान्यम्। शुभाशुभकर्मभिरेवोत्कर्षापकर्षसम्भवात्। इति मत्वा शौचादीनां शिक्षणमेवादौ विहितम्। अध्ययनस्यापि शुभकर्मानुष्ठानार्थत्वात्। कर्मविधानं च यथास्थानं द्रष्टव्यं ततस्ततो यथाविधि शिक्षणीयम्। यथा पञ्चमाध्यायतः शौचम्। शौचाचारमहायज्ञानुष्ठाने च गुरुणा प्रवीणः शिष्यः कार्यइत्याशयः॥ ६९॥

भाषार्थः-(गुरुः शिष्यमुपनीय) गुरु पुरुष शिष्य का उपनयनसंस्कार कराके ब्रह्मचर्याश्रम के कर्त्तव्य धर्म नियमों का उपदेश करे (आदितः शौचं शिक्षयेत्)

उस में पहिले मल मूत्र त्याग के पश्चात् इस २ प्रकार मट्टी जल से छिद्रों [लिङ्ग गुदा] का शोधन, हाथ वा पात्र का मांजना धोना बांये हाथ को मांज धो लेने से पहिले पात्र वा शरीर को उस से न छूना, दातौन और स्नानादि करना चाहिये इत्यादि रीति से शुद्धि करने की शिक्षा करे क्योंकि शौचानन्तर ही संध्योपासनादि कर सकता है (आचारम्) आचार्य गुरु पिता मातादि को उत्थान वा उन के साथ बोलनादि व्यवहार ऐसा २ करो (अग्निकार्यम्, च) तथा इस २ प्रकार समिदाधानादि नित्य होम करना और इस प्रकार अमुक २ कार्य में अमुक २ मन्त्रों का विनियोग करना चाहिये (च) और (सन्ध्योपासनम्, एव) प्रातःकाल की सन्ध्या में खड़े होकर जप करे इत्यादि प्रकार से सन्ध्योपासन की भी शिक्षा करे अर्थात् उन २ कामों को स्वयं कर २ के दिखा दे वा सम्मुख बैठा के करावे तब ठीक शिक्षा हो सकती है ॥

भा०—वेदादि शास्त्र पढ़ने की अपेक्षा वेदादि में कहे कर्मों का सेवन प्रधान है क्योंकि शुभकर्मों से मनुष्य की उन्नति और अशुभ कर्मों से अवनति होती है ऐसा मान कर शौचादि की शिक्षा पहिले करने को कहा गया, और जब वेदादि का पढ़ना भी शुभकर्मों के सेवनार्थ ही है तो अध्ययन के साथ २ सदा ही अच्छे आचरण करने की शिक्षा शिष्य को देनी चाहिये वेदादि के पढ जाने से जैसा फल है उस से भी अधिक ठीक शिक्षित हो जाने में लाभ है। कर्मों का विधान उन २ भिन्न २ प्रकरणों में देखना चाहिये अर्थात् वहां २ लिखे अनुसार शिक्षा करनी चाहिये। जैसे पञ्चमाध्याय में कहे अनुसार उपयोगी शौच की शिक्षा करनी चाहिये। अर्थात् शौच आचार और ब्रह्मयज्ञादि महायज्ञों के अनुष्ठान में गुरु शिष्य को चतुर बना देवे ॥ ६९ ॥

अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तोयथाशास्त्रमुदङ्मुखः
ब्रह्माञ्जलिकृतोऽध्याप्योलघुवासाजितेन्द्रियः७०

अ०—अथ वेदाध्ययननियमानाह पद्यत्रयेण—अध्येष्यमाणोऽध्ययनमारभमाणो लघुवासा गुर्वपेक्षया लघूनि विनीतवेषाण्यल्पमूल्यानि प्रक्षालनेन शुद्धानि वासांसि यस्य जितेन्द्रिय एकाग्रचेता ब्रह्माञ्जलिः कृतो येन, यथाशास्त्रं शास्त्राज्ञानुकूलमाचान्तःकृताचमनउदङ्मुखः शिष्यो प्राङ्मुखेन गुरुणा वेदमध्याप्यः॥

भा०—एतदपि गुरुरेव शिक्षयेत्—यत्त्वयैवं प्रकारेण स्थित्वा वेदाध्ययनं कार्यम्। लघुवाससत्वं ब्रह्माञ्जलिकरणं च गुरोः प्र-

तिष्ठायै वेदाध्ययनभक्तये च। जितेन्द्रियता चाध्ययनसाफल्याय नच व्यग्रमनाः श्रुत्वा धारयितुं शक्नोति। आचमनं बाह्याभ्यन्तरशुद्धये परमेश्वरप्रार्थनाय च ॥७०॥

भाषार्थः—अब तीन श्लोकों से वेद पढने के नियम कहते हैं—(अध्येष्यमाणः) पढने का आरम्भ करने वाले (लघुवासाः) गुरु की अपेक्षा साधारण नम्र वेष वाले कममूल्य के, धोकर शुद्ध किये वस्त्रों को धारण किये (जितेन्द्रियः) एकाग्र चित्त (यथाशास्त्रम्) शास्त्र की आज्ञा के अनुकूल (आचान्तः) आचमन जिस ने किया हो ऐसे (उदङ्मुखः, ब्रह्माञ्जलिकृतः) उत्तर को मुख कर दोनो हाथ जोड़कर सामने बैठे शिष्य को पूर्वाभिमुख वा दक्षिणाभिमुख बैठ कर गुरु वेद पढावे ॥

भा०—इस २ प्रकार बैठ कर तुम को वेद पढना चाहिये यह भी गुरु ही सिखावे। लघुवासा होना वा हाथ जोड़ कर बैठना यह गुरु की प्रतिष्ठा करने और वेदाध्ययन में श्रद्धा भक्ति प्रकट होने के लिये है। जितेन्द्रिय होना पढ़ने की सफलता के लिये है चञ्चल मन रहे तो पढ़े हुए को ठीक मन में नहीं बैठा सकता। और आचमन करना बाह्य वा आभ्यन्तर शुद्धि के लिये और परमेश्वर की प्रार्थना के अर्थ है ॥ ७० ॥

ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा।
संहत्य हस्तावध्येयं सहि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः७१

अ०—ब्रह्मणो वेदस्याध्ययनारम्भेऽवसाने च सदा प्रतिदिनं गुरोः पादौ ग्राह्यौ स्प्रष्टव्यौ। हस्तौ संहत्य हस्तद्वयं संयोज्य सदैवाध्येतव्यं हस्तयोः संयोजनमेव पूर्वपद्योक्तं ब्रह्माञ्जलिकरणम् ॥

भा०—अत्र पद्यार्द्धेनैको विधिरपरार्द्धेन चोक्तानुवादः। गुरोः प्रसादायैतच्छिष्येणावश्यं कार्यं सन्तुष्टश्चाध्यापकः सद्यः सम्यक् चाध्यापयेदिति सम्भवति। एवङ्कृते सर्वज्ञेश्वरात्सम्भूतवेदस्याध्ययने प्रत्यहं श्रद्धा लब्धास्पदा भवति। श्रद्धया च क्रियमाणं सर्वं कर्म सुफलमिति बोध्यम् ॥७१॥

भाषार्थः—(ब्रह्मारम्भे, अवसाने, च) वेद पढ़ने के आरम्भ और समाप्ति में (सदा) प्रतिदिन (गुरोः पादौ ग्राह्यौ) गुरु के पग छूने चाहिये (संहत्य, हस्तावध्येयम्) दोनों हाथ जोड़ कर पढना चाहिये (स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः) इसी का नाम पूर्वश्लोक में कहा ब्रह्माञ्जलि करना जानो ॥

भा०—यहां आधा श्लोक विधिवाक्य और उत्तरार्द्ध पूर्व कहे ब्रह्माञ्जलिकरण का अनुवादरूप व्याख्यान है। गुरु की प्रसन्नता के लिये शिष्य को ऐसा अवश्य करना चाहिये। क्योंकि सन्तुष्ट प्रसन्न हुए अध्यापक का प्रीति पूर्वक सम्यक् ठीक २ पढ़ाना सम्भव ही है। ऐसा करने से सर्वज्ञ परमेश्वर से उत्पन्न वेद के पढ़ने में प्रतिदिन श्रद्धा दृढ़ होती जाती है और श्रद्धा से किया सभी काम सुफल होता है इसलिये शिष्य को ऐसा ही करना अति उचित है ॥ ७१ ॥

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसङ्ग्रहणं गुरोः ।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः ७२

अ०—शिष्येण व्यत्यस्तपाणिना व्यत्यस्तौ विपरिणतौ पाणी यस्य तादृशेन गुरोरुपसङ्ग्रहणं पादस्पर्शनं कार्यमेवं सत्येव सव्येन हस्तेन सव्यः पादो दक्षिणेन च दक्षिणः स्प्रष्टव्यो भवति ॥

भा०—आदरणीयानि सर्वाण्येव कार्याणि दक्षिणहस्तेनैव कर्त्तुमादिष्टानि। आदरेण क्रियमाणकर्मसु श्रद्धा प्रतीयते। इदमपि गुरोः प्रसादाय शुश्रूषणमेवास्ति ॥७२॥

भाषार्थः—(व्यत्यस्तपाणिना, गुरोरुपसंग्रहणं कार्यम्) शिष्य को चाहिये कि कैंची के समान पहुंचा पर पहुंचा धर दहिने हाथ को बांई ओर और बांये हाथ को दहिनी ओर करके गुरु के पगों का स्पर्श करे ऐसा होने पर ही (सव्येन, सव्यः, स्प्रष्टव्यो, दक्षिणेन, च, दक्षिणः) बांये हाथ से गुरु का बांया और दहिने हाथ से गुरु का दहिना पग छूआ जा सकता है अर्थात् अपने बायें हाथ से गुरु का दहिना पग कदापि नहीं छूना चाहिये इस से गुरु का निरादर है ॥

भा०—आदर के साथ करने योग्य सभी कार्य दहिने हाथ से करने की आज्ञा इसी ग्रन्थ के चौथे अध्याय में है। क्योंकि आदर से किये जाने वाले कर्मों में कर्त्ता की श्रद्धा प्रतीत होती है। यह भी गुरु की प्रसन्नता के लिये उन की शुश्रूषा ही समझनी चाहिये ॥ ७२ ॥

अध्येष्यमाणं तु गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः ।
अधीष्व भोइति ब्रूयाद्विरामोऽस्त्विति चारमेत्

अ०—नित्यकालं प्रतिदिनमनध्यायवर्जितमतन्द्रित आलस्यादिशैथिल्यं विहाय गुरुरध्येष्यमाणं शिष्यमध्ययनावसरे भोः !

अधीष्व इति ब्रूयाद्वेदाध्ययनायाह्वयेत् । नियमिताध्ययनावसाने च विरामोऽस्त्वित्युच्चार्यारमेदध्ययनं समापयेत् ॥

भा०-शिष्योऽध्ययनकालं प्रमादेन विस्मरेत्कियदध्येतव्यमित्यपि न जानीयादिति सम्भवति । तदर्थं सर्वं जानानो गुरुरध्ययनावसरे सोत्साहं शिष्यं प्रेरयेत्—धारणाशक्तिमालोच्य चाध्ययनं समापयेत् ॥७३॥

भाषार्थः-(तु) और (नित्यकालमतन्द्रितो गुरुः) अनध्याय को छोड़ स्वाध्याय के समय प्रतिदिन आलस्यादि शिथिलता को छोड़ कर गुरु (अधीष्यमाणम्) पढ़ने का आरम्भ करने वाले शिष्य को (अधीष्व, भोः ! इति ब्रूयात्) भो शिष्य आकर पढ़ो ऐसा कहे । और नियत पाठ हो जाने पर (विरामः, अस्तु) पढना समाप्त हो ऐसा कह कर (आरभेत) पढना समाप्त कर देवे ॥

भा०-शिष्य पढने के समय को प्रमादादि से भूल जावे और कितना पढना चाहिये यह भी प्रायः न जान सके यह सम्भव है। इस लिये सब जानने वाला गुरु पढने के समय उत्साह पूर्वक शिष्य को पढने के लिये आज्ञा देवे । और धारणाशक्ति को विचारपूर्वक जान कर उस के पढने को भी स्वयमेव समाप्त करे अर्थात् पढ़ने के आरम्भ और समाप्ति शिष्य के आधीन नहीं रखने चाहिये ॥७३॥

ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा ।
स्रवत्यनोङ्कृतं पूर्वं परस्ताच्च विशीर्यते ॥७४॥

अ०-सर्वदा सर्वाश्रमेषु ब्रह्मणो वेदस्याध्ययनं कुर्वन् पुरुषोऽध्ययनस्यादावन्ते च प्रणवमोमित्यस्योच्चारणं सावधानेन चेतसा तदर्थं परमात्मानं ध्यायन् कुर्यात् । अत्रेऽर्थवादः-यद्यादौ प्रणवं न करोति तदा तदनोङ्कृतमोङ्कारवर्जितमध्ययनं स्रवति चेतसोनैकाग्र्यान्नैव धार्यते परस्ताच्च समाप्तावोङ्कारवर्जितं विशीर्यते विस्मृतं भवत्यसमाहितचेतस्त्वात् ॥

भा०-वक्ष्यमाणपद्धत्युक्तरीत्याऽऽसनस्थः पूतः समाहितचेतसोमित्युच्चारयंस्तदर्थं च ध्यायन् वेदाध्ययनमारभेत । एवं विधिना कृतमेवाध्ययनं शरीरात्ममनसां संस्कारकं शुभपरिणामजनकं च

जायते। यदाऽनवधानमनसा किमपि श्रुतं सम्यक् हृत्स्थं न भवति तदा बहुगूढाशयं वेदाध्ययनं कथमसमाहितो धारयेत् ?। अन्तःकरणे वेदाशयस्य सम्यगनवस्थितिरेव पूर्वं परं च स्रवणं विशरणं वा बोध्यम्। तस्माद्यथाविध्येव वेदाध्ययनमिष्टकल्याणसाधकमिति बोध्यम् ॥ ७४ ॥

भाषार्थः—(सर्वदा) वेदाध्ययन करने वाला ब्राह्मणादि द्विज (ब्रह्मणः) वेद पढ़ने के (आदावन्ते, च) आदि अन्त में (प्रणवम्) ओ३म् शब्द का उच्चारण सावधान चित्त से उस के वाच्यार्थ परमेश्वर का ध्यान करता हुआ (कुर्यात्) करे। आगे अर्थवाद है (पूर्वम्, अनोङ्कृतम्, स्रवति) यदि पहिले आरम्भ में ओ३म् का उच्चारण न किया जाय तो पढ़ा हुआ वेद विषय चित्त के स्थिर न रहने से चित्त में ठीक धारण नहीं होता मन में नहीं बैठता (परस्ताच्च, विशीर्यते) और पाठ के अन्त में ओ३म् न कहा जाय तो असमाहितचित्त रहने से पढ़ा हुआ वेद विस्मरण हो जाता अर्थात् विधि पूर्वक परमेश्वर के नाम का उच्चारण ध्यान और स्मरण करने से जैसा धारण वा स्मरण रहता है वैसा विना किये कदापि नहीं हो सकता इस से वैसा अवश्य करे ॥

भा०—आगे कहे श्लोक की रीति से पवित्र हो आसन पर बैठ कर सावधान चित्त से ओ३म् शब्द का उच्चारण और उस के वाच्यार्थ परमात्मा का ध्यान करता हुआ वेद पढ़ने का आरम्भ करे। इस विधि से किया वेदाध्ययन ही शरीर आत्मा और मन की शुद्धि करने वाला और शुभपरिणामजनक होता है। जब कि चलायमान मन से कुछ भी सुना हुआ विषय ठीक हृदय में नहीं बैठता तब बहुत गूढ आशय वाले वेद के पढ़ने को असावधान पुरुष कैसे धारण कर सकता है ? अर्थात् कदापि नहीं। अन्तःकरण में वेद के आशय का ठीक न बैठना ही पूर्व वा पीछे स्रवण वा विशरण जानो। इसलिये यथाविधि वेद का पढ़ना ही इष्ट कल्याण का हेतु है ॥ ७४ ॥

प्राक्कूलान्पर्युपासीनः पवित्रैश्चैव पावितः।
प्राणायामैस्त्रिभिः पूतस्तत ओङ्कारमर्हति ॥७५॥

अ०—प्राक्कूलान्दर्भासनानि पर्युपासीनो दर्भासनेऽधिष्ठितः पवित्रैः स्नानशौचादिकर्मभिर्मार्जनमन्त्रैश्च पावितस्त्रिभिश्च प्राणा-

यामैः पूतः स्वस्थेन्द्रियचेता यदा भवति ततस्तदनन्तरमोङ्कार-मोमिति वेदाध्ययनारम्भे उच्चारणं कर्तुमर्हति ॥

भा०–गोतमादिस्मृतिषु दर्शनात्प्राक्कूलपदेनात्र दर्भा गृह्यन्ते। एष विधिः प्रथमाध्ययनपर इति केचित्। अन्ये तु सर्वदेत्यनुवर्त्तनान्नैत्यिकोऽयं विधिः सर्वाश्रमिणां वेदाध्ययनकालीनः। उत्तरश्च पक्षो ज्यायान् प्रतीयते। प्राणायामाश्चात्रामन्त्रकाएव ग्राह्या यतः समन्त्रकेषु तु बहुवारमोमित्युच्चार्यतएव। वेदाध्ययनारम्भकाले प्रणवस्योच्चारणं विधिविहितमेव कार्यम्। अन्यदा तु कामचारः। ओमिति परमात्मनः सर्वोत्कृष्टं नामास्ति नित्यश्च वाच्यवाचक-सम्बन्धोऽपरिमितश्च तस्य ब्रह्मणो महिमेति ॥ ७५ ॥

भाषार्थः–(प्राक्कूलान्) नये दाभों के शुद्ध आसन पर (पर्युपासीनः) बैठा (पवित्रैश्चैव पावितः) स्नान शौचादि कर्मों वा मार्जन मन्त्रों से पवित्र हुआ (च) और (त्रिभिः प्राणायामैः पूतः) कम से कम तीन प्राणायाम कर के शुद्ध स्वस्थ शान्त इन्द्रियों वाला जब होता है (ततओम्–कारमर्हति) तब वेदाध्ययन के आरम्भ में ओम् शब्द का उच्चारण करने योग्य होता है ॥

भा०—गोतमादि स्मृतियों में दीक्ष पड़ने से प्राक्कूल पद से यहां कुश–दर्भ लिये गये हैं। इस विधि से ओम् शब्द का उच्चारण करके वेद पढ़ने का आरम्भ करे इस को कोई लोग ब्रह्मचारी के प्रथमाध्ययनपरक मानते हैं तथा अन्य लोग पूर्व श्लोक से सर्वदा पद की अनुवृत्ति मान कर सब आश्रम वालों को सब काल में जब नित्य वेदाध्ययन करें तब इसी विधि से करें ऐसा मानते हैं इस में पिछला पक्ष इस लिये अच्छा जान पड़ता है कि परमेश्वर में नित्य भक्ति श्रद्धा बढ़ती जावे तो वेद का भी बोध ठीक हो सकता है। और प्राणायाम जो कहे हैं वे विना ही मन्त्र पढे करने चाहियें क्योंकि समन्त्रक प्राणायामों में बहुत वार ओ३म् का उच्चारण होता ही है। जब पहिले ही ओम् का उच्चारण प्राणायाम में कर चुके तब यह नहीं कह सकते कि तीन प्राणायामों से पवित्र हो के ओम् का उच्चारण करने योग्य होता है। वेदाध्ययन का आरम्भ करे तब ओ३म् का उच्चारण उक्त नियमानुसार ही करना चाहिये। अन्य समय कामचार है। ओ३म् यह परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है और उस के साथ वाच्यवाचक सम्बन्ध भी नित्य है तथा उस ब्रह्म की महिमा अपरिमित है इस लिये ऐसे ब्रह्म का नाम बड़ी प्रतिष्ठा के साथ कहे ॥ ७५ ॥

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः ।
वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवःस्वरितीति च ॥७६॥

अ०—प्रजापतिः परमेश्वरो वेदत्रयाद्ऋग्यजुःसामभ्यो यथासंख्यमकारमुकारं मकारं चेति निरदुहत्तथा भूर्भुवर्स्वरइति च निरदुहत् निस्सारितवान् ॥

भा—अतआरभ्यसप्ताशीतितमश्लोकावधि सप्रणवव्याहृत्याः सावित्र्या जपविधेरर्थवादः। जपविधिस्तु चतुरुत्तरशततमपद्येद्रष्टव्यः। निरतिशयाग्नित्ववाचकमग्निपदमीश्वरवाचकं सातिशयं च तत्त्वादिपरम् । अग्निविद्याप्रधानश्चर्ग्वेदः। यन्मूलमादाय यत्र व्याख्यानमारभ्यते तदेव मूलं तस्य व्याख्याननिबन्धस्य सारभूतं भवति। एवमग्निपदमृग्वेदे सारभूतमवसेयं तस्यैवादिममक्षरमकारः। अग्निशब्दवाच्यस्य तत्त्वस्य च प्रधाना स्थितिर्भूमौ तस्मादेव पृथिवीस्थानदेवताग्निरेव, ब्राह्मणादिषु चोक्तम्—भूरित्यग्निः। एवं प्रथमा व्याहृतिरकारश्चर्ग्वेदसारभूतः। वायुरन्तरिक्षस्थानो देवता तस्य वरुणस्य वाऽऽद्याक्षरमुकारः, वायुवरुणपदे अपि निरतिशयार्थे परमात्मपरे वायुविद्याप्रधानो यजुर्वेदः। भुवरित्यन्तरिक्षमुकारश्च हयमेतद्यजुषो निस्सृतम्। तथैव मित्रपदस्य सामवेदार्थस्याद्यमक्षरं स्वरिति तृतीयाव्याहृतिश्च साम्नः सारः सूर्यो द्युस्थानदेवता सएव मित्रपदस्यार्थस्तद्विद्याप्रधानश्च सामवेदः ॥ ७६ ॥

भाषार्थः—(प्रजापतिः) प्रजारक्षक परमेश्वर ने (वेदत्रयात्) त्रयीविद्यारूप ऋग्यजुःसाम नामक तीन वेदों से यथासंख्य (अकारं चाप्युकारं च मकारं च) अ, उ, म्, (इति) इस रूप वाले तीनों वर्णों (च) और (भूर्भुवःस्वरिति) भूर्, भुवर्, स्वर्, इस प्रकार की तीन व्याहृतियों को (निरदुहत्) निकाला अर्थात् ऋग्वेद से अ, भूर्, यजुर्वेद से उ, भुवर् और सामवेद से म्, स्वर् निकाले हैं ॥

भा०—यहां से लेकर सत्ताशीवें श्लोक तक प्रणव और व्याहृति सहित (तत्सवितुः) मन्त्र के जप का अर्थवाद कहा गया है। और जप का विधिवाक्य १०४ श्लोक

में देखना चाहिये उसी का यह प्रशंसारूप अर्थवाद है। निरतिशय असीम अग्निपन के अर्थ वाला अग्नि शब्द परमेश्वर का नाम है और ससीम अर्थ वाले अग्नि तत्त्वादि हैं। सब प्रकार के अग्नि की विद्या ऋग्वेद में प्रधान है। जिस मूल को लेकर जहां व्याख्यान का आरम्भ किया जाता है वही मूल उस व्याख्यान-रूप ग्रन्थ का सार भूत माना जाता है। इस प्रकार अग्नि तथा अग्नि देवता कोटि के पद ऋग्वेद का साररूप जानो उसी अग्नि शब्द का आदि अक्षर अकार है और अग्नि पदवाच्यतत्त्व की मुख्य कर पृथिवी में स्थिति है इसी कारण अग्नि पृथिवीस्थान देवता दैवतकाण्डनिरुक्त के लेखानुसार ठहरता है। ब्राह्मण वा उपनिषदों में भी "भूमि अग्नि है" भूमि पर ही अग्नि रहता है इत्यादि प्रकार अग्नि के साथ पृथिवी का प्रधान सम्बन्ध है। इस प्रकार पहिली व्याहृति और अकार वर्ण ऋग्वेद का सार है। वायु अन्तरिक्षस्थानी देवता है उस वायु वा वरुण का प्रथमाक्षर वकारस्थानी उकार है [व्याकरण में भी व, के स्थान में उ और उ के स्थान व्, यणादेश होता है] वायु वा वरुण पद भी निरतिशय अर्थ वाले परमात्मवाचक लिये जाते हैं। और वायु कोटि के अन्तरिक्षस्थान देवताओं की विद्या यजुर्वेद में प्रधान है। इस कारण भुवर्, उ, ये दोनों यजुर्वेद के सार भूत हैं। तथा मित्र द्युस्थानी देवता सामवेद का मुख्य विषय है उस का प्रथम अक्षर म् और स्वर् यह तीसरी व्याहृति सामवेद का सार है। द्युस्थान देवता सूर्य है और सूर्य का ही नामान्तर मित्र भी जानो और द्युस्थान देवताओं की विद्या का प्रधान स्थान सामवेद है वा यों मानो कि जहां २ पृथिवीस्थान देवताओं की विद्या प्रधान है वह ऋग्वेद जहां भुवर् नाम अन्तरिक्षस्थान वायुकोटि के देवताओं की विद्या की प्रधानता है वह यजुर्वेद और जहां सूर्य कोटि वाले द्युस्थान देवताओं की विद्याओं की प्रधानता है वह सामवेद माना जाता वा मानना चाहिये ॥ ७६ ॥

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादंपादमदूदुहत् ।
तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः

अ०-परमे सर्वोत्कृष्टे स्वस्वरूपे तिष्ठतीति परमेष्ठी प्रजातस्य चराचरस्य पालकः परमात्मा तदिति-तत्सवितुर्वरेण्यमित्यस्याः सवितृदेवताकाया ऋचः पादंपादमेकैकं पादं यथासंख्यं त्रिभ्यएव वेदेभ्यस्त्रयीविद्यातएवादूदुहत् ॥

भा०-ऋच्स्तुताविति स्तुतिविषयऋग्वेदः। संगतिकरणार्थाद्यजधातोर्यजुः, संगतिकरणमुपासनं चेत्येकोऽर्थः। सामसान्त्व-

नेड्यस्मात्साम, सान्त्वनं शान्तिकरणं प्रार्थनं च सामविषयः । तत्सवितुर्वरेण्यमित्याद्यः पादः स्तुतिरूपर्ग्वेदविषयप्रधानः । भर्गो-देवस्य धीमहीति द्वितीयः पाद उपासनारूपयजुर्वेदविषयप्रधानः । धियो यो नः प्रचोदयादिति तृतीयः पादः प्रार्थनारूपसामवेदवि-षयप्रधानः । वरेण्यरूपा स्तुतिः सर्वस्तुतिप्रधाना । भर्गोरूपस्य तेजस उपासनं सर्वोपासनासु मुख्यम् । धीरूपस्य सर्वेष्टसाधनस्य प्रार्थ-नमपि सर्वप्रार्थनेषु प्रधानम् । एवं वेदत्रयस्य मुख्याः सारभूता विषया निस्सार्य्य सावित्र्याः पादत्रये क्रमेण प्रतिपादितास्तस्मा-दस्य सर्वमन्त्रेषु प्राधान्यम् ॥ ७७ ॥

भाषार्थः—(परमेष्ठी, प्रजापतिः) सर्वोत्तम अपने स्वरूप में ठहरने वाले उत्पन्न हुए जगत् के रक्षक परमात्मा ने (तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः) सविता देवतावाली (तत्सवितु०) इस ऋचा का (पादंपादम्) एक २ पाद यथासंख्य (त्रिभ्यएव तु वेदेभ्यः) त्रयीविद्यारूप तीनों वेद से (अदूदुहत्) निकाला अर्थात् तीनों वेद का मुख्य २ विषय सावित्री के एक २ पाद में रक्खा ॥

भा०—ऋच स्तुतौ, इस धातु से स्तुति विषय वाला ऋग्, संगति करण अर्थ वाले यज धातु से यजु बनता और संगति करण वा उपासना का एक ही अभिप्राय है, तथा शान्ति अर्थ वाले साम धातु से साम बनता है। शान्ति वा प्रार्थना करना सामवेद का विषय है। (तत्सवितुर्वरेण्यम्) इस पहिले पाद में स्तुतिरूप ऋग्वेद का मुख्य विषय है (भर्गो देवस्य धीमहि) इस द्वितीय पाद में भर्गरूप तेज के धारण वा ध्यानरूप सङ्गतिकरण नामक उपासना विषय मुख्य कर यजुर्वेद का है और (धियो यो नः प्रचोदयात्) इस तृतीय पाद में धीनामक बुद्धि की प्रार्थना सामवेद का प्रधान विषय है । वरेण्यरूप स्तुति सब स्तुतियों में मुख्य, भर्गरूप तेज की उपासना सब उपासनाओं में अत्युत्तम और सम्पूर्ण इष्ट के सा-धन धीनामक बुद्धि की प्रार्थना भी सब प्रार्थनाओं में प्रधान है । इस प्रकार तीनो वेद के विषयों में मुख्य साररूप विषय निकाल कर इस सावित्री मन्त्र के तीन पादों में क्रम से प्रतिपादन किये गये हैं । इसी कारण यह मन्त्र सब मन्त्रों की अपेक्षा उत्तम माना गया है ॥ ७७ ॥

एतदक्षरमेतां च जपन्व्याहृतिपूर्विकाम् ।
सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥७८॥

अ०—एतदक्षरमोङ्कारं व्याहृतिपूर्विकां व्याहृतयः पूर्वं यस्यास्तामेतां तत्सवितुर्वरेण्यमित्यृचं च सन्ध्ययोः सायं प्रातः सन्धिकालयोर्वेदविद्वेदाशयं जानानो विप्रो ब्राह्मणो यथाविध्येकान्ते शुद्धदेशे समाहितचेतसा नियमेन बहुकालं जपन् वेदपुण्येन समग्रवेदानां बहुकालीनेनाध्ययनेन यत्पुण्यं सम्भाव्यते तेन युज्यते वेदाध्ययनपुण्यं प्राप्नोतीति सर्ववेदानां मूलग्रहणात् ॥

भा०—सावित्रीजपविधौ विधिशेषोऽयम्। ओङ्कारव्याहृतिपूर्विकायाः सावित्र्या जपः कार्यइत्यर्थः। यद्यपि समग्रवेदाध्ययनेन यादृशं ज्ञानं सम्भवति नच तादृशमेकमन्त्रस्य जपेन सम्भवति तथापि, वेदत्रयस्य प्रधानं विषयत्रयं मुहुर्मुहुरभ्यस्यन् चेतसो मालिन्यापकर्षेण सत्त्वोत्कर्षमात्मन्यादधानो धर्मसानुरूढस्तदेवेष्टसुखफलमवाप्नोति यद्वेदाध्ययनजन्यज्ञानप्रकाशेन पुरुषः प्राप्तुमर्हति। तस्मादिष्टमभीप्सुरनिष्टं च जिहासुरनिशं यथाविधि सप्रणवव्याहृतिकां सावित्रीं जपेदित्यायातम् ॥ ७८ ॥

भाषार्थः—(वेदवित् , विप्रः) वेद के मुख्य सिद्धान्त वा आशय को जानने वाला ब्राह्मण (एतदक्षरम्, व्याहृतिपूर्विकामेतां च) इस ओम्-अक्षर और व्याहृति जिस के पूर्व में जुड़ी हों ऐसी (तत्सवितु०) इस ऋचा को (सन्ध्ययोः,जपन्) प्रातः सायं दोनों सन्ध्या कालों में एकान्त शुद्ध स्थान में विधिपूर्वक नियम के साथ बहुत काल तक जपता हुआ (वेदपुण्येन) सम्पूर्ण वेद के बहुत काल तक पढ़ने से जो पुण्य होना सम्भव है (युज्यते) उस से युक्त होता अर्थात् सब वेदों के मूल का ग्रहण करने से वेदाध्ययन से होने वाले पुण्य को प्राप्त होता है ॥

भा०—सावित्री के जपविधान में यह विधि शेष है अर्थात् प्रणव और व्याहृतियों के सहित गायत्री का जप करना चाहिये। यद्यपि सम्पूर्ण वेद के पढ़ने से जैसा ज्ञान हो सकता है वैसा एक मन्त्र के जप से होना सम्भव नहीं तथापि तीनों वेद के प्रधान तीन विषयों का सावित्री व्याहृति और प्रणव द्वारा बार २ अभ्यास करता हुआ चित्त की मलिनतारूप कलङ्क के धीरे २ छूटते जाने से सत्त्वगुण की वृद्धि को धारण करता हुआ धर्मरूप पर्वत के शिखर पर चढ़ा जापक पुरुष उसी इष्टसुख को प्राप्त हो जाता है जो वेद के पढ़ने से हुए ज्ञान प्रकाश से मनुष्य को प्राप्त हो सकता है। इस कारण इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट का त्याग चाहता हुआ प्रतिदिन यथाविधि प्रणव और व्याहृति सहित सावित्री का जप करे यह आशय निकला ॥७८॥

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः ॥
महतोऽप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते ७९

अ०—द्विजो ब्राह्मणो ब्रह्मत्वमभीप्सुर्वर्णत्रयं वा ग्रामनगरादि जनसमुदायाद्बहिर्निरुपद्रवे शुद्धजलवायुके देशे प्रतिदिनमेकाग्रमना मिताहारी नियतात्मा जितेन्द्रियः सन् सहस्रकृत्वः सहस्रवारमेतत्त्रिकमभ्यस्य मासमात्रकालान्महतोऽप्येनसोऽहिस्त्वचेव विमुच्यते ॥

भा०—यथा बहुकालीनबृहन्मलसंसृष्टमपि वसनं तत्परेणानन्यचेतसा त्यक्तसर्वव्यापारेण रजकेन सर्वविधोपायैः कियदपि यथोचितकालं धौयमानं निर्मलं शुद्धं भवितुमर्हति तथैव सर्वविधोपायैरात्मान्तःकरणसंशोधनपरो जनो बहुकालीनं कुसंस्काररूपेण संचितं बृहदपि पापं मासाच्छोधयितुं शक्नोति । एतत्संबद्धं जितेन्द्रियत्वादिकं च सर्वमत्र समुच्चेयम्। योगस्य साधनपादे व्यासेनोक्तम् "तीव्रसंवेगेन मन्त्रतपःसमाधिभिर्निर्वर्तित ईश्वरदेवतामहर्षिमहानुभावानामाराधनाद्वा यः परिनिष्पन्नः स सद्यः परिपच्यते पुण्यकर्माशय इति" तस्माद्धर्मतत्त्वज्ञैरेवानुसन्धेयः सत्योऽयमर्थवादो नात्र सन्देहलेशोऽपि युक्तः ॥ ७९ ॥

भाषार्थः—(द्विजः) ब्राह्मण वा ब्रह्मत्व की कामना वाले तीनों वर्ण (बहिः) ग्राम नगरादि मनुष्यों के समुदाय से अलग शुद्ध जल वायु वाले निरुपद्रव एकान्त देश में एकाग्रचित्त मितभोजी आत्मा मन और इन्द्रियों को वशीभूत कर के प्रतिदिन (सहस्रकृत्वः) एक सहस्र वार (एतत्त्रिकम्) त्रयीविद्या सम्बन्धी मुख्य कर तीन २ भागों में विभक्त प्रणव, व्याहृति और त्रिपाद सावित्री का (अभ्यस्य) अभ्यास कर के (मासात्) एक महिने में (महतोऽप्येनसोऽहिस्त्वचेव विमुच्यते) जैसे सांप केंचुली से छूट कर शुद्ध निर्मल हो जाता वैसे बड़े २ मलिन संस्काररूप पापों से भी छूट जाता है ॥

भा०—जैसे बहुत काल से संचित अधिकतर मैल से युक्त भी वस्त्र को सब काम छोड़ कर उसी में चित्त लगाने वाला तत्पर धोबी सब प्रकार के उपायों से

कुछ यथोचित काल तक धोने में परिश्रम किया करे तो शुद्ध निर्मल हो सकता है वैसे ही सब प्रकार के उपायों से आत्मा और अन्तःकरण के शोधन में तत्पर मनुष्य बहुत काल के संचित कुसंस्काररूप पर्वत तुल्य भी पाप को महिने भर में हठा कर शुद्ध हो सकता है। इस के साथ सम्बन्ध रखने वाले जितेन्द्रियत्वादि सब साधनों का यहां समुच्चय समझना चाहिये। योगशास्त्र के साधन पादस्थ व्यासभाष्य में लिखा है कि—"तीव्रसंवेग के साथ मन्त्र जप, तप और समाधि द्वारा सिद्ध अथवा ईश्वर देवता महर्षि वा महानुभावों के विशेष आराधन से जो शुभ कर्म संचित सिद्ध होता वह शीघ्र ही प्रारब्धरूप से परिपक्व हुआ भोगने में आता है। अर्थात् अच्छा वा बुरा जो कर्म जितनी लागडाट के साथ मन वचन कर्म से किया जाता है उस का वैसा ही शीघ्र फल प्रत्यक्ष देखने में आ जाता है" यह अर्थवाद सर्वथा सत्य है इस में लेशमात्र भी सन्देह नहीं इस का धर्मतत्त्व के जानने वाले ही लोग अनुसन्धान कर सकते हैं॥ ७९॥

एतयर्चा विसंयुक्तः काले च क्रियया स्वया।
ब्रह्मक्षत्रियविड्योनिर्गर्हणां याति साधुषु॥८०॥

अ०—ब्रह्मक्षत्रियविशो योनय उत्पत्तिस्थानानि यस्य स ब्रह्मत्वपरः पुरुषएतया ऋचा तत्सवितु० रूपया विसंयुक्तो वियुक्तो जपं विधानं महत्फलं तात्पर्यं चाजानन्नकुर्वंश्च काले चोपनयनादिसमये स्वया क्रियया संस्कारकर्मणा विसंयुक्तोऽकृतसंस्कारो व्रात्यः साधुषु शुभधर्मकर्मानुष्ठायिषु गर्हणां निन्दास्पदं याति जातिच्युतश्च क्रियते॥

भा०—ब्रह्मत्वमादित्यनामेव तत्सवितुरिति मन्त्रस्य जपप्राधान्यम्। अतएव यजुर्वेदस्य दशमाध्यायस्थदशमयजुरादिषु ब्राह्मणादीनां स्पष्टएव मन्त्रभेदः प्रदर्शितः। तदेव च मूलमादायब्राह्मणोपनिषत्सूत्राद्यार्षपुस्तकेषु सर्वत्रैव मन्त्रभेदः प्रतिपाद्यते। तथासति ब्राह्मणेन गायत्र्याः क्षत्रियेण "देव सवितः०" इति त्रिष्टुभो वैश्येन च "विश्वारूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः०" इत्यस्या जगत्या जपः कार्यः। तदत्रापि वेदानुकूलेन मनुवाक्येनापि भाव्यमिति स्वस्वकर्मस्थवर्णत्रयग्रहणे—एतया इत्युपलक्षणार्थम्—

एतदादिकया सावित्र्या ऋचा इति संयोज्यम् । तिसृणामपि सर्वासां सवितृदेवताकत्वात् ॥८०॥

भाषार्थः—(ब्रह्मक्षत्रियविड्योनिः) ब्राह्मण क्षत्रिय वा वैश्य तीनों में से किसी के यहां उत्पन्न हुआ ब्राह्मणपन चाहने वाला पुरुष (एतया, ऋचा, काले च क्रियया, विसंयुक्तः) इस (तत्सवितु०) ऋचा से वियुक्त अर्थात् सावित्री के विधि पूर्वक जप पाठ तात्पर्य और प्रयोजन को न जानता और न जपादि करता हुआ, और उपनयनादि संस्कारों के समयों में जिस के संस्कार कर्म नहीं हुए ऐसा संस्कारहीन व्रात्य पुरुष (साधुषु, गर्हणां, याति) श्रेष्ठ वैदिकधर्म कर्मों का ठीक सेवन करने वाले द्विजों में निन्दा को प्राप्त होता और जातिच्युत किया जाता है ॥

भा०—ब्राह्मणपन चाहने वाले ही मनुष्य (तत्सवितु०) इस मन्त्र का जप करें यह प्रधान पक्ष है। इसी कारण यजुर्वेदसंहिता के दशमाध्यायस्थ दशवें आदि यजु में ब्राह्मणादि के लिये स्पष्ट ही मन्त्रभेद दिखाया है। उसी वेद के मूलाशय को लेकर ब्राह्मण उपनिषद् और सूत्रादि आर्ष पुस्तकों में सर्वत्र ही मन्त्र भेद का प्रतिपादन किया है। इस दशा में ब्राह्मण को (तत्सवितु०) इस गायत्री का, क्षत्रिय को (देव सवितः०) इस त्रिष्टुप् का और वैश्य को (विश्वा रूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः०) इस जगती मन्त्र का जप करना चाहिये। सो यहां मनु जी का कथन भी सर्वथा वेदानुकूल होना चाहिये इस लिये यदि अपने २ कर्मों में स्थित तीनों वर्ण का यहां ग्रहण माना जाय तो (एतया) पद उपलक्षणार्थ होना चाहिये अर्थात् (तत्सवितु०) आदि सावित्री ऋचा से वियुक्त तीनों वर्ण निन्दित हैं ऐसा अर्थ ठीक है क्योंकि त्रिष्टुप् जगती मन्त्रों का भी देवता सविता ही है इस से (देव स०) (विश्वा रू०) दोनों ऋचा भी सावित्री मानी जा सकती हैं ॥ ८० ॥

ओङ्कारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ८१

अ०—ओङ्कारपूर्विकास्तिस्रोऽव्यया अविनाशिन्यो महाव्याहृतयस्त्रिपदा चैव सावित्री ब्रह्मणो वेदस्य मुखं प्रधानमुत्तमाङ्गं ब्रह्मणः परमात्मनः प्राप्तिद्वारं वा यद्वा ब्रह्मणो ब्राह्मणस्य मुखं मुख्यमेतत्कर्त्तव्यमन्येषां तु त्रिष्टुभादिजपः प्रधानः ॥

भा०—अस्मिन् पद्ये त्रिपदेति सावित्र्या विशेषणं चतुष्पदायास्त्रिष्टुब्रादिसावित्र्या व्यावृत्त्यर्थम्। अस्मादपि ज्ञापकात्पूर्वपद्ये

"एतयर्चा" पदाभ्यां त्रिविधापि सावित्री ग्राह्या। ब्रह्मज्ञानफलस्य वेदाध्ययनफलस्य वा चिरस्थायित्वाद् व्याहृतीनामव्ययत्वम्। वेद-शब्दानां नित्यत्वात्तु सर्वमन्त्रनित्यत्वआसामप्यागतमेव नित्यत्वम्। प्रणवव्याहृतिपूर्विकायाः सावित्र्या यथाविधि जपस्तत्त्वज्ञानस्य परमात्मनः प्राप्तेश्च प्रधानोपायोऽस्ति तस्मात्कर्त्तव्यः ॥ ८१ ॥

भाषार्थः-(ओङ्कारपूर्विकास्तिस्रः, अव्ययाः, महाव्याहृतयः) ओंकार जिन के पूर्व लगा हो ऐसी तीन अविनाशिनी नित्य महाव्याहृति (च) और (त्रिपदैव, सावित्री) तीन पादों वाली पूर्वोक्त सावित्री ऋचा ये (ब्रह्मणो मुखं विज्ञेयम्) वेद का उत्तमाङ्ग वा परमात्मा की प्राप्ति का द्वार अथवा ब्रह्म नाम ब्राह्मण का यह मुख्य कर्त्तव्य है क्योंकि क्षत्रियादि को त्रिष्टुभादि सावित्री ऋचाओं का जप करना प्रधान हैं ॥

भा०—इस श्लोक में सावित्री का त्रिपदा विशेषण चतुष्पाद् सावित्रियों की व्यावृत्ति के लिये है। अर्थात् पूर्व श्लोक में इस ज्ञापक से भी सब सावित्री ऋचाओं का ग्रहण हो सकता है। वेदाध्ययन और ब्रह्मज्ञान के फल के चिरस्थायी होने से व्याहृतियों का नित्यत्व है। वा नित्य कहने से उन के फल का चिरस्थायी होना जताया है। किन्तु शब्द के नित्य होने से नहीं। वैसे तो वेद के सभी शब्दों के नित्य होने से व्याहृतियों का नित्य होना स्वयं ही सिद्ध है। प्रणव तथा व्याहृतियों सहित सावित्री ऋचा का यथाविधि जप करना तत्त्वज्ञान वा परमेश्वर प्राप्ति का मुख्य उपाय है ॥ ८१ ॥

योऽधीतेऽहन्यहन्येतां त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्त्तिमान् ॥८२॥

अ०—योऽतन्द्रितस्त्यक्तसर्वारम्भोऽरण्याद्येकान्ते शुद्धप्रान्ते तपस्तप्यन् त्रीणि वर्षाणि तीव्रसंवेगेनाहन्यहन्येतां सावित्रीं सप्रणवां सव्याहृतिकामधीते जपति स मूलशरीरं विहाय वायुभूतो वायुवदव्याहतगतिः खमूर्त्तिमान् त्यक्तसर्वस्थूलसाधन आकाशवन्निर्लिप्तः परं सर्वस्मात्प्रकृष्टं ब्रह्माभ्येति प्राप्नोति। परमध्येतीति पाठान्तरे तु—अध्यति स्मरति जानाति ॥

भा०—निर्विकल्पा मुक्तिरपि सावित्र्या जपस्य फलं भवितुम-

र्हति। नास्ति किमप्यसाध्यं जापकस्य। यदि कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात्कस्यचिज्जपं कुर्वतोऽपि यथोद्दिष्टं फलं न स्यात्तदा शास्त्रे दोषारोपणं मूर्खत्वमेवास्ति। यथाग्निना पाकः सम्भवति। एतत्प्रमाणीकृत्य केवलमग्निमादाय चूर्णादिसाधनमन्तरेण कोऽपि पाकमारभेतासति च पाके आप्तवाक्यमेव मिथ्याकर्तुं यतेत। तत्र च नास्ति वाक्याशयो यदन्यसाधनमन्तरेणाग्निना पाकः सम्भवति। एवं सर्वत्रैव योज्यम्। यस्मिन्कर्मणि यावन्ति साधनान्यपेक्ष्यन्ते तेषु सर्वेषु प्रकृष्टेषु वा सत्सु कुशलेनाप्रमत्तेनानन्यचेतसा तत्कर्मणि निष्णातेन सम्यगनुष्ठीयमानं कर्म सफलं भवति नान्यथा ॥ ८२ ॥

भाषार्थः-(यः, अतन्द्रितः) जो निद्रालस्यादि वा अन्य संसारीकामों को छोड़ कर वन आदि एकान्त शुद्ध स्थान में तप करता हुआ (त्रीणि, वर्षाणि) तीन वर्ष तक हविष्य नित भोजी जितेन्द्रिय हो कर मन वाणी वा शरीर से पूरी लाग के साथ (अहन्यहनि) प्रतिदिन (एतामधीते) इस प्रणव व्याहृति सहित गायत्री का एकाग्रचित्त से जप करता है (सः) वह मनुष्य तीन वर्ष के पश्चात् शरीर छोड़ते समय स्थूलशरीर को छोड़ (वायुभूतः) वायु के तुल्य विना रोक टोक सर्वत्र विचरने वाला (खमूर्त्तिमान्) सब स्थूल परिच्छिन्न साधनों को छोड़ कर आकाश के तुल्य निर्लिप्त हुआ (परं ब्रह्माभ्येति) सर्वोत्तम ब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होता है। यदि अभ्येति के स्थान में अधीयेति पाठान्तर माना जाय तो ब्रह्म को जानलेता है ऐसा अर्थ जानो ॥

भा०-निर्विकल्प मुक्ति की प्राप्ति भी सावित्री के जप का फल हो सकता है। जप करने वाले को कुछ भी फल असाध्य वा दुर्लभ नहीं है जो चाहे वही प्राप्त हो सकता है। यदि कर्म कर्त्ता वा साधनों के ठीक यथोचित न होने से किसी जप करने वाले को अभीष्ट फल प्राप्त न हो तो शास्त्र को दोषी कहना मूर्खता है। जैसे कोई आप्त कहे कि "अग्नि से भोजन सिद्ध हो सकता है" इस वाक्य को मान कर कोई मनुष्य आटादि के विना ही केवल अग्नि से पाक करना आरम्भ करे वा आटा होने पर इंधन न हो वा पकाने वाला ही कोई न हो अथवा हो तो पकाना जानता ही न हो इत्यादि अनेक दशाओं में अग्नि से पाक न होने पर आप्त वाक्य को मिथ्या ठहराने का उद्योग करे कि अग्नि से पाक होता यह मिथ्या है तो इस से आप्तवाक्य मिथ्या नहीं हो सकता क्योंकि उस वाक्य का यह अभिप्राय नहीं है कि अन्य साधनों के विना अग्नि से पाक हो सकता है किन्तु अन्य साधनों की अपेक्षा वाक्य के साथ अवश्य है। इसी

प्रकार सर्वत्र जानो कि जहां आप्तवाक्यानुसार कार्यसिद्धि न हो वहां कर्माङ्गों में ही दोष अवश्य है। जिस कर्म में जितने साधन जिस२ गुणकर्म स्वभाव वाले अपेक्षित हैं उन सब के वा अधिकांशों अथवा प्रबल साधनों के होने पर चतुर अप्रमादि उस कर्म के करने में प्रवीणतत्पर चित्त वाले कर्त्ता ने सम्यक् लाग के साथ किया कर्म सफल होता है अन्यथा नहीं ॥ ८२ ॥

एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामाः परन्तपः ॥
सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते८३

अ०-एकाक्षरमोङ्कारः परं ब्रह्म तज्जपस्तदर्थभावनमित्योङ्कारेण कृतमुपासनमेव सर्वापेक्षया प्रकृष्टं ब्रह्मप्राप्तिसाधनम्। प्राणायामा व्याहृतिसाधनाः परं चान्द्रायणाद्यपेक्षयोत्कृष्टं तपोऽस्ति। प्राणायामावसरे व्याहृतिजपमहत्त्वकथने तात्पर्यम्। सावित्र्यास्तु परं प्रकृष्टं जप्यं किमपि मन्त्रान्तरं नास्ति। मौनात्समाधिभावात्सत्यं सत्यस्वरूपः प्रणवादिजपएव विशिष्यते ॥

भा०-मौनावलम्बनेऽवाच्यनिवृत्तावनिष्टमेव जहाति प्रणवादिजपेन त्ववाच्यनिवृत्तावनिष्टं हित्वा सर्वमिष्टसुखं परमात्मानं चानन्दमयमाप्नोतीति मौनापेक्षया सप्रणवव्याहृतिकायाः सावित्र्या जपस्यैव विशिष्टफलप्रदत्वं बोध्यम् ॥८३॥

भाषार्थः-(एकाक्षरं परं ब्रह्म) एक ओम् अक्षर उस के वाच्यार्थ परमात्मा के ध्यान सहित जप करने से परब्रह्म की प्राप्ति का मुख्य साधन है अर्थात् प्रणव के द्वारा उपासना करना सब उपासनाओं से उत्तम है (प्राणायामाः, परन्तपः) व्याहृतियों का जप करना जिन में मुख्य कर्म है ऐसे प्राणायाम ही सब चान्द्रायणादितपों में प्रधान तप है। प्राणायाम के समय व्याहृतियों के जप का माहात्म्य दिखाना तात्पर्य है (सावित्र्यास्तु परं नास्ति) सावित्री के जप से उत्तम अन्य किसी मन्त्र का जप नहीं है क्योंकि (मौनात्सत्यं विशिष्यते) समाधि आदि दशा में मौन रहने से भी सत्यस्वरूप प्रणवादि का जप करना ही सर्वोत्तम है ॥

भा०-मौन रहने में मिथ्या भाषणादि वाचिक पापों से ही बच सकता है परन्तु प्रणवादि के जप से वाचिकादि पापों से बच के सब दृष्ट सुख और आनन्दस्वरूप परमात्मा को भी प्राप्त हो जाता है इस कारण मौन रहने की अपेक्षा प्रणव व्याहृति सहित (तत्सवि०) सावित्री का जप ही सब से अधिक उत्तम फल देने वाला जानो ॥ ८३ ॥

क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यो जुहोतियजतिक्रियाः ॥
अक्षरं त्वक्षरं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः ॥८४॥

अ०—जुहोतिक्रिया अग्निहोत्रादिका होमपदवाच्या यजतिक्रिया ज्योतिष्टोमादियागयज्ञपदवाच्याः सर्वा वैदिक्यो वेदोक्ताः क्रियाः क्षरन्ति मुक्त्यपेक्षया सद्यः स्वर्गादिफलावसाना भवन्ति सुखप्राप्तिकालेऽपि ब्रह्मप्राप्तिसुखापेक्षयाल्पसुखत्वादपि सुखफलस्य क्षरणमेव । तुपुनरक्षरमोम्-कारस्तद्वाच्यं प्रजापालकं ब्रह्मत्वक्षरमेवास्ति न कदापि क्षरति नित्यत्वात् ॥

भा०—होमयागादियज्ञकर्मापेक्षया जपप्रधानं ब्रह्मैकलक्ष्यं ब्रह्मयज्ञादिकं कर्मात्युत्तमम् । एकस्य प्रशंसायां सापेक्षतारतम्यप्रदर्शनेऽत्र प्रयोजनं नतु होमादिकर्मणस्तुच्छत्वज्ञापने तात्पर्यम् ॥

भाषार्थः—(सर्वा, वैदिक्यः) सब वेदोक्त (जुहोतियजतिक्रियाः) अग्निहोत्रादि होम वा यज्ञ यागादि नामक ज्योतिष्टोमादि क्रिया (क्षरन्ति) मुक्ति की अपेक्षा यज्ञादि का स्वर्गसुखादि फल शीघ्र समाप्त हो जाता है। और स्वर्गादि सुख प्राप्ति के समय भी ब्रह्मप्राप्ति सम्बन्धी सुख की अपेक्षा अत्यन्त कम सुख का मिलना भी नीच दशा को गिरना ही है (अक्षरन्त्वक्षरं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः) परन्तु ओम् रूप वाचक अक्षर तथा उस का वाच्यार्थ प्रजारक्षक ब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति रूप जप का फल तो अक्षर अविनाशी है क्योंकि परमेश्वर नित्य है ॥

भा०—होम यागादि यज्ञ कर्म की अपेक्षा जप जिस में मुख्य है और परमेश्वर ही जिस का लक्ष्य है ऐसा ब्रह्मयज्ञादि कर्म अत्युत्तम है । एक की प्रशंसा करने में यहां सापेक्षन्यूनाधिक भाव दिखाने में प्रयोजन है किन्तु होमादि कर्म को निकृष्ट वा तुच्छ ठहराने का तात्पर्य नहीं है ॥ ८४ ॥

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ॥
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः८५

अ०—नानाकर्माङ्गविधानयुताद्विधियज्ञादग्निष्टोमादियागात् जपयज्ञः स्पष्टतयोच्चारणेन प्रणवव्याहृतिसहितायाः सावित्र्याः

पुनः पुनरभ्यासो दशभिर्गुणैर्विशिष्टो दशगुणाधिकः । यथाऽन्यो न शृणुयात्तथा शनैरुच्चारणमुपांशुजपः स शतगुणोऽधिकः । यत्र जिह्वामुखादीनां कथमपि निस्पन्दनं न जायते मनस्येव प्रणवादीनामुच्चारणं क्रियेत स मानसो जपो विधियज्ञात्सहस्रगुणाधिकफलप्रदः ॥

भा०—यादृशं कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यं विधियज्ञे होमादौ सम्भवति साधनप्रसाराधिक्यान्न च तादृशं जपयज्ञेऽस्ति । तस्माद्धोमादौ सविकल्पमुद्दिष्टफलं समाहितचेतसा शुद्धदेशेऽनुष्ठितस्य जपयज्ञस्य च निर्विकल्पमुद्दिष्टफलम् । निर्विकल्पफलादपि होमादिशिष्टफलो ब्रह्मयज्ञस्तस्मादुत्तमकोटिस्थः ॥ ८५ ॥

भाषार्थः—(विधियज्ञात्, जपयज्ञः, दशभिर्गुणैः, विशिष्टः) अनेक कर्माङ्गों के विधान से युक्त अग्निष्टोमयागादि विधियज्ञ से स्पष्टता के साथ उच्चारण कर प्रणव व्याहृति सहित सावित्री मन्त्र का जप, बार २ अभ्यास करना दशगुणा अधिक फलदायक है (उपांशुःस्याच्छतगुणः) जिस को अन्य कोई पास बैठा भी न सुने ऐसा धीरे २ उच्चारण करना उपांशु जप कहाता वह विधियज्ञ से सौगुणा अधिक और (साहस्रो मानसः स्मृतः) जिस में जिह्वा वा ओष्ठादि कुछ भी न चले मन में ओम् आदि का उच्चारण करे ऐसा मानस जप विधियज्ञ से सहस्र गुण अधिक फल देने वाला है ॥

भा०—होमादि विधियज्ञ में साधनों का अधिक फैलाव होने से जैसा कर्म कर्त्ता और साधनों का दोष सम्भव है वैसा जपयज्ञ में सम्भव नहीं । इस कारण होमादि के उद्दिष्ट फल में जितना विकल्प वा संदेह रहता उतना शुद्ध स्थान में समाहित चित्त जितेन्द्रिय पुरुष ने सेवन किये जपयज्ञ के फल में विकल्प वा सन्देह नहीं रहता किन्तु जपयज्ञ के फल की अधिकांश सम्भावना रहती है तथा निर्विकल्प फल वाले भी होमयज्ञ से ब्रह्मयज्ञ का फल अधिक है इस से ब्रह्मयज्ञ सर्वोत्तम कोटि का समझना चाहिये ॥ ८५ ॥

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः ।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ८६

अ०—ये चत्वारः पाकयज्ञा देवयज्ञभूतयज्ञपितृयज्ञनृयज्ञा

अग्निहोत्रादिनामका विधियज्ञसमन्विता दर्शपौर्णमासेष्ट्यादिसंयुतास्ते सर्वेऽपि जपयज्ञस्य ब्रह्मयज्ञस्य षोडशीं कलां नार्हन्ति ॥

भा०—पञ्चमहायज्ञेष्वपि नित्यकर्मसु जपप्रधानस्य ब्रह्मयज्ञस्यैवोत्कृष्टतमत्वं बोध्यम् । तत्रानायासकीटपतङ्गादिपातेन हिंसाकुपात्रदानादीनां सर्वथाऽवार्य्यत्वात् । ब्रह्मयज्ञे तु साधनसंक्षेपात्स्वतएव दोषाभावस्तस्मात्सर्वनित्यनैमित्तिकधर्म्यकर्मसु ब्रह्मयज्ञः प्रधानः ॥ ८६ ॥

भाषार्थः—(ये चत्वारः पाकयज्ञाः) अग्निहोत्र, वैश्वदेव, आद्धतर्पण और अतिथिपूजन ये चार पक्व घृतादि वस्तुओं वा अन्नादि से होने वाले महायज्ञ (विधियज्ञसमन्विताः) दर्शेष्टि पौर्णमासेष्टि आदि विधियज्ञों से युक्त भी हों तो भी (ते सर्वे) वे सब (जपयज्ञस्य) यथोचित नियमानुकूल हुए पहिले ब्रह्मयज्ञ के (कलां, नार्हन्ति, षोडशीम्) सोलहवें अंश के भी बराबर नहीं होते ॥

भा०—पञ्चमहायज्ञादि नित्य कर्मों में भी जपप्रधान ब्रह्मयज्ञ की ही उत्तमता जानों क्योंकि अग्निहोत्रादि में अकस्मात् कीट पतङ्गादि के गिरने से हिंसा और कुपात्र निमित्तों को अन्न पहुंचने आदि का सर्वथा बचाव होना दुस्तर है इस से वहां धर्म के साथ कुछ अधर्म भी होना सम्भव है परन्तु ब्रह्मयज्ञ में बाह्य साधनों की विशेष अपेक्षा न होने से स्वयमेव दोषों का प्रवेश नहीं इस कारण सब नित्य नैमित्तिक धर्मसम्बन्धी कामों में ब्रह्मयज्ञ प्रधान है ॥ ८६ ॥

जप्येनैव तु संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः ॥
कुर्यादन्यन्नवा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते॥८७॥

अ०—ब्राह्मणः सम्यग्यथाविधिक्रियमाणेन जप्येनैव संसिध्येदत्र नास्ति संशयः । पुनरन्यत्कुर्यान्नवा कुर्यात्सम्यग्जपमनुतिष्ठन् मैत्रो मनोवाक्कायहेतुभिः सर्वमित्रो ब्राह्मण उच्यते । न कथमपि कदापि क्वापि कमपि प्राणिनं मनसा वाचा कर्मणा वा द्रुह्यति तस्मान्मैत्रः सर्वप्रियो भवति ॥

भा०—ब्रह्मयज्ञरूपो जपयज्ञो ब्राह्मणस्यैव प्रधानो धर्मः । ब्रह्मयज्ञानुष्ठानरतो ब्राह्मणोऽथवा यो ब्रह्मयज्ञमनुष्ठातुं शक्तो रतश्च

स्यात्सएव ब्राह्मणइति सर्वापेक्षया ब्रह्मयज्ञएव शान्तियज्ञः । ब्रह्मयज्ञेनैव ब्राह्मणस्य सर्वमिष्टं सिध्यति तस्मादिष्टाधिगमाया-न्यत्कृत्यं नापेक्षते । देवयज्ञः क्षत्रियस्य भूतपितृयज्ञौ वैश्यस्य शूद्रस्य तु नृयज्ञोऽतिथिपूजनं प्रधानो धर्मः । अथवा योयो यंयं ब्रह्मयज्ञादिकं कर्तुमुत्सहते शक्नोति च स स ब्राह्मणादिपदव्य-देश्यो भवितुमर्हति ॥८७॥

भाषार्थः-(तु) और (ब्राह्मणः) ब्राह्मण (जप्येनैव, संसिध्येत्) विधिपूर्वक ठीक २ किये हुये जपयज्ञ से ही सिद्ध हो जाय (नात्र संशयः) इस में कुछ सन्देह नहीं है (कुर्यादन्यन्नवा कुर्यात्) फिर अन्य अग्निहोत्रादि कर्म करे चाहे न करे। अर्थात् जपयज्ञ से सब इष्ट सिद्धि होने पर भी अग्निहोत्रादि का भी न करने से करना अच्छा है (मैत्रो ब्राह्मण उच्यते) जपानुष्ठान करता हुआ हिंसादि अधर्म से सर्वथा बचा रहने से वह ब्राह्मण सर्वमित्र हुआ मैत्र कहाजाता है क्योंकि वह कभी कहीं किसी प्राणी को मन वाणी कर्म से किसी प्रकार दुःख नहीं देता इस से सर्वप्रिय हुआ मैत्र कहाता है ॥

भा०—ब्रह्मयज्ञ नामक जपयज्ञ ब्राह्मण का ही प्रधान धर्म है जो ब्राह्मण हो वह ब्रह्मयज्ञ के अनुष्ठान में विशेष रुचि रक्खे उसी में तत्पर रहे अथवा जो ब्रह्मयज्ञ का अनुष्ठान करने को समर्थ और उस में अधिक तत्पर हो वही ब्राह्मण है। सब की अपेक्षा ब्रह्मयज्ञ ही शान्ति का घर है उसी से ब्राह्मण के सब इष्ट काम सिद्ध हो जाते हैं। इस कारण ब्राह्मण को अपनी इष्टप्राप्ति के लिये अन्य कर्त्तव्य की अपेक्षा नहीं। देवयज्ञ—अग्निहोत्र क्षत्रिय का, वैश्वदेव और श्राद्ध तर्पण वैश्य के प्रधान कर्त्तव्य हैं तथा नृयज्ञ नामक अतिथिसेवा शूद्र का प्रधान कर्त्तव्य धर्म है। अथवा ऐसा मानो कि जिस २ पुरुष की जिस २ ब्रह्मयज्ञादि के करने में स्वाभाविक प्रवृत्ति वा रुचि है वे २ ब्राह्मणादि कहे वा माने जावें कई में भी किसी की रुचि हो तो भी किसी एक ही में प्रधान होगी। शास्त्रीय नियमानुसार यह वर्णभेद है ॥ ८७ ॥

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ॥
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ८८

अ०-अपहारिष्वपहरणशीलेष्विन्द्रियाकर्षकेषु विषयेषु वि-चरतामिन्द्रियाणां संयमे वशे स्थापयितुं वाजिनामश्वानां संय-मने यन्ता सारथिरिव विद्वान् यत्नमातिष्ठेत् ॥

भा०—जपयज्ञेन सिद्धिप्राप्तये प्रधानं साधनमिन्द्रियवशीकरणमेवास्ति। तस्मात्प्रसङ्गादत्र शततमपद्यावधि तद्वशीकरणाय व्याख्यानमुच्यते। जितेन्द्रियएव ब्राह्मणो जप्येन सिद्धिमाप्तुमर्हति नान्यः। स्वभावेनैवेन्द्रियाणि धात्रा विषयपातीनि निर्मितानि तस्माद्विषयेषु स्वयमेव पतन्ति विषयाश्चेन्द्रियाण्याकर्षन्ति तानि सारथिरश्वानिव क्रमशोऽभ्यासेन वशे स्थापयेत्॥ ८८ ॥

भाषार्थः—(अपहारिषु, विषयेषु, विचरताम्) इन्द्रियों को अपनी ओर खेंचने के स्वभाव वाले विषयरूप मार्गों में विचरते हुए (इन्द्रियाणाम्, संयमे) इन्द्रियों को वश में करने के लिये (वाजिनां, संयमे, यन्तेव) घोड़ों को वश में रखने के लिये नियन्ता सारथि के समान (विद्वान्, यत्नमातिष्ठेत्) विद्वान् पुरुष ध्यानपूर्वक उपाय करे ॥

भा०—जपयज्ञ से सिद्धिप्राप्ति के लिये इन्द्रियों का वश में करना मुख्य साधन है। इस कारण प्रसंग से यहां सौवें श्लोक तक इन्द्रियों को वश में करने के लिये व्याख्यान किया है। जितेन्द्रिय ब्राह्मण ही जपयज्ञ से इष्ट कार्य की सिद्धि को प्राप्त हो सकता है अन्य नहीं। परमेश्वर ने स्वभाव से ही इन्द्रियों को विषयों की ओर झुकने वाली बनाया है और विषय इन्द्रियों को अपनी ओर खेंचते हैं उन को सारथि जैसे घोड़ों को धीरे २ वश करता वैसे अभ्यास से धीरे २ वश में करे ॥ ८८ ॥

एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः ॥
तानि सम्यक् प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥८९॥

अ०—यानि पूर्वे भूतपूर्वा मनीषिणो जितेन्द्रिया विद्वांस आहुस्तान्येकादशेन्द्रियाणि यथावदनुपूर्वशः सम्यक् प्रवक्ष्यामि ॥

भा०—सर्गारम्भात्प्रादुर्भूतब्रह्मादिविद्वद्भिरेकादशैवेन्द्रियाण्यभिमतानि तान्यत्र क्रमेण वक्ष्यामीति प्रतिज्ञा। यं शत्रुं जेतुमिच्छेत्तस्य बलसङ्ख्यामवयवशक्तीश्च सम्यग्ज्ञात्वैव जेतुमर्हति तथैवेन्द्रियाणि जेतुमिच्छद्भिस्तत्सङ्ख्याऽवयवशक्तिश्च ज्ञातव्यैव॥८९॥

भाषार्थः—(पूर्वे, मनीषिणः) पहिले समय में हो चुके जितेन्द्रिय महर्षि विद्वानों ने (यानि) जिन (एकादशेन्द्रियाणि) ग्यारह को इन्द्रिय (आहुः) कहा

है अर्थात् जो ग्यारह इन्द्रिय माने हैं (तानि, यथावदनुपूर्वशः, सम्यक्, प्रवक्ष्यामि) उन को ठीक क्रम से मैं सम्यक् यहां कहूंगा यह भृगु अन्य श्रोता ऋषियों से कहते हैं॥

भा०-सृष्टि के आरम्भ से उत्पन्न हुए ब्रह्मादि विद्वानों ने ग्यारह ही इन्द्रिय माने हैं उन को यहां क्रम से कहूंगा यह प्रतिज्ञा वाक्य है। जिस शत्रु को जीतना चाहे उस के सेनादि बल की संख्या और अवयवशक्ति को ठीक जान के ही जीत सकता है। वैसे इन्द्रियों को जीतना चाहें वे भी उन की संख्या तथा अवयवशक्ति को अवश्य जानें॥ ८९ ॥

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी॥
पायूपस्थं हस्तपादं वाक् चैव दशमी स्मृता॥९०॥

भा०-अत्र पद्यार्द्धे ज्ञानेन्द्रियाण्युत्तरार्द्धे च कर्मेन्द्रियाणि परिगणितानि। त्वक्, जिह्वा, नासिका च गोलकनामानि-उपचाराच्चेन्द्रियत्वेन व्यवहारः। तत्र स्पर्शरसनाघ्राणानि मुख्यानीन्द्रियनामानि। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धविसर्जनानन्दादानगतिवचांसीन्द्रियविषया यथासङ्ख्यं बोध्याः ॥९०॥

भाषार्थः०- (श्रोत्रं, त्वक्, चक्षुषी, जिह्वा, नासिका, चैव, पञ्चमी) श्रोत्र-कान त्वचा, चक्षु-आंखें, जीभ, नाक ये पांच और (पायूपस्थम्) गुदा, उपस्थ (हस्तपादम्) हाथ पग (वाक्चैव,दशमी, स्मृता) और दशवीं वाणी इन्द्रिय मानी है॥

भा०-इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में पांच ज्ञानेन्द्रिय और उत्तरार्द्ध में पांच कर्मेन्द्रिय गिनाये हैं। त्वच् जिह्वा और नासिका ये इन्द्रियगोलकों के नाम हैं तत्स्थ उपाधि से इन नामों से इन्द्रियों के ग्रहण का भी व्यवहार होता है। तथा स्पर्श रसन और घ्राण उन इन्द्रियों के मुख्य नाम हैं। इन दशों इन्द्रियों के विषय-श्रोत्र का शब्द, त्वच् का स्पर्श, चक्षु का रूप, जिह्वा का रस, नासिका का गन्ध, गुदा का विसर्जन-त्याग, उपस्थ का आनन्द, हाथ का ग्रहण, पाद का गति, और वाणी का भाषण है॥ ९० ॥

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः॥
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते॥९१॥

अ०-एषामुक्तदशेन्द्रियाणां मध्येऽनुपूर्वशः श्रोत्रादीनि पञ्च

द्वीन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि, पाय्वादीनि च पञ्चैषां कर्मेन्द्रियाणि विद्वांसः प्रचक्षते ॥

भा०—कर्मेन्द्रियापेक्षया ज्ञानेन्द्रियाणां प्राधान्यं बोधयितुं पूर्वं पाठः ॥९१॥

भाषार्थः—(एषामनुपूर्वशः, श्रोत्रादीनि, पञ्च, बुद्धीन्द्रियाणि) इन में श्रोत्रादि पांच को क्रम से ज्ञानेन्द्रिय और (एषां, पाय्वादीनि, पञ्च, कर्मेन्द्रियाणि, प्रचक्षते) इन में पायु आदि पांच को कर्मेन्द्रिय कहते हैं अर्थात् पहिले पांच से विषयों का ज्ञान होता और अगले पांचों से कर्म होते हैं ॥

भा०—कर्मेन्द्रियों की अपेक्षा ज्ञानेन्द्रियों की प्रधानता जताने के लिये पूर्व पाठ किया है ॥ ९१ ॥

एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् ।
यस्मिन् जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ॥९२॥

अ०—एकादशमन्तरिन्द्रियं स्वगुणेन सङ्कल्परूपेणोभयात्मकं ज्ञानकर्मात्मकं शुभाशुभात्मकं वा मनो ज्ञेयं यस्मिन्मनसि जिते द्वावपि पञ्चकौ गणौ जितौ भवतः ॥

भा०—शब्दादिबाह्यज्ञानसाधनानि श्रोत्रादीनि बहिःकरणानि—अन्तर्ज्ञानसाधनमन्तःकरणं मनः । दशेन्द्रियाणि भौतिकान्येकादशमभौतिकं मन इन्द्रियम्। येनेन्द्रियेण मनः संयुज्यते तेनैव तत्तज्ज्ञानं कर्म वा कर्तुं शक्यते। युगपत्सर्वेन्द्रियैः सर्वविधज्ञानानुत्पत्तौ च मनसोऽसन्निधिरेव कारणम्। सारथिरश्वानिव मनएवेन्द्रियचालकं तद्यदा यच्चालयति तदा तच्चलति जिते च मनसि सर्वाण्येवेन्द्रियाणि जितानि भवन्ति ॥९२॥

भाषार्थः—(स्वगुणेनोभयात्मकम्) अपने अच्छे बुरे संकल्परूप गुण से ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय दोनों रूप वा शुभ अशुभ दोनों स्वरूप वाला (एकादशं मनो ज्ञेयम्) ग्यारहवें मन को भी इन्द्रिय जानो (यस्मिन् जिते) जिस मन के वश में होजाने पर (एतौ पञ्चकौ गणौ) ये पांच २ अवयवों वाले दोनों समुदाय (जितौ भवतः) वश में हो जाते हैं ॥

भा०--मन भी एक ग्यारहवां इन्द्रिय है। इन में बाह्यशब्दादि विष ज्ञानों के साधन श्रोत्रादि इन्द्रिय हैं इन का नाम बहिःकरण वा बाहिरी साधन है और भीतरी ज्ञान का साधन होने से मन का नाम अन्तःकरण है। दश इन्द्रियां एक २ तत्त्व से होने के कारण भौतिक हैं पर ग्यारहवां मन इन्द्रिय अभौतिक है किसी भूत से नहीं बना किन्तु प्राकृत वस्तु है। जिस इन्द्रिय के साथ मन का संयोग होता उसी से उस २ विषय का ज्ञान वा कर्म होता है। एक काल में सब इन्द्रियों से सब प्रकार का ज्ञान न होने में मन की समीपता न होना ही कारण है। जैसे सारथि घोड़ों को चलावे वैसे मन ही इन्द्रियों का चलाने वाला है वह जब जिस को चलाता है तब सो चलता है और जब मन आत्मा के वश में हो जित जाता है तब सब इन्द्रिय भी जित जाते हैं॥ ९२॥

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्॥
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति॥९३॥

अ०-पुरुष इन्द्रियाणां विषयेषु प्रसङ्गेनाजस्रमासक्त्याऽसंशयं दोषमृच्छति प्रत्यक्षेण परोक्षेण वा दोषेण दूषितो भवति। तुपुनस्तान्येवेन्द्रियाणि संनियम्य ततः सिद्धिमभीप्सितार्थफलं नियच्छति प्राप्नोति॥

भा०-इन्द्रियैर्मनो मनसाचात्मा यदा संयुज्यते तदा विषयेषु विचरन्ति तद्दोषदूषितानीन्द्रियाणि संसर्गदोषेण मन आत्मानं च दूषयन्ति। दूषितश्चात्मा न शक्नोति समाहितमनसा जपादिकमनुष्ठातुं तस्मात्फलसिद्धिमपि नाप्नोति॥९३॥

भाषार्थः-पुरुष (इन्द्रियाणां प्रसंगेन) इन्द्रियों की विषयों में निरन्तर फसावट हो जाने से (अशंसयम्, दोषमृच्छति) अवश्य ही निस्सन्देह प्रत्यक्ष वा परोक्ष दोष से दूषित हो जाता है। (तु, तान्येव संनियम्य) फिर उन्हीं इन्द्रियों को वश में करके (ततः सिद्धिं नियच्छति) तदनन्तर अभीष्ट फल को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् जितेन्द्रिय पुरुष के ही सब अभीष्ट मनोरथ सिद्ध हो सकते हैं इस कारण जो अपने अभीष्ट को सिद्ध करना चाहे वह पहिले इन्द्रियों को वश में करे॥

भा०-इन्द्रियों के साथ मन और मन के साथ जब आत्मा संयुक्त होता है तब विषयों में यथेष्ट विचरते हुए इन्द्रिय विषय दोषों से दूषित होकर संसर्ग

दोष से मन और आत्मा को भी दूषित करते हैं और दूषित आत्मा मन को स्वाधीन शान्त करके जपादि का अनुष्ठान नहीं कर सकता इसी से उस को अभीष्ट फल भी प्राप्त नहीं होता ॥ ९३ ॥

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूयएवाभिवर्धते ॥९४॥

अ०—कामानां कमनीयानां विषयाणां कामोऽभिलाषस्तृष्णोपभोगेन जातु न शाम्यत्यपितु हविषा कृष्णवर्त्माग्निरिव भूयः पुनःपुनरेव वर्धते ॥

भा०—विषयोपभोगेनसंस्काराश्चेतस्युत्पद्यन्ते तेभ्यश्च वासना वासनाभ्यः प्रवृत्तिनिवृत्ती भवतः । अतो यथा भोजनेन क्षुन्निवृत्तिर्जायते न तथा तृष्णानिवृत्तिर्भवति यद्यपि तत्कालं कथमपि तृष्णा शाम्यति तथापि न बहुकालावधि । कामशब्दोऽत्र कामदेवपरो नास्त्यपितु सर्वविषयाभिलाषपरः । यथा कश्चिद्युवतरः प्रकृष्टवीर्यः पुरुषोऽपि यावत्सकृद्रमया न रमते तावत्प्रत्यभिज्ञानाभावात्कामभोगतृष्णाऽपि न वर्धते स्वतएव कामशान्तिर्दृश्यते । सकृदपि कृत उपभोगे कामवेगः शमयितुं दुर्वारएव तस्मादुपभोगएव तृष्णोन्नतेर्हेतुरिति ॥ ९४ ॥

भाषार्थः—(कामानां, कामः) दर्शनीय रोचक विषयों के भोगने की अभिलाषा वा तृष्णा (उपभोगेन, जातु, न, शाम्यति) विषयों का उपभोग करने से कदापि शान्त नहीं होती किन्तु जैसे (हविषा, कृष्णवर्त्मेव) कृष्णवर्त्मा नामक अग्नि में जैसे २ घी डालो वैसा २ अधिक तेज होता वैसे (भूयएवाभिवर्धते) बार २ कामाग्नि भी अधिक २ बढ़ता जाता है ॥

भा०—विषयों के भोगने से चित्त में उन के संस्कार उत्पन्न होते संस्कारों से वासना होतीं और वासनाओं से आगे २ कार्यों में प्रवृत्ति निवृत्ति होती हैं । इस से जैसे भोजन से भूख वा जल से प्यास की निवृत्ति होती है वैसे विषय भोग से तृष्णा की निवृत्ति नहीं होती यद्यपि तत्काल कुछ होती भी है तो अधिक काल तक तृष्णा शान्त नहीं रहती । काम शब्द यहां कामदेव का वाचक नहीं किन्तु सब विषयभोगों की अभिलाषा का नाम है । जैसे कोई अत्यन्त उत्तान प्रबल

वीर्य वाला पुरुष भी जब तक पहिले एक बार स्त्री से संयोग नहीं करता तब तक विषय सुख का स्मरण न आने से काम भोग की तृष्णा भी नहीं बढ़ती स्वयमेव काम शान्त रहता है और एक बार भोग कर लेने पर काम के वेग को शान्त करना दुस्तर ही है इस कारण विषयों का भोगना ही विषयभोगतृष्णा की उन्नति का हेतु है ॥ ९४ ॥

यश्चैतान्प्राप्नुयात्सर्वान्यश्चैतान्केवलांस्त्यजेत्
प्रापणात्सर्वकामानांपरित्यागोविशिष्यते॥९५॥

अ०-य एकश्चैतान्सर्वानिन्द्रियविषयभोगान् प्राप्नुयाद्यएकश्च केवलान्विषयभोगमात्रांस्त्यजेत्तयोर्द्वयोः सर्वकामानां प्रापणात्परित्यागो विशिष्यते ॥

भा०—ज्ञानस्य फलमेतदेव—यो जानाति मधुविषसम्पृक्तान्नमनादेयं भवति न स आदत्ते यश्चादत्ते न स जानाति। विषयभोगोत्सुकस्तदर्जनरक्षणादिषु महत्कष्टमनुभवति। केचिच्च विषयभोगसाधनान्यर्जयितुं यतमाना अपि नाप्नुवन्ति तदापि महद्दुःखमिष्टसुखसाधनवियोगोऽपि दुर्वारएव सति च वियोगे महद्दुःखमिति त्यक्तविषयभोगाभिलाषश्चैतानि दुःखानि नाप्नोति तस्माद्विषयभोगसाधनप्राप्त्यपेक्षया त्याग उत्तमस्त्यागी च सुखी। एवं कोऽपि त्यक्तभोगाभिलाषो जितेन्द्रियो ब्रह्मयज्ञानुष्ठानं न कुर्यात्सोऽपि विषयभोगलिप्सापेक्षया श्रेष्ठ एवास्ति। त्यक्तभोगाभिलाषो जितेन्द्रियो ब्रह्मयज्ञस्य च सम्यगनुष्ठाता विप्रः श्रेष्ठतमएव॥९५॥

भाषार्थः-(यश्चैतान्, सर्वान्, प्राप्नुयात्) जो कोई एक मनुष्य इन सब इन्द्रियों के विषय भोगों को प्राप्त हो (यश्चैतान् केवलांस्त्यजेत्) और जो एक विषय भोगमात्र की तृष्णा का त्याग करे तो उन दोनों में (सर्वकामानां प्रापणात्) सबकाम भोगों को प्राप्त होने की अपेक्षा (परित्यागो विशिष्यते) उन का परित्याग अच्छा और परित्यागी सुख पाता है ॥

भा०-ज्ञान का यही फल है कि-जो जानता है कि मीठा और विष दोनों जिस में मिले हैं ऐसा अन्न नहीं खाना चाहिये वह नहीं खाता और जो जान कर भी खाता

है उस को ठीक ज्ञान नहीं हुआ । विषयभोग की तृष्णा वाला पुरुष विषयभोग के साधनों के संचय और रक्षादि के लिये बड़ा कष्ट उठाता है तथा कोई लोग विषयभोग साधनों की प्राप्ति के लिये उपाय करते हुए भी प्राप्त नहीं कर पाते तो भी बड़ा दुःख होता तथा इष्ट सुख के साधन धन पुत्रादि का वियोग न हो यह भी असम्भव है तब वियोग में भी महादुःख होता । और जिसने विषयभोगों की तृष्णा का त्याग कर दिया उस को ये दुःख प्राप्त नहीं होते । इस कारण विषयभोग साधनों के प्राप्त होने की अपेक्षा त्याग उत्तम और त्यागी सुखी होता है । ऐसी दशा में कोई विषयभोग तृष्णा का त्यागी जितेन्द्रिय ब्रह्मयज्ञ का अनुष्ठान न करे वह भी विषयभोग में फंसे हुए की अपेक्षा श्रेष्ठ वा सुखी ही है । और विषयभोग तृष्णा छोड़ कर जितेन्द्रिय हुआ ब्राह्मण पुरुष यदि ब्रह्मयज्ञ का भी ठीक २ अनुष्ठान करे तो वह सब से श्रेष्ठ है ॥ ९५ ॥

न तथैतानि शक्यन्ते सन्नियन्तुमसेवया ।
विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः ॥९६॥

अ०—विषयेषु प्रजुष्टान्येतानीन्द्रियाण्यसेवया तथा संनियन्तुं न शक्यन्ते यथा नित्यशो ज्ञानेन संनियन्तुं शक्यन्ते ॥

भा०—भगवद्गीतासूक्तम्—"कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् । इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते" तस्मान्मनोनिरोधनेन विनैषां विषयेभ्यो निरोधो दुर्लभएवास्ति । अतो निरोधाय क्रियमाणेन नैत्यिकज्ञानेन तत्त्वालोचनेन सम्यङ् निरोद्धव्यानि ॥९६॥

भाषार्थः—(विषयेषु, प्रजुष्टान्येतानि) अपने २ विषयों में फंसे हुए इन इन्द्रियों को (असेवया, तथा, संनियन्तुं, न, शक्यन्ते) विषयों के सेवन किये विना ऐसे सहज में नहीं रोक सकते (यथा, नित्यशः, ज्ञानेन) जैसे कि इन्द्रियों के विषयों में फंसने से आने वाली आपत्ति वा अधर्मादि के दुःखों का नित्य २ ज्ञान होने शोचने समझने से रोक सकते हैं ॥

भा०—भगवद्गीता में कहा है कि "कर्मेन्द्रिय हाथ पांव वाणी आदि को रोक कर जो पुरुष मन से विषयभोगों का ध्यान करता हुआ ढोंग बना कर वगुला के समान बैठता है वह मिथ्याचारी कहाता है" इस से मन के रोके विना इन्द्रियों का विषयभोग की वासना से रुकना दुर्लभ ही है । इस से इन्द्रियों को जीतने के लिये किये

तत्त्वज्ञान के नैत्यिक अभ्यास से सम्यक् इन्द्रियों का निरोध करना चाहिये ॥९६॥

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ९७

अ०-वेदा नियमानुकूलं वेदाध्ययनं ब्रह्मयज्ञजपो वा, त्यागो दानादिधर्मो न्यासाश्रमकृत्यं च, यज्ञा अग्निष्टोमादयो, नियमा ब्रह्मचारिगृहस्थव्रतानि, तपांसि कृच्छ्रसान्तपनादीनि। सर्वाण्येतान्यनुष्ठितान्यपि विप्रदुष्टभावस्य विप्रदुष्टो भावः कामलोभादिदूषितं चित्तमस्य तस्य विषयभोगसेवासङ्कल्परतस्याजितेन्द्रियस्य जनस्य कर्हिचित्कदाचिदपि सिद्धिं न गच्छन्ति ॥

भा०-प्रणवव्याहृत्यादिजपेनान्यैर्वा यज्ञादिधर्मकृत्यैर्यो वेदादिशास्त्रोक्तां फलसिद्धिमाप्तुमिच्छति तेनादौ विप्रदुष्टभावत्यागायेन्द्रियवशीकरणाय च प्रकृष्ट उपाय आस्थेयस्सति चेन्द्रियवशीकरणे सर्वाणि कार्याणि सेत्स्यन्तीति ॥९७॥

भाषार्थः-(वेदाः) नियमानुकूल वेदों का पढ़ना वा ब्रह्मयज्ञ का जप (त्यागश्च) दानादि धर्म और संन्यासाश्रम के नियमों का सेवन (यज्ञाश्च) अग्निष्टोमादि यज्ञों का करना (नियमाश्च) ब्रह्मचारी वा गृहस्थादि के नियम व्रतों का पालन और (तपांसि) कृच्छ्रसान्तपनादि तप ये सब सेवन किये भी (विप्रदुष्टभावस्य) काम लोभादि से जिस का चित्त दूषित है उस विषयभोग सेवा के लालची लम्पट पुरुष के (कर्हिचित्) कदापि (सिद्धिं न गच्छन्ति) सिद्धि को प्राप्त नहीं होते उस के वेदाध्ययनादि सब निष्फल होते हैं ॥

भा०-प्रणव वा व्याहृतियुक्त सावित्री के जप से वा अन्य यज्ञादि धर्म कार्यों से जो पुरुष वेदादि शास्त्रों में कही गयी फलसिद्धि को प्राप्त होना चाहता है उस को उचित है कि पहिले हृदय के दुष्ट संस्कारों के त्याग और इन्द्रियों को वश में करने का प्रबल उपाय करे। क्योंकि इन्द्रियों के वशीभूत हो जाने पर सब कार्य सिद्ध हो सकते हैं ॥ ९७ ॥

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च योनरः
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः॥९८॥

अ०—अनुकूलं प्रतिकूलं वा शब्दं श्रुत्वा स्पृष्ट्वा स्पर्शं कृत्वा रूपं दृष्ट्वा रसं भुक्त्वा गन्धं वा घ्रात्वा यो नरो न हृष्यति नवा ग्लायति स जितेन्द्रियो विज्ञेयः ॥

भा०—यदा नैत्यिकज्ञानेन रागद्वेषादिदोषशून्यैरिन्द्रियैः स्वस्थैर्विषयान् चरति तदानुकूले विशिष्टो रागः प्रतिकूले वा द्वेषो नोत्पद्यते। यद्यपीष्टानिष्टविषयसन्निपाते मनसि कश्चिद्विकारो जायते तथापि बहिराकृतौ स नायात्यन्तरेव शाम्यति। तदापि जितेन्द्रियत्वमस्त्येव। नतु केवलं ब्रह्मयज्ञएव जितेन्द्रियतामपेक्षतेऽपितु सर्वाण्येव लौकिकवैदिककर्माणि जितेन्द्रियत्वेन विना सिद्धानि सफलानि न भवन्ति "जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजा" इति प्रजाशासनमप्यजितेन्द्रियेण राज्ञा कर्त्तुमशक्यमेव तस्मात्सर्वप्राणिनां सर्वेष्टसाधनद्वारमिदं ज्ञातव्यम् ॥ ९८ ॥

भाषार्थः—अनुकूल वा प्रतिकूल शब्द को (श्रुत्वा) सुन (स्पृष्ट्वा, च) कोमल कठोर वा शीत उष्णादि का स्पर्श कर (दृष्ट्वा, च) अच्छे बुरे रूप को देख (भुक्त्वा) विशेष स्वादिष्ठ वा कम स्वादु भोज्य खाकर (च) और (घ्रात्वा) अच्छे बुरे गन्ध को सूंघ कर (यः) जो (नरः) मनुष्य (न, हृष्यति, ग्लायति, वा) न हर्ष वा न ग्लानि मानता है (सः) वह (जितेन्द्रियः) जितेन्द्रिय (विज्ञेयः) जानना चाहिये ॥

भा०—जब नित्य ज्ञान के अभ्यास से मन को वश में रख कर राग द्वेषादि दोष रहित स्वस्थ शान्त इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण करता है तब न अनुकूल की प्राप्ति में विशेष राग और न प्रतिकूल में द्वेष होता है। यद्यपि इष्ट अनिष्ट विषय की प्राप्ति होने पर मन में कुछ विकार अवश्य होता है तो भी बाहर आकृति पर वह नहीं आता किन्तु ज्ञानाग्नि से भीतर ही दग्ध हो शान्त हो जाता है इस से तब भी जितेन्द्रियता ही रहती है। और केवल ब्रह्मयज्ञ के लिये ही जितेन्द्रिय होने की अपेक्षा हो सो नहीं किन्तु उस के विना लौकिक वैदिक सभी कर्मों की सिद्धि नहीं होती। राजा भी जितेन्द्रिय होने पर ही प्रजा का ठीक

शासन कर सकता है। इस से सब प्राणियों के सब इष्टों की सिद्धि का द्वार इसी इन्द्रिय वशीकरण को जानना चाहिये ॥ ९८ ॥

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ॥
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् ॥९९॥

अ०—यदि सर्वेषामिन्द्रियाणां मध्य एकमपीन्द्रियं क्षरति विषयासक्तं भवति तदा तेनैवेन्द्रियच्छिद्रेणास्य ज्ञातुरात्मनो दृतेश्चर्मपात्रादेकच्छिद्रेण तत्स्थं सर्वमुदकमिव प्रज्ञा बुद्धिः सदसद्विचारशक्तिः क्षरति नश्यति ॥

भा०—ज्ञानेन्द्रियाणि बुद्धिनिस्सरणच्छिद्राणि सन्ति। यदा च सारथिरश्वानिव तानि वशे स्थाप्य सदसद्विचारपुरस्सरं यथाकालं यथायोगं च तैरात्मा विषयानुपलभते तदा तानि छिद्राण्यपिहितानि भवन्ति न च तदा बुद्धिर्नश्यति। यदा चान्येषु वशीकृतेष्वेकमपीन्द्रियं विषयपतनशीलं रोद्धुमशक्यं जायते तदाऽस्य पुरुषस्य धर्माधर्मोचितानुचितविवेकमतिरप्येकेन छिद्रेण शनैः शनैः कुम्भादिस्थमुदकमिव बहिर्निर्गच्छति। अतः केषाञ्चिदिन्द्रियाणां वशीकरणं निष्फलमिति मत्वा सर्वाणि युगपद्वशे स्थाप्यानि ॥९९॥

भाषार्थः—(यदि) जो (सर्वेषां तु, इन्द्रियाणाम्) सब इन्द्रियों में से (एकम्) एक भी (इन्द्रियम्) इन्द्रिय (क्षरति) विषयासक्त होता है तो (तेन) उसी एक इन्द्रिय छिद्र से (अस्य) इस ज्ञाता आत्मा की (दृतेः) जैसे चाम के (पात्रात्) पात्र से एक ही छिद्र द्वारा (उदकमिव) सब जल धीरे २ निकल जाता वैसे (प्रज्ञा, क्षरति) बुद्धि सत्यासत्य वा धर्माधर्म के विवेक करने वाली ज्ञानशक्ति सब नष्ट हो जाती है ॥

भा०—पात्र में से जल निकलने के तुल्य मनुष्य के शरीर में ज्ञानेन्द्रिय बुद्धि निकलने के छिद्र हैं। सारथि जैसे घोड़ों को वश में रक्खे वैसे जब इन्द्रियों को

वश में कर के सत्यासत्य के विचार पूर्वक यथावसर यथा योग्य आत्मा इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण करता है तब वे इन्द्रियछिद्र ढपे माने जाते हैं उस समय बुद्धि नष्ट नहीं होती क्योंकि इन्द्रिय आत्मा के आधीन होते हैं आत्मा इन्द्रियों के आधीन नहीं होता। और अन्य सब इन्द्रियों के वश में कर लेने पर एक भी इन्द्रिय यदि विषयों में भागने के स्वभाव वाला हो जिस को आत्मा न रोक सके तो उस पुरुष की धर्म अधर्म वा उचित अनुचित का विवेक करने वाली बुद्धि एक ही छिद्र से धीरे २ घड़े से जल के समान बाहर निकल जाती है। इस से किन्हीं इन्द्रियों का वश में करना निष्फल है ऐसा मान कर सब को एक ही साथ वशीभूत करने का सदा उपाय करता रहे ॥ ९९ ॥

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ॥
सर्वान्संसाधयेदर्थानक्षिणवन्योगतस्तनुम् १००

अ०—इन्द्रियग्रामं भौतिकश्रोत्रादीन्द्रियसमूहं वशे कृत्वा तथा तथैवेन्द्रियवशीकरणवत्सर्वेन्द्रियनियन्तृ मनश्च संयम्य योगतः शनैः क्रमेण यमनियमादियोगाङ्गानुष्ठानेन तनुं शरीरमक्षिणवन्नपीडयन्सर्वानर्थान्संसाधयेत् ॥

भा०—यथा धातुमला अग्नितापमन्तरेण न दह्यन्ते तथैवानादिकालात्सञ्चितं ज्ञानप्रकाशाच्छादकं हृदयमालिन्यं योगाङ्गतपोनुष्ठानेन विना न कदापि नश्यति। योगाङ्गानुष्ठानं चेन्द्रियमनसां वशीकरणमन्तरा नैव साध्यसाधनं भवितुमर्हति। शरीररक्षाध्यानं विहाय तीव्रसंवेगेनानुष्ठीयमानं तपो रोगातुरं कृत्वा शरीरमेव नाशयेदिति सम्भवति। तस्माच्छरीरमपीडयन्नेव तपोऽनुष्ठेयम्। एवं कृते सर्वं लौकिकमलौकिकं वाऽभीष्टं सिध्यति ॥१००॥

भाषार्थः—(इन्द्रियग्रामम्) श्रोत्रादि भौतिक इन्द्रियों के समुदाय को (वशे, कृत्वा) वश में करके (तथा) वैसे ही (मनः, च, संयम्य) सब इन्द्रियों के अधि-

ष्ठाता [अन्तर] मन को वश में रख के (योगतः) यम नियमादि योगाङ्गों के धीरे २ क्रम से किये अनुष्ठान से (तनुम्) शरीर को (अक्षिणवन्) पीड़ित न करता हुआ (सर्वान्, अर्थात्) अपने सब अभीष्टों को (सम्, साधयेत्) सिद्ध करे ॥

भा०-जैसे अग्नि में तपाये विना सुवर्णादि धातुओं के मल नष्ट नहीं होते वैसे ही अनादि काल से संचित ज्ञान प्रकाश को आच्छादित करने वाली हृदय की मलिनता योगाङ्गरूपयम नियमादि तप के सेवन किये विना कदापि नष्ट नहीं होती। और इन्द्रियों तथा मन को वशीभूत किये विना योगाङ्गों का अनुष्ठान भी कार्यसाधक नहीं होता। हृदय की मलिनता गये विना मनुष्य को ठीक सुख प्राप्त नहीं होता। यदि शरीर रक्षा का ध्यान छोड़ के अधिक लाग के साथ तप का सेवन किया जाय तो तप से शरीर रोगी हो के नष्ट होना सम्भव है इस से शरीर की रक्षा करता हुआ विशेष पीड़ा न देकर धीरे २ तप को संचित करे ऐसा करने से सांसारिक वा पारमार्थिक सब प्रकार का इष्ट सुख प्राप्त हो जाता है ॥ १०० ॥

पूर्वां सन्ध्यां जपँस्तिष्ठेत्सावित्रीमार्कदर्शनात्॥
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगार्क्षविभावनात्१०१

अ०-आर्कदर्शनात्सूर्यदर्शनावधि सावित्रीं सप्रणवव्याहृतिकामुक्तविधिना जपन् पूर्वां प्रातःकालिकां सन्ध्यां तिष्ठेदासनादुत्थाय जपेदित्यर्थः। सम्यक् आर्क्षविभावनात्सम्यङ्नक्षत्रदर्शनावधि सावित्रीं जपन् पश्चिमां सायङ्कालिकां सन्ध्यां समासीन उपविष्टः स्यादिति ॥

भा०-अत्र सन्ध्याद्वये विधिद्वयं बोध्यम्। तत्र जपविध्यर्थवादास्तु पूर्वमुक्ता एव। सम्प्रति कालपरिमाणमुत्थानोपवेशौ च विधीयेते। प्रधानाङ्गत्वं यद्यपि जपस्यैवास्ति उत्थानोपवेशौ च तदपेक्षयाऽप्रधानावेव स्तस्तथापि शास्त्राज्ञाविरुद्धकरणापेक्षयानुकूल्येनानुष्ठानं विशिष्टाभ्युदयहेतुकम्। उपेक्षिते च शास्त्रोपदेशे श्रद्धाव्यवस्थितिर्दुर्लभा-असत्यां च श्रद्धायां कर्मापि सम्यक्सेवितुमशक्यमिति ॥१०१॥

भाषार्थः—(आर्कदर्शनात्) उषःकाल के आरम्भ से सूर्योदय हो जाने समय तक (सावित्रीम्) ओ३म् तथा व्याहृतियों के सहित "तत्सवितु०" मन्त्र का (जपन्) जप करता हुआ (पूर्वाम्, सन्ध्याम्) प्रातःकाल की सन्ध्या में (तिष्ठेत्) खड़ा रहे तथा (सम्यक्, आऋक्षविभावनात्) सम्यक् तारागण दीखने के समय तक सावित्री का जप करता हुआ (पश्चिमाम्, तु, समासीनः) सायंकाल की सन्ध्या में बैठा रहे ॥

भा०—इस श्लोक में सायं प्रातः काल की दो सन्ध्या में दो विधि हैं। एक तो काल का परिमाण कि इतने २ समय तक सन्ध्या करे और द्वितीय खड़े होना तथा बैठना। क्योंकि जपविषयक विचार तो पूर्व कह चुके वैसा ही जानो उस के लिये यहां कोई विशेष विचार नहीं है। सन्ध्या के अङ्गों में जप ही सब से मुख्य है खड़े होना वा बैठना आदि जप की अपेक्षा गौण हैं इस लिये जप की सुगमता देख कर कभी कोई बैठने के समय खड़े हो के वा खड़े होने के समय बैठकर भी करले तो कोई दोष नहीं पर तोभी सर्वथा वा सर्वदा शास्त्र की आज्ञा का निरादर करना अच्छा नहीं आज्ञानुकूल करना विशेष फलदायक अवश्य है। और शास्त्राज्ञा की उपेक्षा कर देने पर श्रद्धा ठीक नहीं रहती तथा श्रद्धा के ठीक न रहने पर कर्म का भी ठीक सेवन नहीं होता इस से उपेक्षा नहीं करनी चाहिये॥१०१॥

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति ॥
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥

अ०—सावित्रीं जपन्पूर्वां प्रातःकालिकां सन्ध्यां तिष्ठन् पुरुषो नैशं निशायां कृतं साधारणमेनः पापं व्यपोहति दूरीकरोति त्यजति। पश्चिमां सायंकालिकां सन्ध्यां समासीन उपविष्टो जपंश्च दिवाकृतं स्वाभाविकेन्द्रियप्रणालिकया निष्पन्नमेनो हन्ति ॥

भा०—प्रातः शयनादुत्थितः सुखमुपविष्टो यदि सन्ध्यां विदधीत तदा शयनकालिकमवशिष्टमालस्यतन्द्रादिकं वर्धेतेति सम्भवति तदर्थं प्रातस्तिष्ठन् सावित्रीं जपेदिति विहितम्। सायं तु कर्मप्रवाहादुपरतं सुखासीनमपि तन्द्रालस्या-

दिकं स्वयमेव न बाधते। प्रातःकालीना निद्रापि हृद्या भवतीति प्रत्यात्मवेदनीयमेतत्। यथा वायुगत्यादिना शरीरवस्त्रादिषु धूल्यादिजनितं मालिन्यं प्रतिदिनं जायते तच्च स्नानप्रक्षालनादिनित्यशौचेन निवर्त्तते तथैवेन्द्रियप्रणालिकया साधारणा ये कुसंस्काराः पापरूपाः प्रत्यहमात्मदूषकाः संचीयन्ते। ते प्रात्यहिकसन्ध्योपासनादिना निवर्त्तन्ते विशिष्टपापानां तु प्रायश्चित्तभोगाभ्यामेव निवृत्तिः सम्भवति॥

भाषार्थः-सावित्री का (जपन्) जप करता (पूर्वांसन्ध्याम्, तिष्ठन्) प्रातःकाल की सन्ध्या में खड़ा होने वाला पुरुष (नैशम्, एनः, व्यपोहति) रात्रि में किये साधारण पाप को छोड़ देता हटा देता है तथा (पश्चिमां, तु, समासीनः) सायंकाल की सन्ध्या में बैठा जप करता हुआ (दिवाकृतम्, मलम्, हन्ति) दिन में किये साधारण कुसंस्काररूप पाप को नष्ट कर देता है॥

भा०-प्रातःकाल सय्या से उठा पुरुष सुख पूर्वक बैठ कर यदि सन्ध्या करे तो सोते समय का कुछ शेष रहा आलस्य तन्द्रादि फिर बढ़े यह सम्भव है इस लिये प्रातःकाल खड़े हो कर सावित्री का जप करना विधान किया गया है। और सायंकाल में कर्मों के प्रवाह को रोक कर सुख पूर्वक बैठने पर भी आलस्यादि बाधक नहीं हो सकते किन्तु दिन में किये व्यवहारों वा कर्मों में मन का भागना सम्भव है इस लिये मन को वश में करना मुख्य है। और प्रातःकाल की निद्रा भी अतिप्रिय होती है यह भी सभी जानते हैं। जैसे वायु चलने आदि से शरीर वा वस्त्रादि में धूलि आदि पड़ के प्रतिदिन मल होता है उस को प्रतिदिन स्नान वा धोने आदि से हटाते हैं वैसे ही देखने सुनने आदि इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति से जो आत्मा वा मन को दूषित करने वाले साधारण पाप रूप कुसंस्कार प्रतिदिन संचित होते हैं वे नैत्यिक संध्योपासनादि से नित्य २ छूटते जाते हैं और विशेष पापों की निवृत्ति तो प्रायश्चित्त वा भोग से ही हो सकती है। यदि सन्ध्योपासनादि कर्म नित्य न किया जाय तो शरीर जैसे विना स्नान बहुत दिन में अधिक मलिन हो जाता वैसे आत्मा और मन भी अधिक मलिन हो जाते हैं॥ १०२॥

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्
स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद्द्विजकर्मणः १०३

अ०—यः पुरुषः पूर्वां सन्ध्यां जपन्न तिष्ठति यश्च पश्चिमां नोपास्ते स नित्यकर्मपरायणैः पुरुषैः सर्वस्मात्सामाजिकद्विजकर्मणो वेदाध्ययनाध्यापनयजनयाजनादिकर्मतः शूद्रवद्बहिष्कार्यः ॥

भा०—यथा मलाधिक्यसंसर्गाद्ग्लायन्तो मलिनवस्त्रादिसंगं त्यजन्ति तथैव प्रात्यहिकसन्ध्योपासनसंस्कारेण हीनं मलिनान्तःकरणं पुरुषमपि शिष्टाः स्वसमुदायात्पृथक्कुर्युः कुर्वन्ति वा । यदा च संस्कारहीनानामेव बाहुल्यं भवति तदा तएव कञ्चित्संस्कारिणं स्वसमाजान्निस्सारयन्ति स्वयमेव वा तत्समाजात्स पृथग्भवति । निन्दारूपोऽयमर्थवादः । यदि त्यक्तनित्यकर्मा यथोक्तं प्रायश्चित्तं विधाय पुनर्नित्यकर्मलोपं न कुर्यात्तदा स शिष्टसमुदायान्निःसारितोऽपि पुनः सम्मेलनीय इति ॥ १०३ ॥

भाषार्थः—(यः) जो पुरुष (पूर्वान्तु, न, तिष्ठति) प्रातःकाल की सन्ध्या में जपता हुआ खड़ा नहीं होता (च) और (यः) जो (पश्चिमाम्) सायंकाल की सन्ध्या में (नोपास्ते) बैठा जप नहीं करता (सः) वह नित्य कर्म में सदा तत्पर पुरुषों को (सर्वस्मात्, द्विजकर्मणः) वेद पढ़ने पढ़ाने तथा यज्ञ करने कराने आदि कर्मों से (शूद्रवत्) शूद्र के तुल्य (बहिष्कार्यः) बाहर कर देना चाहिये क्योंकि शूद्र के तुल्य वह भी अधिकारी नहीं है ॥

भा०—जैसे मलिन वस्त्रादि के धारण से ग्लानि रखने वाले उस को त्याग देते और ठीक शुद्ध होने पर फिर उस को स्वीकार करते हैं वैसे ही नित्य सन्ध्योपासन के संस्कार से हीन मलिनान्तःकरण पुरुष को भी शिष्ट लोग अपने समुदाय से पृथक् कर दें वा कर ही देते हैं । और जब संस्कार हीन पुरुषों की ही अधिकता हो जाती है तब वे किसी एक दो संस्कारी को अपने समाज

से अलग कर देते वा वह स्वयमेव उन से अलग हो जाता है। यह निन्दा रूप अर्थवाद है। यदि नित्य कर्म का त्यागी मनुष्य प्रायश्चित्त कर के फिर नित्य कर्म का लोप न करे तो शिष्ट समुदाय से निकाले हुए को भी फिर मिला लेना चाहिये। ऐसे ही कामों से पहिले जातिच्युत करने की चाल थी यही ठीक है ॥१०३॥

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः॥
सावित्रीमप्यधीयीतगत्वारण्यंसमाहितः॥१०४॥

अ०—अरण्यं गत्वाऽपां समीपे नद्यादितटे शुद्धजलवायुके प्रदेशे नियतोऽन्यविषयां क्रियां विहाय समाहितएकाग्रचेता नैत्यकं प्रात्यहिकमाचमनादिकर्मविधिमास्थित आरभमाणोऽन्यवेदभागानां केनापि कारणेनाध्ययनं कर्त्तुमशक्तश्चेत्केवलां सप्रणवव्याहृतिकां सावित्रीमप्यधीयीत ॥

भा०—ग्रामनगरादिजनसमुदायाद्बहिरेकान्तशुद्धप्रदेशे नद्यादितटे सायंप्रातः सामान्यतया द्विजैर्विशेषतो ब्राह्मणैराचमनादिकरणानन्तरं नित्यनियमेन समाहितचेतसा क्रमेणाशयबोधपूर्वकं वेदाध्ययनं कार्यमिति ब्रह्मयज्ञस्य विधानं बोध्यम्। यद्यल्पाभ्यासान्मन्दबुद्धित्वाद्वा सम्पूर्णं वेदं क्रमेणाध्येतुमशक्तस्तदोक्तविधिना केवलां सावित्रीमेव वा प्रत्यहं जपेदयं च वेदमतानुगानां परमो धर्मइति ॥१०४॥

भाषार्थ—(अरण्यं, गत्वा) एकान्त देश में जाकर (अपां, समीपे) जहां का शुद्ध जल वायु हो ऐसे नदीतट आदि प्रदेश में (नियतः) अन्य प्रकार के कामों को छोड़ कर इन्द्रिय वशीकरण नियम से (समाहितः) चित्त को एकाग्र करके (नैत्यकम्) नित्य कर्त्तव्य आचमनादि कर्म के (विधिम्) विधान को (आस्थितः आरम्भ करके किसी कारण अन्य वेदस्थल को पढ़ने में असमर्थ हो तो (सावित्रीमप्यधीयीत) प्रणव व्याहृतियों सहित केवल सावित्री का ही बार २ पाठ और अर्थाभ्यास करे ॥

भा०—ग्राम वा नगरादि मनुष्यों के समुदाय से बाहर शुद्ध एकान्त नदीतटादि देश में जाकर सायं प्रातःकाल सामान्य कर तीनों वर्ण और विशेष कर ब्राह्मण को चाहिये कि आचमनादि करने पश्चात् जितेन्द्रियतासहित चित्त को एकाग्र कर नित्य नियम के साथ अर्थज्ञानपूर्वक क्रम से वेदपाठ किया करे यही ब्रह्मयज्ञ का विधान है। यदि व्याकरणादि वेदाङ्ग न पढ़ने वा बुद्धि के मन्द होने आदि कारण से क्रम से सम्पूर्ण वेद का अध्ययन न कर सके तो उक्त प्रकार से केवल सावित्री का ही प्रतिदिन जप करे यही वेदमतानुयायियों का परमधर्म है॥ १०४॥

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यिके ॥
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि १०५

अ०—वेदोपकरणे वेदपाठार्थसुगमार्थप्रवृत्तव्याकरणादि वेदाङ्गानामध्ययने, नैत्यिके स्वाध्याये ब्रह्मयज्ञसन्ध्योपासनादिनामके, होममन्त्रेषु होमकर्मणि विनियुक्तमन्त्रेषु होमार्थं पर्वादिष्वनध्यायदिनेषु पठ्यमानेषु, अनध्याये परिगणितानध्यायसमयेऽनुरोधो नास्ति ॥

भा०—वेदाध्ययनानध्यायाश्चतुर्थे वक्ष्यन्ते। तेषामयमपवादः। यथा प्रात्यहिकभोजनशौचस्नानादिकर्मणां कस्मिंदनध्यायो नास्ति प्रतिदिनं सर्वैः क्रियन्तेएव। तथैव जपयज्ञविधियज्ञब्रह्मयज्ञवेदाङ्गाध्ययनादीनामपि नित्यकर्मत्वं बोध्यम्। कर्त्तुमशक्तौ तु भोजनादिवत्तेषामप्यनध्यायोऽवार्यएव ॥ १०५ ॥

भाषार्थः—(वेदोपकरणे,चैव) वेद के पाठ और अर्थ ज्ञान की सुगमता के लिये बने व्याकरणादि वेदाङ्गों के पढ़ने (स्वाध्याये,चैव,नैत्यिके) ब्रह्मयज्ञ सन्ध्योपासनादि नामक नित्य स्वाध्याय करने (चैवहि,होममन्त्रेषु) और पर्वादि अनध्याय दिनों में अग्निहोत्रादि होमार्थ विनियुक्त मन्त्रों के पढ़ने में (अनध्याये) चौथे अध्याय में गिनाये वेदानध्याय के समय में (अनुरोधः,नास्ति) गणना अभीष्ट नहीं है॥

भा०–वेद पढ़ने के अनध्याय चतुर्थाध्याय में कहेंगे उन का यह पुरस्तात् अपवाद है। जैसे नित्य के भोजन शौच स्नानादि कर्मों का कोई अनध्याय नहीं है प्रतिदिन सब करते ही हैं वैसे ही जपयज्ञ विधियज्ञ और ब्रह्मयज्ञादि वा वेदाङ्ग पढ़ना भी नित्य कर्म मानो उस का कोई अनध्याय नहीं अर्थात् मृतक आशौच वा सूतक में भी जितने काल भोजन स्नानादि का अनध्याय हो तब तक सन्ध्योपासनादि का भी अनध्याय रहो अधिक नहीं और रोगादि से कर्त्ता के असमर्थ होने पर भोजनादि के तुल्य उन का भी अनध्याय मानने ही पड़ेगा ॥१०५॥

नैत्यिके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम्
ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम् ॥१०६॥

अ०–हि यतस्तद् ब्रह्मसत्रं सर्गास्थितिकाले एकरसतया ब्रह्मणः परमात्मनो वेदस्य वा विद्यमानत्वं सततं वर्त्ततइति सत्रं तादृशं स्मृतं मतं तस्मात्तस्मिन्नैत्यिके नास्त्यनध्यायः। ब्रह्मणः परमेश्वरस्याहुतिराह्वानरूपं हुतं होमः पुण्यं सदैव पुण्यसंचयहेतुकं बोध्यम्। तस्य ब्रह्मसत्रस्यानध्याये यदध्ययनं तदेव यज्ञसमाप्तिसूचकं वषट्कृतमसमाप्तिरेव समाप्तिर्ज्ञातव्या ॥

भा–यथा नित्यवस्तुषु ये सर्गारम्भे परमात्मना नियमाः प्रारब्धास्तेषु कदाप्यनध्यायो न दृश्यते। नित्यं सूर्य उदेति वायुश्चलति वह्निस्तपति–आपो द्रवन्ति। सूर्याग्नौ भौतिकाग्नौ वा सृष्टिनियमेनैवानेकानि वस्तून्यनिशं हूयन्ते न कदापि प्रलयावधि सृष्टिनियमा उपरता भवन्ति तस्मात्तेषां ब्रह्मसत्रत्वं जायते। तथैव वाच्यस्येश्वरस्य तद्वाचकस्य वेदस्य चोभयविधब्रह्मणः सातत्यं सत्रं प्रलयावधि मनुष्यैरपि वाच्यवाचकसम्बन्धप्रकाशनेन स्वेषामिष्टसाधनाय स्मरणीयं न तत्र कश्चिदनध्यायः कार्यः ॥१०६॥

भाषार्थः—(हि) जिस कारण (तत्) वह (ब्रह्मसत्रम्) सृष्टि के स्थिति समय में परमेश्वर वा ब्रह्म नाम वेद की निरन्तर बराबर विद्यमानता रहती है इसी से उस को ब्रह्मसत्र (स्मृतम्) माना है इस से उस (नैत्यके) नित्य वस्तु में (नास्ति,अनध्यायः) अनध्याय नहीं है (ब्रह्माहुतिहुतम्,पुण्यम्) वेदमन्त्रों द्वारा परमेश्वर का नित्य २ पुकारना रूप होम सदा ही पुण्य संचय का हेतु है (अनध्यायवषट्कृतम्) अनध्याय के समय भी ब्रह्मयज्ञ का अनध्याय न होना ही होना है।

भा०—जैसे नित्य वस्तुओं में परमेश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में जैसे नियमों का आरम्भ कर दिया है उन में कभी अनध्याय नहीं दीखता। नित्य सूर्य उगता वायु चलता पृथिवी धारण करती अग्नि तपता और जल बहते हैं। सूर्याग्नि वा भौतिकाग्नि में सृष्टिनियम से ही नित्य होम हो रहा है प्रलय पर्यन्त नित्य नियम कभी रुकते नहीं। वैसे ही वेद में कहे परमेश्वर के नित्य गुण कर्म स्वभाव सदा ही विद्यमान हैं इसी से वह ब्रह्मसत्र है मनुष्यों को चाहिये कि अपनी इष्टसिद्धि के लिये वेद के वाच्य वाचक सम्बन्ध के प्रकाशन द्वारा नित्य परमेश्वर का स्मरण करें कभी अनध्याय न मानें ॥ १०६ ॥

यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः
तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु ॥१०७॥

अ०—अर्थवादोऽयं प्रशंसार्थः। यः कोऽपि द्विजो नियतो वशीकृतेन्द्रियः स्नानादिनित्यकर्मणा शुचिर्भूत्वा विधिना प्राक्कूलान्पर्युपासीनइत्याद्युक्तविधानेन नित्यनियमेनाब्दं संवत्सरमितकालावध्यपि स्वाध्यायं वेदमधीते तस्य तदर्थमेष पयो दधि घृतं मधु नित्यमेव क्षरति प्रापयति ॥

भा०—अत्र पयआदिपदान्युपलक्षणार्थानि पयइति द्रवसात्त्विकवस्तूनां दधीति विकृतपुष्टवस्तूनां घृतमिति स्निग्धसारवस्तूनां मधिवति च मधुराणामुपलक्षकम्। स्थालीपुलाकन्यायेन चेदं फलप्रदर्शनम्। यदि कोऽपि स्वाध्यायस्य

फलं प्रत्यक्षेणानुभवितुमिच्छेत्स संवत्सरकालावधि नियमेन स्वाध्यायमधीयीत । यदा चाल्पकालिकएव स्वाध्यायो जन्मावधि शुभफलप्रदस्तदा बहुकालिकस्तु बहुफलः स्यादत्र कः सन्देहः । अत्रान्ये पयआदिपदचतुष्टयेन धर्मार्थकाममोक्षफलान्यभिदधति । स च लाक्षणिको गौणार्थः कथमपि सम्भवति ॥ १०७ ॥

भाषार्थः-वेदाध्ययन विधि का यह प्रशंसा के लिये अर्थवाद है (यः) जो कोई द्विज (नियतः) इन्द्रियों वा मन को वश में कर और (शुचिः) स्नानादि नित्य कर्म से शुद्ध हो कर (विधिना) पूर्वोक्त विधान के सहित नित्य नियम से (अब्दम्) एक वर्ष भर भी (स्वाध्यायम्) वेद को पढ़ता है (तस्य) उस के लिये (एषः) यह स्वाध्याय (पयः) दूध (दधि) दही (घृतम्) घी और (मधु) मिठाई (क्षरति) पहुंचाता है ॥

भा०-यहां पय आदि शब्द उपलक्षणार्थ हैं । पयः यह सत्त्वगुणी पिघले पदार्थों का, दधि यह विकृत हुए पुष्ट पदार्थों का घृत यह चिकने सार वस्तुओं और मधु यह मीठे पुष्ट पदार्थों का उपलक्षक है । यदि कोई स्वाध्याय के फल का प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहे तो वह एक वर्ष पर्यन्त नियमानुकूल वेदाध्ययन करे । स्थालीपुलाक न्याय से यह फल दिखाना है । जब थोड़े काल का भी स्वाध्याय जन्मभर शुभ फल देता है तो बहुत काल तक सेवन किया ब्रह्मयज्ञ बहुत फल वाला हो इस में क्या सन्देह है । यहां कोई लोग पय आदि चार पदों से धर्मार्थ काम मोक्ष फलों का ग्रहण करते हैं सो वह लाक्षणिक गौण अर्थ किसी प्रकार हो सकना सम्भव है किन्तु वह मुख्य शब्दार्थ नहीं है ॥ १०७ ॥

अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधःशय्यां गुरोर्हितम् ॥
आसमावर्त्तनात्कुर्यात्कृतोपनयनो द्विजः ॥१०८॥

अ०-विधिरयम्-कृतोपनयनो द्विजो ब्राह्मणादिरासमावर्त्तनाद्ब्रह्मचर्यकाले-अग्नीन्धनमग्नेः प्रज्वालनं नित्यसमिद्धोमार्थं भैक्षचर्यां भिक्षायाचनामधःशय्यां खट्वाद्यच्छ्र-

तासनशयनत्यागं गुरोर्हितं गुरोः सुखहेतुकं सेवनं कुर्यात् ॥

भा०—यच्च ब्रह्मचारिणएव कृत्यं तत्र तादृशपदैरेव प्रदर्शितम् । सामान्यतयोक्तानि च कृत्यानि स्नातकादिभिरपि कार्याणयेव । ब्रह्मयज्ञनामकं वेदवेदाङ्गरूपमध्ययनं नियमेनानुतिष्ठतेदमपि सहैव सेव्यमित्याशयो नत्वेतदेव कार्यमिति ॥१०८॥

भाषार्थः—यह श्लोक विधिवाक्य है (कृतोपनयनः) यज्ञोपवीत संस्कार जिस का किया गया ऐसा (द्विजः) ब्राह्मणादि (आसमावर्त्तनात्) समावर्त्तन संस्कार के समय तक ब्रह्मचर्य काल में (अग्नीन्धनम्) समिधा होम अग्निहोत्र के लिये अग्नि को जलाना (भैक्षचर्याम्) भिक्षा मांग कर खाना (अधःशय्याम्) खट्वादि ऊंचे आसन पर सोने लेटने बैठने के त्याग और (गुरोः, हितत्) गुरु को सुख पहुंचाने वाली सेवा इन कामों को (कुर्यात्) किया करे ॥

भा०—जहां ब्रह्मचारी का ही कर्त्तव्य कहना है वहां वैसे ही पदों से कथन है इसी लिये सामान्य पदों से कहे कर्त्तव्य स्नातक आदि को भी करने चाहिये । ब्रह्मयज्ञ नामक वेद वेदाङ्गरूप शास्त्रों के अध्ययन का नियम से सेवन करने वाले को अग्निहोत्रादि भी साथ ही करना चाहिये किन्तु केवल इतना ही कर्त्तव्य नहीं ॥ १०८ ॥

आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः ॥
आप्तःशक्तोऽर्थदःसाधुःस्वोऽध्याप्यादशधर्मतः

अ०—अयमपि विधिः—चत्वारिंशदुत्तरशततमपद्योक्तलक्षणस्याचार्यस्य पुत्रो जन्मतएव लब्धवेदाध्ययनसंस्कारः, शुश्रूषुः शुश्रूषणशीलः, ज्ञानदः स्वाभाविकसंस्कारेण तत्त्वं परीक्ष्य तादृशसम्मतिप्रदः, धार्मिको धर्माधर्मसन्धौ धर्म्ये पथि गमनशीलः, शुचिर्बाह्याभ्यन्तरशौचरतः, आप्तो यथादृष्टश्रुतस्य सत्यस्यैव वक्ता, शक्तो धारणशीलः स्मृति-

मान्, अर्थदो धनादिसन्निहितप्राप्तवस्तुदानेऽलुब्धः, साधुः सौम्यस्वभावः, स्वः स्वस्य पुत्रो ज्ञातिर्वा दर्शते धर्मतोऽध्यापनं मम निष्कारणो धर्मइति मत्वाऽधीतवेदवेदाङ्गब्राह्मणेन धनादिना स्वोपकाराभावेऽप्यध्याप्याः ॥

भा०—वेदादिशास्त्राण्यधीत्य ये कृतकार्याः प्राप्तसुफलाः सम्भवन्ति तएवाध्ययनाधिकारिणः। अध्यापकेन परीक्ष्याधिकारिणएव शिष्या अध्याप्याः। अतोऽन्ये च यदि क्षुधा सीदता धनादिप्राप्तयेऽध्याप्याइत्यर्थादापद्यते तर्हि तादृशमध्यापनं न कार्यमिति स्वयमेव वक्ष्यति ॥ १०९ ॥

भाषार्थः—यह भी विधिवाक्य है वेदादि शास्त्र पढ़े हुए को चाहिये कि वह अन्यों को पढ़ाना अपना धर्म माने (आचार्यपुत्रः) वेदादि शास्त्र जानने वाले का पुत्र कि जिस को जन्म से ही वेद पढ़ने का गन्ध लगा हो (शुश्रूषुः) भक्ति श्रद्धा से सेवा करने वाला (ज्ञानदः) स्वाभाविक संस्कार से तत्त्वज्ञान कर वैसी सम्मति का दाता (धार्मिकः) धर्माधर्म दोनों में जाना सम्भव हो वहां धर्ममार्ग में ही झुकने वाला (शुचिः) बाहर भीतर से शुद्ध रहने में तत्पर (आप्तः) जैसा देखा वा सुना है वैसा ही सत्य कहने वाला (शक्तः) पढ़ी सुनी बात का स्मरण रखने वाला (अर्थदः) परोपकारार्थ अपने वस्तु के देने में निर्लोभ (साधुः) सीधे स्वभाव वाला और (स्वः) अपना पुत्र वा कुटुम्बी आदि इन दशों को (धर्मतः) पढ़ाना मेरा धर्म है ऐसा मान कर वेदवेदाङ्ग पढा ब्राह्मण धनादि से अपना प्रत्युपकार न होने पर भी (अध्याप्याः) पढावे ॥

भा०—वेदादि शास्त्रों को पढ़ कर जो कृतकार्य अच्छे फल को प्राप्त होने सम्भव हैं वेही पढ़ने योग्य अधिकारी हैं। अध्यापक को चाहिये कि विद्या के अधिकारी शिष्यों की परीक्षा करके ही पढावे। यदि भूंख मरता हो तो धनादि के प्राप्त करने को इन से भिन्न अनधिकारियों को भी पढ़ाना अर्थापत्ति से प्राप्त है तो वैसे अध्यापन का भी आगे स्वयमेव निषेध कहेंगे ॥ १०९ ॥

नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ११०

अ०—केनापि शास्त्रीयविषयमपृष्टो गुरुः शिष्यो वाऽन्यायेनानुचितरीत्या छलेन वा पृच्छतोऽपि कस्यचिन्न ब्रूयात्तत्त्वं नोपदिशेत्। मेधावी पुरुषो जानन्नपि लोके जडवन्मूकइवाचरेत् ॥

भा०—विधिरयम्—अध्यापनमुपदेशश्चैकएवाध्ययनं धर्माद्युपदेशग्रहणं च समानकोटिस्थमेव। शास्त्रीयविषये कृतविरुद्धनिश्चयः कोऽपि किमपि करोतु तत्रापृष्टेन छलादिपूर्वकं पृष्टेन वा विदुषा तद्विरुद्धस्तत्त्वोपदेशो नैव कार्यः। नचायं कूपपातादन्धवारणप्रतिषेधो नापि च सामान्यतया तत्त्वोपदेशनिषेधोऽपितु कमपि विशिष्टं धर्मानुकूलप्रश्नमन्तरा नोपदिशेत्त्वयैवं न कार्यमिति। कूपादिभ्योऽन्धादीनां तु वारणमेव धर्मः कूपे पतन्तमन्धं पश्यन्नपि न विज्ञापयेत्तदाऽधर्मएव स्यात्। वेदोक्ततत्त्वज्ञानविषयाणां सामान्येन प्रचारोऽपि कर्त्तव्यएव नच तेन कापि हानिः सम्भवति। यश्च प्रष्टुं नेच्छति प्रतिवचनं च श्रोतुं ग्लायति तत्रैवापृष्टइति योज्यं ये च प्रष्टमशक्ता अतो न पृच्छन्ति सामान्येन हितमिच्छन्त्येव तेभ्य उपदेशो देयएव नतु प्रतिषेधकोटौ सङ्ख्येयः ॥११०॥

भाषार्थः—(नापृष्टः, कस्यचिद्ब्रूयात्) शास्त्रीय विषय में विना पूछे किसी को अध्यापक वा शिष्य कुछ भी सम्मति न देवे (न चान्यायेन, पृच्छतः) अनुचित रीति वा छलादि के साथ पूछने वाले को भी कुछ उत्तर न देवे (मेधावी) विचारशील पुरुष (जानन्नपि) उस विषय को जानता हुआ भी (लोके) लोक में (जडवत्) गूंगे के तुल्य (आचरेत्) आचरण करे ॥

भा०—यह विधि है—पढ़ाना वा उपदेश करना एक, और पढ़ना वा उपदेश का ग्रहण एक ही बात है। जो पढ़ना वा उपदेश लेना नहीं चाहता वा अन्याय से पूछता है उस को न पढ़ावे न उपदेश करे। शास्त्रीय विषय में वि-

रुद्ध निश्चय करके कोई कुछ करो विना पूछे वा अन्याय से पूछने पर विद्वान् को कुछ न कहना चाहिये। कुए में गिरते हुए अन्धे को हटाने वा सामान्य कर तत्त्वसिद्धान्त के उपदेश का यह निषेध नहीं है किन्तु धर्मानुकूल पूछे विना किसी पुरुष को उपदेश न करे कि तुम को ऐसा करना चाहिये। कुए आदि से अन्धे आदि को हटाना तो धर्म ही है कुए में गिरते हुए अन्धे को देख कर भी जो न जतावे तो अधर्म ही होगा। वेदोक्त तत्त्वज्ञान विषयों का सामान्य कर प्रचार करना भी धर्म ही है क्योंकि उस से किसी की कुछ हानि नहीं हो सकती। जो पूछना नहीं चाहता और न दूसरे से कुछ सुनना चाहता है वहीं कहने का निषेध है और जो पूछने की शक्ति न होने से नहीं पूछते और हित चाहते हैं उन को विना पूछे भी उपदेश देना चाहिये वैसे उपदेश का निषेध नहीं है ११०

अधर्मेण च यः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति॥
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाधिगच्छति॥१११॥

अ०—अधर्मेण च यः प्राह प्रष्टुं श्रोतुमनिच्छन्तमपि यस्तद्विरुद्धं तत्त्वं ब्रवीति यश्चाधर्मेण छलादिना पृच्छति। तयोरन्यतरएकः प्रैति विरुद्धमनिष्टफलमाप्नोति धर्मविरोधादकाले वा म्रियते परस्परं विद्वेषं वाधिगच्छति॥

भा०—पूर्वश्लोकस्यार्थवादोऽयं निन्दारूपः। धर्मादिशास्त्रीयविषये प्रश्ना उत्तराणि च बहुविधाधर्मेण बहुप्रकाराणि सम्भवन्ति। धर्माधर्मतारतम्ये च फलतारतम्यं बोध्यम्। अतएवानिकृष्टफलविकल्पप्रदर्शनं सार्थकम्। तस्माद्वेदादिसम्बद्धधर्माधर्मविषये धर्मानुगतशुद्धचेतसैव प्रश्नोत्तराणि कार्याणि। अत्रान्यतरइति कथनेन तयोर्यः प्रकर्षेणाधर्मरतः सएव विशिष्टमनिष्टमाप्नोतीति सूचितम्॥१११॥

भाषार्थः—(अधर्मेण, च, यः, प्राह) जो पूछना वा सुनना कुछ नहीं चाहता उस को भी जो उस की इच्छा से विरुद्ध तत्त्वोपदेश कहता (यश्चाधर्मेण, पृच्छति) और जो अधर्म छलादि से पूछता है (तयोरन्यतरः, प्रैति) उन दोनों

में से एक विरुद्ध अनिष्ट फल पाता वा धर्म के साथ अधिक विरोध करने से बीच ही में मर जाता (वा) अथवा (विद्वेषमधिगच्छति) परस्पर विद्वेष को प्राप्त हो जाता है ॥

भा०—पूर्व श्लोकस्य विधि का यह निन्दारूप अर्थवाद है । शास्त्रसम्बन्धी धर्मादि विषय में विविध प्रकार के अधर्म से युक्त प्रश्न वा उत्तर अनेक प्रकार के हो सकते हैं । और उन के पूछने कहने में धर्माधर्म की न्यूनाधिकता होने से फल का न्यूनाधिक होना जानो इसी से अनिष्ट मरणादि फल का विकल्प दिखाना सार्थक है । इस कारण वेदादि से सम्बन्ध रखने वाले धर्माधर्म विषय में धर्मानुकूल शुद्ध निष्कपट चित्त से ही प्रश्नोत्तर करने चाहिये । यहां अन्यतर शब्द के कहने से उन दोनो में जो अधिक अधर्मी हो वही विशेष अनिष्ट फल को पाता है यह सूचित किया है ॥ १११ ॥

धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वापि तद्विधा ।
तत्र विद्या न वप्तव्या शुभं बीजमिवोषरे ११२

अ०—यत्र शिष्ये धर्मः सम्प्रति धर्मेणाध्ययनादि कृत्यं भविष्यति काले सुखसम्भावना च न स्यातां वाऽथवा तद्विधा धर्मसुखानुकूला धर्मसुखहेतुका शुश्रूषापि यत्र न स्यात् तत्र शुभं बीजमूषर इव विद्या न वप्तव्या ॥

भा०—अयमपि विधिशेषोऽर्थवादः । यथोषरउप्तं शुभं बीजं न प्ररोहति फलाशा तत्र कीदृशी तथैव धर्मादिशून्ये दुर्हृदि पुरुषे विद्योप्ता न प्ररोहति । अतो धनादिदानाय यथा सुपात्रपरीक्षणमावश्यकं तथैव धनाद्यपेक्षयापि बहूत्तमविद्यारत्नस्य स्थापनाय पात्रापात्रविचारः कर्त्तव्यएव ॥ ११२ ॥

भाषार्थः—(यत्र, धर्मार्थौ, न, स्याताम्) जिस शिष्य के हृदय में धर्म का अङ्कुर सम्प्रति न हो और आगे सुख की सम्भावना न हो (वा) अथवा (तद्विधा, शुश्रूषाऽपि) धर्म वा सुख को बढाने वाली धर्म वा सुख के अनुकूल सेवा भी जिस में न हो (तत्र) उस शिष्यरूप खेत में (शुभं बीजमिवोषरे) जैसे अच्छे

बीज को ऊषर भूमि में नहीं बोते वैसे (विद्या, न, वप्तव्या) विद्या नहीं बोनी चाहिये ॥

भा०–यह भी विधि का शेषरूप अर्थवाद है । जैसे ऊषर भूमि में अच्छा बीज बोया जाय तो नहीं जमता तो उस से फल की आशा कैसी ? वैसे ही धर्मादि से शून्य नीच विचार वाले पुरुष में बोई विद्या नहीं जमती । इस कारण जैसे धन अन्न वस्त्रादि दान के लिये सुपात्र की परीक्षा करना आवश्यक है वैसे धनादि सब वस्तु से उत्तम विद्यारूप रत्न को रखने के लिये पात्रापात्र का विचार करना भी आवश्यक है ॥ ११२ ॥

विद्ययैव समं कामं मर्त्तव्यं ब्रह्मवादिना ॥
आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत् ११३

अ०–ब्रह्मवादिना वेदाध्यापकपुरुषेण कामं यथेष्टमवश्यं वा विद्ययैव समं सह मर्त्तव्यम् । किन्तु घोरायां भयप्रदायामापद्यपि हि दुर्भिक्षादौ भक्ष्यमन्तरा मरणावसरे प्राप्तेऽपि एनां विद्यामिरिणे ऊषरवद्धर्मादिशून्यहृदये पुरुषे न वपेत् । न स्थापयेत् ॥

भा०–यथा येन कस्मादपि धनमादीयते तेनान्येभ्योऽपि देयम् । यश्च स्वयमादत्तेऽन्यस्मै च न ददाति तस्यादानमप्यधर्मएव । तथैव येन कस्मादपि पठितं तेनान्येऽपि पाठ्या एवायमेव धर्मः । एवमध्यापनं धर्मोऽनध्यापनं च न धर्मस्तथापि कुपात्रशिष्याय विद्या न देया विपरीतानिष्टफलसम्भवात् । यतोऽनध्यापनजन्याधर्मापेक्षयाऽपि अध्यापनधर्मे निकृष्टाध्यापनमधिकतरोऽधर्मः ॥ ११३ ॥

भाषार्थः–(ब्रह्मवादिना) वेदार्थ जानने वाले वेद पाठी पुरुष को चाहिये कि (विद्ययैव, समम्) विद्या को साथ लिये ही (कामम्) यथेष्ट वा अवश्य (मर्त्तव्यम्) मरजावे किन्तु (घोरायाम्, आपद्यपि, हि) दुर्भिक्षादि भयंकर समय में भोजन मिले विना मरने का समय आजाने पर भी (एनामिरिणे, न,

वपेत्) इस विद्या को ऊषर भूमि के तुल्य धर्मादि से शून्य हृदय वाले पुरुष में न बोवे न धरे ॥

भा०–जो ब्राह्मण किसी से धनादि का दान लेता है वह अन्यों को भी धनादि का दान देवे जो स्वयं लेता तथा अन्यों को अपना नहीं देता उस का दान लेना अधर्म ही है वैसे जिसने किसी से पढ़ा है वह अन्यों को भी पढ़ावे यही धर्म है । इस प्रकार पढ़ाना धर्म है और न पढ़ाना धर्म नहीं तथापि विपरीत वा अनिष्ट फल होने की सम्भावना से कुपात्र शिष्य को न पढ़ावे क्योंकि अध्यापन छूटने से होने वाले अधर्म की अपेक्षा भी अध्यापन धर्म में रह कर नीच को पढ़ाने से अधिक अधर्म है ॥ ११३ ॥

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिष्टेऽस्मि रक्ष माम् ॥
असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥११४॥

अ०– ब्राह्मणमेत्य प्राप्य विद्या–आह–ते तवाहं शेवधिर्निधिरस्मि त्वं मां निधिवद्रक्ष । असूयकाय मां मा दाः मादेहि तथाहं वीर्यवत्तमा तव कार्यसाधनेऽतिसमर्था स्याम् ॥

भा०–"विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मां शेवधिष्टेऽहमस्मि । असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्" ॥ अयं च वैदिको मन्त्रो निरुक्तपूर्वषट्के व्याख्यातः । अस्यैवाशयो भृगुणा पदान्तरैः स्पष्टतरं प्रदर्शितः । श्लोकेऽसूयकायेति पदमनधिकारिण उपलक्षकम् । तेनानृजवइत्यादिसमुच्चेयम् । विद्यापदेनात्रातिपवित्रस्य वेदस्यैव ग्रहणं बोध्यम् । यथा मलिनसंसर्गाद्रक्षितमेव वासः शरीरं मनो वा शुद्धं सत्सुखहेतुकं भवति संसर्गदोषदूषितं च दुःखहेतुकमिति तथैव निकृष्टाध्यापनदोषसंसर्गाद्रक्षिता विद्या सुखकरी भवति दूषिता च दुःखहेतुः ॥ अध्यापनं ब्राह्मणस्यैव कर्म तस्मादेव ब्राह्मणं प्रति कथनमेतत् ॥११४॥

भाषार्थः-(विद्या, ब्राह्मणम्, एत्य, आह) विद्या ब्राह्मण को प्राप्त हो कर कहती है कि (ते,शेवधिरस्मि) मैं तेरा कोश [खज़ाना] हूं (माम्,रक्ष) तू मेरी कोश के तुल्य रक्षा कर (माम्, असूयकाय, मा दाः) निन्दक नीच पुरुष को मुझे मत दे (तथा,स्याम्, वीर्यवत्तमा) तो मैं ठीक २ तेरे कार्य साधने में समर्थ होऊं ॥

भा०-(विद्याहवै०) यह वेदसम्बन्धी किसी शाखा का मन्त्र निरुक्त के पूर्वार्द्ध में व्याख्यात है । इसी का आशय भृगु जी ने इस श्लोक में कहा है । असूयक-पद अनधिकारी का उपलक्षक है इस से लम्पट कठोर आदि किसी नीच प्रकृति को न पढ़ाना चाहिये । और विद्या शब्द से यहां वेद का ग्रहण जानो । जैसे मलिनता से बचाया वस्त्र शरीर वा मन शुद्ध हुआ सुखदायक होता और वही दुःसंग से दूषित दुःख हेतु होता है वैसे ही नीच को पढाने रूप दोष से रक्षित विद्या सुख देती और नीच के दोष से दूषित दुःख का हेतु है । पढ़ाना ब्राह्मण का ही काम है इस लिये उसी के प्रति यह कथन है ॥ ११४ ॥

यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतं ब्रह्मचारिणम् ॥
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने ॥११५॥

अ०-विद्या पुनराह-यमेव तु शिष्यं भवान् शुचिं बाह्यान्तरशौचपरं नियतं वशीकृतेन्द्रियं ब्रह्मचारिणं व्यभिचारादिदोषरहितं विद्याज्जानीयात्तस्मै अप्रमादिने प्रमादरहितत्वेन विद्यानिधिरक्षणतत्पराय विप्राय मेधाविनोधारणशीलाय मां ब्रूहि-अध्यापय ॥

भा०-शुचिमित्यादिपदैर्विद्याधिकारिणः प्रदर्शिताः । "यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् । यस्ते न द्रुह्येत्कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्" अस्य निरुक्तधृतमन्त्राशस्य चास्मिन् श्लोकेऽनुवादः स्पष्टएवास्ति । यथा सुक्षेत्र उप्तं बीजं साधु प्ररोहति पुष्पितं फलितं च सद्बहूपकारकं जायते तथैव सुपात्राय दत्ता विद्याऽपि जगदुपकारिका जायते ॥ ११५ ॥

भाषार्थः-विद्या फिर बोली कि हे अध्यापक ! (यमेवतु) जिसी शिष्य को आप (शुचिम्) भीतर बाहर से शुद्ध (नियतम्) इन्द्रियों को वश में रखने वाला (ब्रह्मचारिणम्) व्यभिचारादि दोष रहित ठीक २ ब्रह्मचारी (विद्यात्) जानें (तस्मै) उस (अप्रमादिने) कर्त्तव्य धर्म कर्म में सावधान (निधिपाय) विद्या रूप कोष की रक्षा में तत्पर (विप्राय) धारण शील स्मृतिमान् पुरुष के लिये (माम् ब्रूहि) मुझ को पढ़ाओ ॥

भा०-यहां शुचि आदि पदों से विद्या के अधिकारी दिखाये हैं। "यमेव विद्याः०" इस निरुक्त में धरे मन्त्र का ही आशय इस श्लोक में स्पष्ट अनुवाद किया गया है। जैसे अच्छे गुणवान् खेत में बोया बीज अच्छा जमता और फला फूला बहुत उपकारी होता है। वैसे ही सुपात्र के लिये दी हुई विद्या भी जगत् की उपकारिणी होती है ॥ ११५ ॥

ब्रह्म यस्त्वननुज्ञातमधीयानादवाप्नुयात् ॥
स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो नरकं प्रतिपद्यते ॥११६॥

अ०-यस्तु पुरुषोऽध्यापकेनाननुज्ञातमस्वीकृतमभ्यासार्थं गुरुमुखाद्वाऽधीयानाच्छात्राद् ब्रह्म वेदमवाप्नुयात् स ब्रह्मस्तेयरूपधर्मसंयुक्तः सन्नरकं दुःखफलं प्रतिपद्यते ॥

भा०-यः कोऽप्यहङ्काराश्वारूढः कमपि गुरुं न चिकीर्षति नवा मन्यते गुरुसंनिधौ स्वस्य लाघवं न मर्षयति स च छलेनान्यस्मादधीते सोऽपि कस्यचिद्गुरुर्न भवति । विद्याग्रहणस्य यत्फलं तत्स्तेनो नाप्नोति दुर्हृत्वाद् दुःखमेवावाप्नोति । तस्माद्वेदाध्ययनेऽपि स्तेयं कर्म धर्मशुद्धिमभीप्सता त्याज्यम् ॥ ११६ ॥

भाषार्थः-(यस्तु) और जो पुरुष अध्यापक की (अननुज्ञातम्) आज्ञा के विना अभ्यास के लिये बोलते वा गुरुमुख से (अधीयानात्) पढते हुए विद्यार्थी से (ब्रह्म, अवाप्नुयात्) छल के साथ वेद को ग्रहण करे वा पढ़े (सः,ब्रह्मस्तेयसंयुक्तः) वह वेद पढ़ने की चोरी रूप अधर्म से संयुक्त हुआ (नरकम्,प्रतिपद्यते) नरक रूप दुःख को प्राप्त होता है ॥

भा०-जो कोई अहङ्कार रूप घोड़े पर चढा हुआ किसी को अपना गुरु नहीं करना वा मानना चाहता गुरु के सामने अपने लाघव [छोटाई] को नहीं सह सकता वह छल के साथ अन्य से पढ़ता है वह भी किसी का गुरु नहीं हो सकता वा उस को कोई गुरु नहीं मान सकता। विद्या ग्रहण के फल को विद्या चोर नहीं प्राप्त होता किन्तु कुटिल हृदय होने से दुःख ही पाता है इस से धर्म शुद्धि चाहने वाले को उचित है कि वेद पढ़ने में भी चोरी का सर्वथा त्याग करे ॥११६॥

लौकिकं वैदिकं वापि तथाध्यात्मिकमेव च ॥
आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत् ११७

अ०-लौकिकमायुर्वेदधनुर्वेदादिसम्बद्धं वैदिकं साक्षाद्वेदप्रतिपादितं देवतायज्ञादिसम्बद्धं तथाध्यात्मिकं जीवात्मपरमात्मविषयकं च ज्ञानं पुरुषो यत आददीत शिक्षेत तेन सति समागमे तं पूर्वमभिवादयेत्, यावज्ज्ञानदाता नाभिवादयति ततः पूर्वमभिवादनं कार्यम् ॥

भा०-द्वयोः समागमे तयोरन्यतरएवादावभिवादयितुमर्हति। तत्र यस्योपकारः कथमपि यस्मात्संजातस्तं कृतपूर्वोपकारिणमुपकृतोऽभिवादयेत्पूर्वमेतेन कृतज्ञतारूपो धर्मः सूचितः ॥ ११७ ॥

भाषार्थः-(लौकिकम्) आयुर्वेदादि सम्बन्धी लौकिक (वैदिकं वापि) अथवा वेद में साक्षात् कहे देवता वा यज्ञादि सम्बन्धी वैदिक (तथाध्यात्मिकमेवच) और जीवात्मा परमात्मा सम्बन्धी (ज्ञानम्) ज्ञान कोई मनुष्य (यत आददीत) जिस से ग्रहण करे सीखे उस के साथ समागम होने पर (तं पूर्वमभिवादयेत्) जब तक ज्ञान दाता अभिवादन न कर पावे तभी तक पहिले उस को अभिवादन करना चाहिये॥

भा०-दो का समागम होने पर उन में एक ही पहिले अभिवादन कर सकता है। उस में जिस का किसी प्रकार जिस से उपकार हुआ हो उपकृत मनुष्य उस पूर्वोपकारि पुरुष को पहिले अभिवादन करे उस से कृतज्ञता रूप धर्म सूचित होता है ॥ ११७ ॥

सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः ॥
नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी ११८

अ०—विशिष्टप्रसङ्गे सामान्यं कथनमिदम्—सावित्रीमन्त्रजपः सारः प्रधानो यस्य सोऽपठितान्यवेदादिशास्त्रोऽपि सुयन्त्रितः शास्त्रोक्तधर्मकर्मरतो विप्रो मेधावी स्यादिति वरमेतत् । यश्चाधीतवेदत्रयोऽपि सर्वाशी मद्यमांसाद्यभक्ष्यभक्षणशीलः सर्वविक्रयी निषिद्धवस्तुविक्रेताऽयन्त्रितः शास्त्रोक्तधर्मकर्मविहीनः स्यादित्येतन्न वरम् ॥

भा०—अधीतवेदादिशास्त्रोऽपि यः शास्त्रोक्तनियमधर्मानुत्कृष्टाभिवादनादीन् दुरभिमानादिदोषदूषितत्वान्नानुतिष्ठति तदपेक्षयाऽनधीतशास्त्रः सन्ध्योपासनादिशास्त्रोक्तकर्मसु दत्तचित्तः श्रद्धालुः पुरुषः श्रेष्ठः शास्त्राध्ययनमात्रापेक्षया तदुक्तानुष्ठानं श्रेयस्करमित्याशयः ॥ ११८ ॥

भाषार्थः—विशेष प्रसंग में यह सामान्य कथन है (सावित्रीमात्रसारोऽपि) सावित्री मन्त्र से उपासना वा जप ही जिस का प्रधान कर्त्तव्य है वह अन्य वेदादिशास्त्र न पढ़ा भी (विप्रः) विचारशील श्रद्धालु पुरुष (सुयन्त्रितः) वेद शास्त्रोक्त धर्म कर्म में तत्पर हो तो (वरम्) यह अच्छा और (त्रिवेदोऽपि) तीन वेद पढ़ा भी कोई (सर्वाशी) मद्यमांसादि सब अभक्ष्य का भी भक्षण करने और (सर्वविक्रयी) शास्त्र से निषिद्ध वस्तुओं का बेचने वाला (अयन्त्रितः) शास्त्रोक्त नियमों के बन्धन की मर्यादा का त्यागी हो तो यह (न) श्रेष्ठ नहीं है ॥

भा०—जो वेदादि शास्त्र पढ़ा भी श्रेष्ठ को पहिले अभिवादन करना आदि शास्त्रोक्त नियम धर्मों का दुरभिमानादि दोषों से लिप्त होने के कारण सेवन नहीं करता उसकी अपेक्षा सन्ध्योपासनादि धर्म कर्मों में दत्तचित्त श्रद्धालु पुरुष शास्त्र न पढ़ा भी श्रेष्ठ है । अर्थात् शास्त्र पढने मात्र की अपेक्षा उस में कहे धर्म का सेवन अति उत्तम है ॥ ११८ ॥

शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत् ॥
शय्यासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ॥

अ०-शय्या चासनं च शय्यासनं जातिरप्राणिनामित्येकवचनम् । तस्मिन् शय्यासने श्रेयसा श्रेष्ठेन गुर्वादिना स्वस्योपवेशनार्थमध्याचरिते स्वीकृते शिष्यादिर्न समाविशेत् । गुरुपरोक्षकाले शय्यासनस्थश्च स्वस्य शय्यासने स्थितएनमायान्तमभिलक्ष्यैव सद्यः प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ॥

भा०--गुरुशुश्रूषणविधिरयम् । गुरोः प्रत्यक्षे परोक्षे वा गुर्वर्थं कल्पिते उत्कृष्ट आसने शयने वा शिष्येण न स्थातव्यम्। सदैव गुरोरागमनकाले प्रत्युत्थानाभिवादौ च कर्त्तव्यौ॥

भाषार्थः--जो (शय्यासने) सोने की पलंग वा आसन गद्दी (श्रेयसा) श्रेष्ठ गुरु आदि पुरुष ने अपने सोने वा बैठने के लिये (अध्याचरिते) नियत वा स्वीकृत की हो उस पर शिष्य आदि (न, समाविशेत्) न बैठे (च) और (शय्यासनस्थः) गुरु के परोक्ष में अपनी शय्या वा आसन पर बैठा भी (एनम्) इस गुरु को आता देख पहिले से ही (प्रत्युत्थाय, अभिवादयेत्, एव-) उठ कर अवश्य अभिवादन करे ॥

भा०-गुरु शुश्रूषा का यह विधान है—गुरु के प्रत्यक्ष वा परोक्ष में गुरु के लिये बिछाये उत्तम आसन वा शय्या पर शिष्य को नहीं बैठना चाहिये और सदैव कहीं से गुरु के आने के समय प्रत्युत्थान और अभिवादन करने चाहियें ॥११९॥

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते

अ०--विद्याधर्मकर्मादिभिर्वृद्धे स्थविरे वयोवृद्धे च गुर्वादिपुरुषे आयत्यागच्छति सति यूनः पुरुषस्य प्राणा ऊर्ध्वं हि उत्क्रामन्ति देहान्निस्सर्त्तुं तत्परा निस्सृताइव भवन्ति । स

युवा प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्राणान् प्रतिपद्यते प्रत्यागतान् प्राप्नोति ॥

भा०--अर्थवादएवायमुक्ताभिवादविधेः--महता सजातीयेनाल्पस्याभिभवो दृष्टएवास्ति। यथा सूर्यप्रकाशेनोल्कापातप्रकाशोऽभिभूयते तस्मादेव दिवोल्कापातो न दृश्यते। एवं विद्याधर्मादिजन्यतेजसाभिज्वलितपुरुषप्रतापेनाल्पतेजा अभिभूतो मृतइव जायते पुनः प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां तस्माद्धर्मसुखलेशममृतमिवावाप्य जीवति हृष्टो जायते॥१२०॥

भाषार्थः—(स्थविरे, आयति) विद्या धर्मादि से बड़े वा अवस्था में बड़े गुरु आदिपुरुष के आते समय (यूनः, प्राणाः, ऊर्ध्वम्, हि, उत्क्रामन्ति) युवा पुरुष के प्राण शरीर से बाहर निकलने को तत्पर से होते शरीर से निकल से जाते हैं। वह युवा पुरुष (प्रत्युत्थानाभिवादाभ्याम्) उस आते हुए वृद्ध पुरुष को प्रत्युत्थान दे और अभिवादन करके (पुनस्तान्, प्रतिपद्यते) फिर उन प्राणों को प्राप्त होता वा निश्चय जान लेता है कि मेरे प्राण आगये ॥

भा०—पूर्वोक्त अभिवादन विधि का यह भी अर्थवाद है। बड़े तेजस्वी सजातीय से छोटे अल्पशक्ति वाले का तेज सर्वत्र आच्छादित होता [दबजाता] है। जैसे दिन में सूर्य के महान् प्रकाश से उल्कापात वा नक्षत्रों का तेज दबजाता इसी से उल्कापात और तारे दिन में नहीं दीखते। वैसे विद्या वा धर्मादि के तेज गौरव से प्रकाशित पुरुष के प्रताप से अल्पतेज वाला पुरुष मरे के तुल्य हो जाता है फिर प्रत्युत्थान और अभिवादन करके अमृत तुल्य विद्या धर्मादि के किंचित् सुख को पाकर जीवित वा प्रसन्न होता है ॥ १२० ॥

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ॥
चत्वारि तस्य वर्धन्त आयुःप्रज्ञा यशो बलम्१२१

अ०—विद्याधर्मवृद्धपुरुषाणां प्रायिकसमीपस्थितिसेवाभ्यां स्वेष्टसिद्धिं मन्यमानस्याभिवादनशीलस्य कारणमनुद्दि-

श्य स्वस्य कर्त्तव्यमिदमिति स्वभावेनैवाभिवादनरतस्य तस्य जनस्य सङ्गफलेनायुः प्रज्ञा बुद्धिर्यशः कीर्त्तिर्बलमात्मिकं दैहिकं चैतानि चत्वारि वर्धन्ते ॥

भा०-अयमप्यर्थवादएवास्त्यभिवादनविधेः। यथा दुःसङ्गजन्यदुष्कर्मसेवनादायुरादीनि नश्यन्ति तथैवाभिवादनरतस्य सत्सङ्गजन्यसुकर्मसेविन आयुरादीनि वर्धन्ते नात्र काप्यत्युक्तिरस्ति ॥१२१॥

भाषार्थः-विद्या और धर्म से गौरव को प्राप्त पुरुषों के प्रायः समीप रहने और सेवा करने से अपनी इष्ट सिद्धि मानने वाले (अभिवादनशीलस्य) विना किसी स्वार्थ सिद्धि आदि कारण के अपना कर्त्तव्य धर्म मान कर स्वभाव से ही बडों को सदा नमने वाले (तस्य) उस पुरुष के, सत्संग के प्रताप से (चत्वारि, आयुः प्रज्ञा यशो बलम्, वर्धन्ते) अवस्था, बुद्धि, कीर्त्ति और शारीरिक आत्मिक बल ये चारों सदा बढ़ते हैं ॥

भा०-यह भी अभिवादन विधि का अर्थवाद है। जैसे दुष्टों के संग से दुष्कर्म का सेवन कर आयु आदि नष्ट होते वैसे सत्संग में रह कर सुकर्म सेवी अभिवादन शील पुरुष के आयु आदि बढ़ते वा बढ़ सकते हैं यह सर्वथा सत्य जानो इस में अत्युक्ति कुछ नहीं है ॥ १२१ ॥

अभिवादात्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन् ॥
असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्त्तयेत् १२२

अ०-विप्रो मेधावी द्विजो ज्यायांसं स्वतउत्कृष्टं पुरुषमभिवादयन्-असौ देवदत्तादिनामाहमस्मीति-अभिवादादभिवादक्रियापदात्परं स्वं नाम परिकीर्त्तयेत् ॥

भा०-अत्र मतभेदेन पक्षद्वयमस्ति। केचिदभिवादये इति क्रियापदात्परं स्वाभिधानं प्रयोज्यं तदनन्तरं च नामपदप्रयोगमपीच्छन्ति। यथा-अभिवादये भद्रशर्मनामाहम-

स्मि । अन्ये तु नामपदप्रयोगं नेच्छन्ति । अभिवादये भद्रशर्माहमस्मि । "स्वनामप्रोच्याहमभिवादये–इत्यभिवदेत्" इत्यादिप्रकारेण गोतमस्मृत्यादिसम्मतत्वादुत्तरः पक्षो ज्यायानिति सम्भाव्यते । श्लोके "नामाहमस्मीति" अत्रेति शब्दः प्रयुज्यमानः पदत्रयस्य पदद्वयस्य वा स्वरूपेण यथापठितस्योच्चारणं कार्यमिति ज्ञापनार्थः ॥१२२॥

भाषार्थः--(विप्रः) बुद्धिमान् ब्राह्मणादि द्विज (ज्यायांसम्, अभिवादयन्) अपने से श्रेष्ठ पुरुष को अभिवादन करता हुआ (असौ नामाहमस्मीति) मैं अमुक देवदत्तादि नाम वाला हूं इस प्रकार (अभिवादात्परम्) अभिवादये इस क्रिया पद से परे (स्वं,नाम,परिकीर्त्तयेत्) अपने नाम का उच्चारण ठीक २ यथावत् करे ॥

भा०—यहां मत भेद से दो पक्ष हैं । कोई लोग कहते वा मानते हैं कि 'अभिवादये' इस क्रिया पद से परे अपने नाम का प्रयोग करने पश्चात् नाम शब्द भी बोलना चाहिये जैसे [अभिवादये भद्रशर्मेनामाहमस्मि] तथा अन्य लोग नाम शब्द का बोलना आवश्यक नहीं मानते किन्तु [अभिवादये भद्रशर्माहमस्मि] ऐसा ही ठीक मानते हैं "अपना नाम बोल कर मैं अभिवादन करता हूं ऐसा कहे" इत्यादि प्रकार गोतमादि स्मृतियों के भी सहमत होने से पिछला पक्ष जिस में नाम शब्द का प्रयोग नहीं अच्छा प्रतीत होता है । श्लोक में "नामाहमस्मि" इस के आगे इति शब्द तीनों वा दो पदों का ज्यों का त्यों ही उच्चारण करना चाहिये यह जताने के लिये है ॥ १२२ ॥

नामधेयस्य ये केचिदभिवादं न जानते ॥
तान्प्राज्ञोऽहमितिब्रूयात् स्त्रियःसर्वास्तथैव च॥

अ०—ये केचित्संस्कृताऽनभिज्ञाः शास्त्राज्ञयाऽभिवादनयोग्याः पित्रादयो नामधेयस्याभिवादं प्रत्यभिवादनेऽभिवादयितुर्नामोच्चारणं कथं कार्यमिति न जानते, प्राज्ञोऽभिवादप्रत्यभिवादवाक्ये सम्यङ् जानानोऽभिवादयिता तान्

"अभिवादयेऽहमस्मीति" ब्रूयात्। तथैव शास्त्रतोऽभिवाद्याः सर्वाः स्त्रियोऽप्यभिवादयन्स्वनामोच्चारणं न कुर्यात् ॥

भा०-व्याकरणमहाभाष्यपस्पशायामुक्तमेतत् "अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः। कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्विवायमहं वदेत्। अभिवादे स्त्रीवन्माभूमेत्यध्येयं व्याकरणम्" अभिवादयिताऽभिवादवाक्ये स्वस्य नाम्न उच्चारणमेव न कुर्यात् किन्तु हेत्वन्तरैरभिवाद्यपित्रादीनामभिवादनं तु तेन कार्यमेव।एवं च विधिशेषोऽयं न तु निन्दार्थवादः ॥१२३॥

भाषार्थः-(ये केचित्) जो कोई व्याकरणादि संस्कृत न जानने वाले शास्त्र की आज्ञानुसार अभिवादन करने योग्य पितादि लोग (नामधेयस्याभिवादम्) अभिवादन का उत्तर देने में अभिवादन कर्त्ता के नाम का उच्चारण कैसे करना चाहिये यह (न, जानते) नहीं जानते (प्राज्ञः) अभिवाद प्रत्यभिवाद वाक्यों को ठीक २ जानता हुआ अभिवादन कर्त्ता (तान्) उन पितादि से अपना नाम छोड़ कर (अहमिति ब्रूयात्) "अभिवादयेऽहमस्मि" ऐसा कहे। (तथैव, च) वैसे ही शास्त्र की आज्ञानुकूल अभिवादन करने योग्य (सर्वाः, स्त्रियः) सब स्त्रियों को अभिवादन करता हुआ अपने नाम का उच्चारण न करे ॥

भा०-व्याकरण महाभाष्य के पस्पशाह्निक में कहा है कि "जो अविद्वान् लोग अभिवादन का उत्तर देने में नाम को प्लुत करना नहीं जानते उन के समीप कहीं से आकर अपना नाम लिये विना स्त्रियों के तुल्य अभिवादन करे। अभिवादन में हम स्त्री के तुल्य न समझे जावें इस से व्याकरण पढ़ना चाहिये" अभिवादन कर्त्ता अभिवाद वाक्य में केवल अपने नाम का उच्चारण न करे किन्तु मान्य अविद्वान् भी माता पितादि को अभिवादन अवश्य करे। इस प्रकार यह अभिवादन विधि का शेष व्याख्यान है किन्तु निन्दा रूप अर्थवाद नहीं है ॥१२३॥

भोः शब्दं कीर्त्तयेदन्ते स्वस्यनाम्नोऽभिवादने ॥
नाम्नांस्वरूपभावोहि भोभावऋषिभिःस्मृतः१२४

अ०—अभिवादयिताऽभिवादनेऽभिवादनवाक्ये स्वस्य नाम्नोऽन्ते भोः शब्दं कीर्त्तयेदुच्चारयेत्। हि यतो भोभावो भोरिति पदस्योच्चारणसत्ता नाम्नां स्वरूपभावो—अभिवाद्याभिधानस्वरूपसत्ताबोधिकैव ऋषिभिः स्मृतोऽभिता ॥

भा०—«अभिवादये भद्रशर्मनामाहमस्मि भोः"। यद्वा«अभिवादये भद्रशर्माहमस्मि भोः " इत्येवं पक्षद्वयेऽपि स्वस्य नाम्नोऽन्तेऽभिवादयित्राऽभिवाद्यसम्बोधनार्थो भोरितिशब्दस्य प्रयोगः कार्य्यः। अत्र—अभिवादात्परं विप्रइति श्लोकानन्तरम्«भोःशब्दं कीर्त्तयेदन्ते" इति पद्यं तदनन्तरं «आयुष्मान् भव सौम्य०" इति पद्यं तदनन्तरं च «यो न वेत्त्यभिवादस्य" इति पद्यं तस्मादपि परं « नामधेयस्य ये केचित्० " इति पद्यमित्येवं श्लोकसन्निवेशो नन्दनाभिमतो लेखकप्रमादकृतो विपरिणाम इति तस्यैव परामर्शश्च साधुः प्रतीयते ॥ १२४ ॥

भाषार्थः—अभिवादन करने वाला (अभिवादने) अभिवादन वाक्य में (स्वस्य, नाम्नोऽन्ते) अपने नाम के अन्त में (भोःशब्दं कीर्त्तयेत्) भोःशब्द का उच्चारण करे (हि) क्योंकि (भोभावः) भोः इस शब्द के उच्चारण का होना (नाम्नां, स्वरूपभावः) अभिवाद्य पुरुष के नाम के स्वरूप की सत्ता जताने के लिये (ऋषिभिः, स्मृतः) ऋषि लोगों ने माना है ॥

भा०—«अभिवादये भद्रशर्मनामाहमस्मि भोः» अथवा «अभिवादये भद्रशर्माहमस्मि भोः » इस प्रकार दोनों पक्ष में अभिवादन कर्त्ता को चाहिये कि अपने नाम के अन्त में अभिवादन के योग्य मान्य पुरुष को संबोधित करने के लिये «भोः» इस शब्द का प्रयोग करे। यहां (अभिवादात्परं विप्रः) इस श्लोक के पश्चात् (भोः शब्दं कीर्त्तयेदन्ते०) यह श्लोक तदनन्तर (आयुष्मान् भव०) यह श्लोक उस के भी पश्चात् (यो न वेत्त्यभिवादस्य०) यह श्लोक तिस से भी परे (नामधेयस्य ये केचित्०) यह श्लोक होना चाहिये ऐसी नन्दन टीकाकार की सम्मति है और

लेखकों की भूल से लौटपौट हो गया है यह भी उन्हीं का परामर्श है सो अच्छा प्रतीत होता है ॥ १२४ ॥

आयुष्मान्भवसौम्येतिवाच्योविप्रोऽभिवादने॥
अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः

अ०-अभिवादयित्राऽभिवादने कृते प्रत्यभिवादयित्रा विप्रो मेधाविद्विजो ब्राह्मणादिरायुष्मान् भव सौम्येति वाच्यः। अस्याभिवादयितुर्नाम्नोऽन्ते शर्मन् वर्मन्इति नकारादिव्यञ्जनात्पूर्वाक्षरोऽकारादिस्वरः प्लुतो वाच्यः ॥

भा०-अत्र सौम्यशब्दात्परः इतिशब्दः प्रकारवचनस्तेन आयुष्मानेधि, चिरञ्जीव, दीर्घायुर्भूयाः, इत्यादिशिष्टसम्मतानि प्रत्यभिवादवाक्यानि सङ्ग्राह्याणि। अकारोऽत्र-इकारादिस्वरोपलक्षकोऽचएवप्लुतो विधीयते। इकाराद्यन्तान्यपि नामानि शास्त्राज्ञाऽविरुद्धान्येव। पूर्वाक्षरइति कथनं व्यञ्जनान्ते चरितार्थम्। यद्वा पूर्वाक्षरइति कथनेन शर्मवर्मादिपदादपि पूर्वो नामान्तस्वरएवप्लुतः कार्यइति योज्यम्। यथा-आयुष्मानेधि भद्र ३। आयुष्मान्भव भद्र ३ शर्मन्। आयुष्मान्भव भद्रशर्मन्३। आयुष्मान्भव भवभूते ३। आयुष्मानेधि सोमगुप्त ३। इत्यादि ॥ १२५ ॥

भाषार्थः-अभिवादन करने वाले के (अभिवादने) अभिवादन करने पर अभिवादन का उत्तर देने वाला (विप्रः) विचारशील द्विज पुरुष ब्राह्मणादि से (आयुष्मान् भव सौम्य) (इति वाच्यः) ऐसा वाक्य उत्तर में बोले (च) और (अस्य) इस अभिवादन कर्त्ता के (नाम्नोन्ते) नाम के अन्त में (पूर्वाक्षरः) शर्मन् वर्मन् इत्यादि नकारादि व्यञ्जन से पूर्वाक्षर अकारादि स्वर (प्लुतो वाच्यः) प्लुत कहना चाहिये ॥

भा०-यहां सौम्य शब्द से परे इति शब्द प्रकार वाचक है इस से "आयुष्मा-

नेधि, चिरंजीव, दीर्घायुर्भूयाः" इत्यादि शिष्टसम्मत वाक्यों का भी संग्रह समझना चाहिये। और यहां इकारादि स्वर के उपलक्षणार्थ अकार कहा है क्योंकि अच् को ही प्लुत का विधान है। और इकारान्तादि नाम भी शास्त्र की आज्ञा से अविरुद्ध ही हैं। पूर्वाक्षर कहना व्यञ्जनान्त नाम में मुख्य चरितार्थ है। अथवा पूर्वाक्षर कहने से शर्म वर्मादि पद से भी पूर्व नामान्त स्वर ही प्लुत करना चाहिये यह भी आशय हो सकता है। जैसे-(आयुष्मानेधि भद्र ३, आयुष्मान् भव-भद्र ३ शर्मन्, आयुष्मान् भव भद्रशर्म ३ न्) इत्यादि प्रकार जानो ॥ १२५ ॥

यो न वेत्त्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम् ॥
नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः १२६

अ०-यो विप्रो ब्राह्मणादिर्द्विजोऽभिवादस्य प्रत्यभिवदनं न वेत्ति स विदुषाऽभिवादयित्रा यथाशूद्रस्तथैव नाभिवाद्यः ॥

भा०-निन्दापरोऽयमर्थवादो विधिशेषो वा तथासति द्विविधाः शास्त्रानभिज्ञा भवितुमर्हन्ति केचिच्छास्त्रमर्यादानभिज्ञत्वेऽपि धर्मकर्मतत्परतादिहेतुविशेषैरभिवादनमर्हन्ति ते पित्रादयः "नामधेयस्य ये केचित्" इति पद्योक्तप्रकारेणाभिवाद्याः। ये च शास्त्रानभिज्ञत्वे कारणसामान्यैरभिवाद्यास्ते तु द्विजवन्नाभिवाद्या अपि तु शूद्रवदपभ्रंशपदैरभिवाद्या इत्याशयः। तथा च वक्ष्यति "शूद्रोऽपि दशमीं गत" इति ॥१२६॥

भाषार्थः-(यः, विप्रः) जो ब्राह्मणादि द्विज (अभिवादस्य) अभिवादन के (प्रत्यभिवादनम्) प्रत्युत्तर को (न, वेत्ति) नहीं जानता (विदुषा) विद्वान् अभिवादनकर्त्ता को चाहिये कि (सः) उस को (नाभिवाद्यः) अभिवादन न करे क्योंकि (यथा-शूद्रस्तथैव, सः) जैसा शूद्र है वैसा ही वह है ॥

भा०-यह निन्दापरक अर्थवाद वा विधिशेष है। सो ऐसी दशा में दो प्रकार के अनपढ़ हो सकते हैं। कोई तो शास्त्र की मर्यादा न जानने पर भी अपने धर्म कर्म में तत्पर होने आदि विशेष कारणों से अभिवादनादि द्वारा मान्य

करने योग्य होते हैं उन पितादि को (नामधेयस्य ये केचित्०) इस श्लोक में कहे प्रकार अभिवादन करे। और जो अनपढ़ होने पर सामान्य कारणों से अभिवादन के योग्य हैं उन को द्विजों वा ब्राह्मण के तुल्य अभिवादन नहीं करना चाहिये किन्तु शूद्र के तुल्य प्रचरित भाषा के शब्दों से उन का मान्य करना चाहिये कि जिन शब्दों का आशय भी वे समझ सकें क्योंकि आगे ९० वर्ष से ऊपर की अवस्था वाले वृद्ध शूद्र का भी ब्राह्मणादि को मान्य करना लिखा है॥ १२६॥

ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम्॥
वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च॥१२७॥

अ०—समागम्य समागमे जाते न्यूनाधिकमान्यामान्यहेतुभिर्यथोचिताभिवादप्रत्यभिवादानन्तरं मान्यसाम्ये च "नमस्ते" इत्यादिव्यवहारानन्तरमागतं ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत् स्वाध्यायादिषु श्रौतस्मार्त्तधर्मकर्मसु कश्चिद्बाधस्तु नास्तीति कुशलपदेन प्रश्नाशयः। क्षत्रबन्धुमनामयं शरीरकुटुम्बसेनादिषु बलौजआदेर्ह्रासाभावोऽस्ति?। प्राप्तानां कृषिनिधिगवादीनां संरक्षणमस्ति? इत्याशयपरं क्षेमं वैश्यं पृच्छेत्। शूद्रं केवलं सेवाकर्मणि शरीरारोग्यमेव पृच्छेदिति॥

भा०—नात्र प्रश्नेशब्दनियमविवक्षाप्राधान्यमपि तु यस्य वर्णस्य यादृशमिष्टतमं शास्त्रोक्तं च कर्म तत्रैव सम्यक्त्वमेभिः कुशलादिशब्दैरन्यैर्वा यथोचितं प्रष्टव्यमित्याशयः॥१२७॥

भाषार्थः—(समागम्य) समागम होने पर मान्य वा अमान्य के न्यूनाधिक कारणों के अनुसार यथोचित अभिवादन प्रत्यभिवादन करने पश्चात् अथवा बराबरी का प्रसंग हो तो नमस्ते, आदि व्यवहार करने पश्चात् (ब्राह्मणम्) आये हुए ब्राह्मण को (कुशलं पृच्छेत्) वेद पठन पाठनादि धर्म कर्म में कोई विघ्न तो नहीं? ऐसा पूछे (क्षत्रबन्धुमनामयम्) शरीर कुटुम्ब वा सेनादि में बल पराक्रमादि की न्यूनता तो नहीं? ऐसा क्षत्रिय को (वैश्यं क्षेमम्) तुम को प्राप्त जो खेती, धन कोश और गौ आदि हैं वे ठीक २ संरक्षित हैं न? ऐसा क्षेमादि शब्द से वैश्य

को (च) और (शूद्रमारोग्यमेव) सेवा कर्म में शरीर आरोग्य है न ? इतना ही केवल शूद्र को पूंछे ॥

भा०—यहां पूंछने में शब्दों के नियम की विवक्षा का प्राधान्य अपेक्षित नहीं है किन्तु जिस वर्ण का जैसा इष्ट और शास्त्रोक्त कर्म है उसी में कुशलादि वा अन्य यथोचित शब्दों से निर्विघ्नता पूंछने का अभिप्राय है ॥ १२७ ॥

अवाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानपि यो भवेत्
भोभवत्पूर्वकं त्वेनमभिभाषेत धर्मवित् ॥१२८॥

अ०—धर्मविदा पुरुषेण यवीयानपि यो दीक्षितो विद्यायां यज्ञादिवेदोक्तकर्मसु वा तत्त्वज्ञत्वाद्राजादितो लब्धदीक्षितादुपाधिः पुरुषो नाम्नाऽवाच्यो नामग्रहणेनाह्वातुमनर्हः किन्तु धर्मविज्जनो भोपूर्वकं भवत्पूर्वकंवैनमभिभाषेताह्वयेत् ॥

भा०—यवीयानपीति कथनेन स्वतोऽधिकवया अदीक्षितोऽपि नाम्ना नाह्वातव्यइत्यर्थादापद्यते। राजसभातो धर्माचार्यसभातो वा स्वगुणोत्कर्षाल्लब्धोपाधिः कोऽपि ब्राह्मणादिः केवलनाम्ना नाह्वातव्यः किन्तु "भोदीक्षित, भोविद्यासागर, भवन्तो महाचार्याः, भवद्भिः सार्वभौमैरिदमादेयं कार्यं वा" इत्यादिप्रकारेणोपाधिनाम्ना भोभवत्पूर्वकेन व्यवहारः कार्यः ॥ १२८ ॥

भाषार्थः—धर्मज्ञ पुरुष को चाहिये कि (यः) जो (यवीयानपि) अवस्था में अपने से अति छोटा भी पुरुष (दीक्षितः) विद्या वा यज्ञादि वेदोक्त कर्मों में तत्त्वज्ञानी होने से राजादि से दीक्षितादि उपाधि को प्राप्त हुआ (भवेत्) हो जिस को राजादि ने शुभ गुणों के कारण उपाधि दी हो उस को (नाम्ना) नाम लेकर (अवाच्यः) न पुकारे किन्तु (धर्मवित्) धर्मज्ञ पुरुष (भोभवत्पूर्वकन्तु—एनमभिभाषेत) भो दीक्षित! भवन् दीक्षित! इत्यादि प्रकार इस प्रतिष्ठित पुरुष को बुलावे ॥

भा०—यहां "यवीयानपि" कहने से अपने से अधिक अवस्था वाले दीक्षितादि उपाधि रहित को भी नाम लेकर न पुकारे यह अर्थापत्ति से निकलता है।

राजसभा से वा धर्माचार्यसभा से बहुसम्मत्यनुसार विद्यादि गुणों की प्रबलता वा अधिकता के कारण जिस को प्रतिष्ठा मिली हो ऐसे किसी ब्राह्मणादि को केवल नाम लेकर नहीं पुकारना चाहिये किन्तु—भो दीक्षित ! भो विद्यासागर ! भवन्तोभट्टाचार्याः ! आप सार्वभौम विद्वान् यह वस्तु लीजिये वा यह कीजिये इत्यादि प्रकार भो वा भवत्पूर्वक उपाधि नाम लेकर भाषण करना उचित वा अच्छा होने से धर्मानुकूल व्यवहार है ॥ १२८ ॥

परपत्नी तु या स्त्री स्याद्असंबन्धा च योनितः ॥
तां ब्रूयाद्भवतीत्येवं सुभगे भगिनीति च ॥१२९॥

अ०—या स्त्री योनितोऽसम्बन्धा स्वमातापितृपक्षसम्बन्धे न कापि सम्भवति परपत्नी परस्यान्यस्य कस्यापि पत्नी, न स्वस्य, न च कन्या स्यात्तां सम्भाषणीयधर्म्यव्यवहारकाले ज्यायसीं भवति ! इत्येवं, समानवयस्कां सुभगे !, यवीयसीं भगिनि ! इति च सम्बोधयन् ब्रूयात् ॥

भा०—याः स्त्रियः सम्बन्धिन्यस्ताभिर्भाषणादिव्यवहारं वक्ष्यति । भगिनीत्यत्रेतिशब्दः प्रकारवचनस्तेन मातः ! स्वसः ! दुहितः ! आयुष्मति ! यशस्विनि ! इत्यादिपदैरप्यभिभाषणं युक्तमेव ज्ञेयम् । सुभगे ! किन्ते कार्यं करवाणि, किन्ते दुःखं, किमिच्छसि । इत्यादिवाक्यैः सम्भाषणं कार्यम् । योनितोऽसम्बन्धा कापि कन्या चेत्तदापि भगिनि ! दुहितः ! कन्ये ! इत्यादिपदैरेव सम्भाष्या । कादाचित्कसमागमेऽयं विधिः ॥१२९॥

भाषार्थः—(या, स्त्री) जो स्त्री (योनितः, असम्बन्धा) अपने माता पिता के सम्बन्ध से कोई मौसी बुआ आदि न लगती हो और (परपत्नी) अन्य किसी की स्त्री (स्यात्) हो वा किसी की कन्या हो तो (ताम्) उस से धर्मानुकूल व्यवहार में बोलने की आवश्यकता होने पर अपने से अधिक अवस्था की हो तो (भवति ! इत्येवम्) हे भवति !, बराबर अवस्था की हो तो (सुभगे !) हे सुभगे !

वा सौभाग्यवति ! (च) और यदि छोटी हो तो (भगिनीति) हे भगिनि ! ऐसा (ब्रूयात्) कहे ॥

भा०—जो स्त्रियां अपने सम्बन्ध में कोई लगती हों उन के साथ बोलनादि व्यवहार आगे कहेंगे । यहां भगिनी शब्द के आगे पढ़ा इति शब्द प्रकारवाची है इस से यथायोग्य—मातः ! स्वसः ! दुहितः ! आयुष्मति ! यशस्विनि ! आदि संबोधन पदों से भी बोलना ठीक ही माना जायगा । सुभगे ! तुम्हारा क्या काम करूं । तुम को क्या दुःख है ? । तुम क्या चाहती हो इत्यादि प्रकार के शिष्ट-सम्मत वाक्यों से स्त्रियों के साथ ब्रह्मचारी आदि भाषण करें । यदि अपने सम्बन्ध से भिन्न कोई कन्या हो तो उस से हे भगिनि ! हे दुहितः ! वा बेटी । कन्ये ! इत्यादि पदों से बोले । कभी अकस्मात् मेल होने पर बोलने के लिये यह विधान है ॥ १२९ ॥

मातुलांश्च पितृव्यांश्च श्वशुरानृत्विजो गुरून् असावहमिति ब्रूयात्प्रत्युत्थाय यवीयसः १३०

अ०—मातुलांश्च मातुर्भ्रातॄन् पितृव्यांश्च पितुर्भ्रातॄन् श्वशुरान् स्वपत्न्याः पितृपक्षस्थान् ऋत्विजो याजकान् गुरून् स्वस्माज्ज्ञाने तपसि विद्यायां वृद्धानायुषि यवीयसोऽप्येतान् प्रत्युत्थाय—असौ—शुभशर्माहमिति ब्रूयात । अर्थादभिवादये इति क्रियापदं न ब्रूयात् ।

भा०—अत्र यवीयसइति कथनेन ज्यायसएतानागतान् प्रत्युत्थाय विधिवदभिवादनमेव कुर्यादित्यर्थादापद्यते। मातुलादयश्च पितृकोटिस्थत्वेन योनिसम्बन्धान्मानमर्हन्ति । ऋत्विजो गुरवश्च विद्यासम्बन्धिनो कर्मधर्मादिकारणात्॥१३०॥

भाषार्थः—(मातुलांश्च) माता के भाई मामा (पितृव्यांश्च) पिता के भाई चाचा ताऊ (श्वशुरान्) अपनी स्त्री वा भाभी [भौजाई] के पिता चाचा (ऋत्विजः) यज्ञ कराने वाले (गुरून्) अपने से ज्ञान तप वा विद्या में बड़े (यवीयसः) आयु में छोटे भी हों तो उन को आते देख (प्रत्युत्थाय) उठ कर (असावहमिति

ब्रूयात्) शुभशर्माहम्—भद्रशर्माहम्—इत्यादि प्रकार संस्कृत में बोले अर्थात् अभिवादये इस क्रिया पद का उच्चारण न करे ॥

भा०—यहां यवीयसः कहने से यदि मामा आदि अपने से अवस्था में बड़े हों तो उन को समागम के समय प्रत्युत्थान देकर विधिपूर्वक अभिवादन करे अर्थात्—अभिवादये भद्रशर्माहमस्मि भोः—ऐसा ही बोले यह अर्थापत्ति से सिद्ध है। मातुल आदि पितृकोटिस्थ होने के कारण योनि सम्बन्ध से माननीय तथा विद्यासम्बन्धी ऋत्विज् तथा गुरु धर्म कर्मादि के हेतु माननीय हैं। लोक में श्वशुर वा मामा आदि को अपने से छोटा समझने का व्यवहार शास्त्र की आज्ञा से विरुद्ध होने के कारण माननीय नहीं है ॥ १३० ॥

मातृष्वसा मातुलानी श्वश्रूरथ पितृष्वसा ॥
संपूज्या गुरुपत्नीवत्समास्ता गुरुभार्यया॥१३१॥

अ०—मातृष्वसा मातुर्भगिनी, मातुलानी मातुलपत्नी, श्वश्रूः स्वस्त्रिया माता, पितृष्वसा पितुर्भगिनी गुरुपत्नीवद्देताः सर्वाः प्रत्युत्थानासनदानाभिवादनादिकर्मविशेषैः संपूज्याः यतस्ता गुरुभार्यया समास्तुल्याः ॥

भा०—ब्रह्मचारिणाऽन्येन वा प्रेम्णा द्रष्टुमन्यकार्यार्थं वागता मातृष्वस्रादिका गुरुपत्नीवत्सत्कर्त्तव्याः। स्वतो वयसि ज्येष्ठानां कनीयसीनां वा मातृष्वस्रादीनां सत्कारेष एव विधिर्ज्ञेयः ॥१३१॥

भाषार्थः—(मातृष्वसा) माता की बहिन मौसी (मातुलानी) मामा की स्त्री मामी (श्वश्रूः) अपनी स्त्री वा भाभी की माता (अथ, पितृष्वसा) और पिता की बहिन बुआ वा फूआ इन सब का प्रत्युत्थान करने आसन देने और अभिवादनादि कर्म से (गुरुपत्नीवत्) गुरुपत्नी के समान (संपूज्याः) आदर सत्कार करना चाहिये क्योंकि (ताः, गुरुभार्यया, समाः) वे सब गुरु की स्त्री के तुल्य ही मान्य हैं ॥

भा०—ब्रह्मचारी वा गृहस्थ आदि पुरुष को चाहिये कि प्रेम से देखने वा अन्य किसी प्रयोजन से आई मौसी आदि का गुरुपत्नी के तुल्य मान्य करे।

अपने से अवस्था में बड़ी वा छोटी हों उन सभी मौसी आदि के सत्कार का यह एक ही प्रकार का विधान है ॥ १३१ ॥

भ्रातुर्भार्योपसंग्राह्या सवर्णाहन्यहन्यपि ॥
विप्रोष्य तूपसंग्राह्या ज्ञातिसम्बन्धियोषितः ॥

अ०—सवर्णा ज्येष्ठस्य भ्रातुर्भार्याऽहन्यहन्यपि प्रतिदिनमेव उपसङ्ग्राह्या पादस्पर्शपुरःसरमभिवाद्या । विप्रोष्य देशान्तरादागत्य च स्वतो वयसि ज्येष्ठानां ज्ञातीनां पितृपक्षस्थसपिण्डानां सम्बन्धिनां मातुलश्वशुरादीनां च योषित उपसङ्ग्राह्या अभिवादादिना सम्पूज्या न तु प्रतिदिनमिति ॥

भा०—अत्र सवर्णाइति कथनेनासवर्णाभिरपि ब्राह्मणादीनामुद्वाहो भवति स्मेति ज्ञाप्यते तच्चाग्रे वक्ष्यति। असवर्णास्तु सर्वा दूरतएवाभिवाद्याः। स्त्रीणामभिवादनात्तत्पतयोऽपि हृष्टाः पूजिता भवन्ति। येन कृतेन कर्मणाऽन्येषां स्वस्य च सुखमुपजायते चेतः प्रसीदति सएव धर्मांशः॥१३२॥

भाषार्थः—(सवर्णा) ब्राह्मण की ब्राह्मणी क्षत्रिय की क्षत्रिया आदि (भ्रातुर्भार्या) अपने ज्येष्ठ भाई की स्त्री भाभी को (अहन्यहन्यपि) प्रतिदिन ही प्रातःकाल (उपसंग्राह्या) पग छूने पूर्वक अभिवादन करे (तु) और (विप्रोष्य) देशान्तर से आकर (ज्ञातिसम्बन्धियोषितः) अपने से अवस्था में बड़ी कुटुम्ब की वा मामा श्वशुर आदि सम्बन्धियों की स्त्रियों का (उपसंग्राह्याः) अभिवादनादि द्वारा मान्य करे किन्तु नित्य नहीं ॥

भा०—इस श्लोक में सवर्णा कहने से यह भी सिद्ध है कि पूर्वकाल में सवर्णा के न मिलने आदि अवसर पर ब्राह्मणादि का क्षत्रियादि अनुलोम कन्याओं के साथ भी विवाह होता था ऐसा आगे तृतीयाध्याय में कहेंगे। असवर्णा भाभी आदि स्त्रियों को पादस्पर्श न करके दूर से ही अभिवादन कर लेना चाहिये। स्त्रियों को अभिवादन करने से उन २ के पति भी प्रसन्न वा सत्कार को प्राप्त होते हैं। और जिस कर्त्तव्य से आपस में सुख वा प्रसन्नता बढ़े वही धर्मांश है ॥ १३२ ॥

पितुर्भगिन्यां मातुश्च ज्यायस्यां च स्वसर्यपि मातृवद्वृत्तिमातिष्ठेन्माता ताभ्यो गरीयसी ॥

अ०-पितुर्भगिन्यां मातुश्च भगिन्यां स्वस्य ज्यायस्यां ज्येष्ठायां स्वसरि भगिन्यामपि मातृवद्वृत्तिमातिष्ठेद्यथा मातृसमीपे युवापि पुत्रः शिशुवद्व्यवहरति । तथैव मातृवत्ताभिरपि व्यवहरेदाज्ञापालनादिकं कुर्यात् । तासां मातुर्विप्रतिषेधे ताभ्यो माता गरीयसी मन्तव्या द्वयोर्विरोधे मातुरेवाज्ञा पालनीया ॥

भा०-मातृष्वसेति पद्ये गुरुपत्नीवत्तासामभिवादादिना पूजनं विहितमत्र तु शैशवकाले मातृवत्ताभिरपि लालितः पालितश्चेत्यतीते शैशवे ता अप्याज्ञापालनादिना मातृवदेव व्यवहर्त्तव्याः । यद्यन्यासामाज्ञापालनादिना मातुरहितं दुःखं वा प्रतीयेत तदा मातुरेव हितं कार्यं न तासाम् ॥ १३३ ॥

भाषार्थः-(पितुर्भगिन्याम्) पिता की बहिन-बुआ (मातुश्च) माता की बहिन मौसी (ज्यायस्यां, च, स्वसर्यपि) और अपनी जेठी बहिन के साथ में (मातृवत्, वृत्तिम्, आतिष्ठेत्) माता के तुल्य वर्त्ताव करे जैसे माता के समीप जवान भी पुत्र बालक के तुल्य व्यवहार करता वैसे ही उन बुआदि को भी माता के तुल्य माने और (माता, ताभ्यः, गरीयसी) जहां माता और उन के मानने में विरोध हो दो में एक ही के अनुकूल कर सकता हो तो उन से माता को बड़ा मान के माता की इच्छा आज्ञानुसार वर्त्ते ॥

भा०-मातृष्वसा०-इस उक्त श्लोक में गुरुपत्नी के तुल्य उन का भी अभिवादनादि से मान्य कहा गया । और यहां यह कहते हैं कि अपनी बाल्यावस्था में माता के तुल्य मौसी आदि ने भी बालकपन में अपना लालन पालन किया है इस कारण बाल्यावस्था अतीत होने पर उन के साथ भी आज्ञापालनादि व्यवहार माता के तुल्य करना चाहिये । यदि अन्यों के आज्ञापालनादि से माता को अहित वा दुःख पहुंचना सम्भव वा प्रतीत हो तो माता का ही हित करे उन मौसी आदि का नहीं क्योंकि वह अन्तरंग है ॥ १३३ ॥

दशाब्दाख्यंपौरसख्यं पञ्चाब्दाख्यंकलाभृताम्
त्र्यब्दपूर्वं श्रोत्रियाणां स्वल्पेनापि स्वयोनिषु ॥

अ०--पुरे नगरे ग्रामे वा भवाः पौरास्तेषामितरेतरं सख्यं समानख्यातिरूपं समं मित्रत्वं दशाब्दाख्यं दश-अब्दा वर्षाणि-आख्या वयसोन्यूनाधिकभावे प्रसिद्धिरस्मिन्तादृशं बोध्यम्। कलाभृतां गुणविशेषधारिणां पञ्चाब्दाख्यं पञ्चवर्षाधिकावधि, श्रोत्रियाणां त्र्यब्दपूर्वं त्रिवर्षाधिकावधि, स्वयोनिषु स्वकुटुम्बिषु स्वल्पेनापि स्वल्पेनैव कालेन समं सख्यं बोध्यमतोऽधिके ज्येष्ठताकनिष्ठताव्यवहारः ॥

भा०-केन कः पूर्वं नमस्कार्यो मान्यो वा स्यादेतदर्थमिदमुच्यते। सन्निहितवासिषु यो यस्मादायुषि दशवर्षेभ्योऽप्यधिकायुष्कः स विद्यादिगुणविशेषरहितेषु ज्येष्ठः पूर्वं नमस्कार्यः। दशवर्षावध्यधिकस्तु समानव्यवहारार्हएव। शिल्पादिगुणविशेषधारिषु पञ्चवर्षादूर्ध्वं ज्यैष्ठयम्। वेदाध्येतृषु त्रिवर्षादूर्ध्वं स्वकुले च मासपक्षाधिकायुष्कोऽपि ज्येष्ठत्वेन मान्यः। अनया व्यवस्थया यो ज्येष्ठः स कनिष्ठेन मानमर्हति ॥१३४॥

भाषार्थः-(पौरसख्यम्, दशाब्दाख्यम्) एक नगर वा ग्राम में रहने वालों में बराबर की मित्रता का व्यवहार दश वर्ष की छोटाई बड़ाई तक (कलाभृताम् पञ्चाब्दाख्यम्) शिल्पादि विशेष गुण वालों में पांचवर्ष आयु न्यूनाधिक होने तक (श्रोत्रियाणाम्, त्र्यब्दपूर्वम्) वेद पढ़ने वालों में तीन वर्ष आयु न्यूनाधिक होने तक और (स्वयोनिषु, स्वल्पेनापि) अपने कुटुम्बियों में थोड़े महीने पन्द्रह वा दश पांच दिन तक आयु कम बढ़ हो तो बराबर की मित्रता का व्यवहार हो और इस से अधिक छोटाई बड़ाई हो तो आयु की बड़ाई छोटाई मानना चाहिये ॥

भा०-कौन किस को पहिले नमस्कार वा मान्य करे। इस लिये कहते हैं कि समीप वासियों में जो जिस से आयु में दश वर्ष से भी अधिक बड़ा हो वह विद्यादि विशेष गुण रहितों में ज्येष्ठ माना जाय उसी को छोटा पहिले नमस्कार वा अभिवादन करे। आयु में दश वर्ष तक अधिक हो उस के साथ बराबरी का व्यवहार करे। विशेष गुणवानों में पांच वर्ष से ऊपर, वेदपाठियों में तीन वर्ष से ऊपर, और कुटुम्बियों में अपने से थोड़े भी बड़े को ज्येष्ठ मान के सत्कार करे। इस व्यवस्था से जो ज्येष्ठ है वह छोटे का मान्य होना चाहिये ॥ १३४ ॥

ब्राह्मणं दशवर्षन्तु शतवर्षन्तु भूमिपम् ॥
पितापुत्रौविजानीयाद् ब्राह्मणस्तुतयोःपिता॥

अ०-दश वर्षाणि भूतो दशवर्षो दशवत्सरायुष्कस्तादृशं ब्राह्मणं शतं वर्षाणि भूतः शतवर्षायुष्कस्तादृशं भूमिपं क्षत्रियम्[अत्रोभयत्र चित्तवति नित्यमिति प्रत्ययस्य लुक्] पितापुत्रौ विजानीयात्। तयोर्मध्ये ब्राह्मणः पिता पितृवन्मान्यः क्षत्रियस्तु पुत्रवन्मानकरः स्यात् ॥

भा०-अत्र ब्राह्मणस्तु तयोः पितेति कथनमन्तरापि यथासङ्ख्येन सिद्धमिदं तथापि विस्पष्टार्थं कथनमिदम्। अत्र ब्राह्मणभूमिपशब्दावुत्कृष्टापकृष्टवर्णोपलक्षकौ तेन सर्वेष्वेव वर्णेषु वर्णज्यैष्ठ्यवयोज्यैष्ठ्ययोर्मध्ये वर्णज्यैष्ठ्यं मान्यम्। वयोवृद्धेनापि क्षत्रियेण समागमावसरे प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां ब्राह्मणो मानार्हः क्षत्रियापेक्षया वयोवृद्धेन वैश्येन क्षत्रियो मान्यस्तथा तादृशशूद्रेण वैश्यश्च मान्यः। वर्णज्यैष्ठ्यमत्र मातापित्रोः शुद्धब्राह्मणत्वादिकृतमतो वयोज्येष्ठतायाउत्कृष्टत्वमित्याशयः ॥१३५॥

भाषार्थः-(दशवर्षन्तु,ब्राह्मणम्) दश वर्ष की आयु वाले ब्राह्मण और (शतवर्षन्तु, भूमिपम्) सौ वर्ष के क्षत्रिय इन दोनों को (पितापुत्रौ,विजानीयात्) पिता पुत्र जानो अर्थात् (तयोर्ब्राह्मणस्तु,पिता) उन दोनों में ब्राह्मण पिता और क्षत्रिय पुत्र है ॥

भा०—यहां "इन दोनों में ब्राह्मण पिता है" इस कथन के विना यथाक्रम समझने से भी यही आशय सिद्ध हो जाता तो भी सर्वथा सन्देह निवृत्ति के लिये वैसा कथन है और यहां ब्राह्मण तथा भूमिप शब्द ऊंच नीच वर्ण के उपलक्षणार्थ हैं इस से सभी वर्णों में वर्ण की ज्येष्ठता और आयु की ज्येष्ठता में वर्ण की ज्येष्ठता अधिक मान्य है अर्थात् अवस्था में बड़े क्षत्रिय को भी अपने से छोटे भी ब्राह्मण का यदि वह ब्राह्मणादि विशेष दुराचरणों से दूषित न हो तो समागम के समय अभिवादनादि से मान्य करना चाहिये। आयु में बड़े वैश्य को क्षत्रिय का और वैसे शूद्र को वैश्य का मान्य करना चाहिये। यहां वर्ण की ज्येष्ठता माता पिता के शुद्ध ब्राह्मणादिपन से आई अपेक्षित है इस कारण अवस्था की ज्येष्ठता से अधिक मान्य है यह अभिप्राय जानो ॥ १३५ ॥

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी ॥
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् १३६

अ०—वित्तं धर्मेणार्जितं धनं, बन्धुर्भ्रातृपितृपितृव्यादिः, वय आयुः, कर्म श्रौतं स्मार्त्तं च, विद्या वेदार्थतत्त्वज्ञानमेतानि यत्र यादृशानि भवन्ति तत्र तादृशमान्यस्य स्थानानि बोध्यानि। इतरेतरं च पूर्वपूर्वापेक्षयोत्तरोत्तरं गरीयो विज्ञेयम् ॥

भा०—वित्तादिसर्वहीनापेक्षया वित्तवान् श्रेष्ठोऽभिवाद्यः। अल्पधनिनां स्ववर्णस्थो बहुधनः पूज्यः। एवमल्पबन्ध्वादिना बहुबन्ध्वादिर्मान्यः। सामान्यं कथनमिदं पूर्वः श्लोकश्चास्यापवादो विशेषपरत्वात्। विप्राणां ज्ञानतोज्यैष्ठ्यमित्यादयश्चास्यापवादा यथायोगं बोध्याः। अत्र च वित्तवदपेक्षया बहुबन्धुस्तदपेक्षयाऽधिकवयस्कस्तदपेक्षया सुकर्मरतस्तदपेक्षयाऽपि वेदार्थतत्त्वज्ञो मान्योऽभिवाद्यः सर्ववर्णेषु समानमेतत्। वित्ताद्यत्कर्षापकर्षौ च तत्तद्वर्णोत्कर्षापकर्षहेतू इत्यपि सामान्यमेव विशेषस्तु तत्र तत्र द्रष्टव्यः ॥१३६॥

भाषार्थः-(वित्तम्) धर्मानुकूल सञ्चित किया धनादि भोग सामान, (बन्धुः) भाई पिता चाचादि कुटुम्ब (वयः) आयु, (कर्म) श्रौतस्मार्त्त कर्मों का अनुष्ठान, (विद्या,भवति, पञ्चमी) और पांचवीं विद्या है (एतानि) ये धनादि पांचो जिस के समीप जैसे वा जितने हों वहां वैसे ही (मान्यस्थानानि) मान्य के हेतु वा स्थान जानो। और परस्पर धनादि वालों में (यद्यदुत्तरम्) जो २ पर २ है वह २ पूर्व २ की अपेक्षा (गरीयः) श्रेष्ठ है ॥

भा०-धनादि पांचों से हीन पुरुष की अपेक्षा धनवान् श्रेष्ठ वा अभिवादनादि से मान करने योग्य है। थोड़े धन वाले को अपने वर्ण का बड़ा धनी पूजनीय है। ऐसे ही थोड़े कुटुम्बादि वाले को अधिक कुटुम्बादि वाला मान्य है। यह सामान्य कथन है और पूर्व १३५ वां श्लोक विशेषांश में इस का अपवाद है तथा ब्राह्मणों में ज्ञान से ज्येष्ठता है इत्यादि भी यथावसर इस के अपवाद वा विशेष व्याख्यान जानो। और यहां धनवान् से बड़े कुटुम्ब वाला उस से अधिक आयु वाला उस से अच्छे कर्मों वाला और उस से भी अधिक विद्या वाला अधिक मान्य है। यह सब वर्णों में सामान्य विचार जानो। तथा धनादि की न्यूनाधिकता उस २ वर्ण में न्यूनाधिक प्रतिष्ठा का हेतु है यह भी सामान्य ही है विशेष विचार वहां २ देखना चाहिये ॥ १३६ ॥

पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च ॥
यत्र स्युः सोऽत्र मानार्हः शूद्रोऽपि दशमीं गतः॥

अ०-त्रिषु ब्राह्मणादिद्विजवर्णेषु पञ्चानां वित्तादीनां मध्ये यत्र यस्मिन् वर्णे भूयांसि द्वे त्रीणि चत्वारि वा गुणवन्ति बहूपकारहेतूनि प्रबलगुणानि वा स्युः सोऽत्र वर्णत्रये मानार्होऽभिवादप्रत्युत्थानादिना पूज्योऽपि तथैव दशमींगतो नवतिवर्षादधिकवयस्को वित्तादिमान् शूद्रः शूद्रान्तरैर्द्विजैश्च मानार्हः प्रत्युत्थानादिना पूज्यः ॥

भा०-यत्र स्युः सोत्र मानार्हइति कथनेन वित्तादिकतिपयानां विद्यादिप्रबलानां वा सत्त्वं मानहेतु नतु ब्राह्म-

णादीनां जातिपरं ब्राह्मणादित्वमिति सूच्यते । तथासति क्षत्रिये वैश्ये वा यत्राधिकाः प्रबला वा वित्तादयः सोऽपि जातितो ब्राह्मणेन पूज्यो मानार्हः क्षत्रियेण वैश्यो वा वैश्येन शूद्रश्च । एवं ब्राह्मणं दशवर्षमित्यस्याप्ययमत्रांशेऽपवादः । वित्तादुत्कर्षाभावे चाधिकवयस्केनाप्यपकृष्टवर्णेन क्षत्रियादिना ब्राह्मणाद्युत्कृष्टवर्णएव मान्यइत्यंशे तस्य पद्यस्यावकाशः ॥ १३७ ॥

भाषार्थः—(त्रिषु,वर्णेषु) ब्राह्मणादि तीनों वर्ण में (पञ्चानाम्) धनादि पूर्वोक्त पांचों में से (यत्र) जिस वर्ण वा मनुष्य में (भूयांसि) दो तीन वा चार (स्युः) हों (च) अथवा (गुणवन्ति) विद्यादि प्रबल गुण वा बहुत उपकार के हेतु धनादि हों (सोऽत्र मानार्हः) वह तीनों वर्ण में अधिक माननीय है अर्थात् प्रत्युत्थान अभिवादनादि से पूजनीय है (अपि) वैसे ही (दशमींगतः,शूद्रः) नव्वे वर्ष से ऊपर की अवस्था का धनादि वाला शूद्र भी अन्य शूद्रों वा द्विजों को प्रत्युत्थानादि से मान करने योग्य है ॥

भा०—जहां धनादि अधिक हों वह माननीय है इस कथन से धनादि कई का एकत्र होना वा प्रबल विद्यादि एक २ होना मान का हेतु है किन्तु ब्राह्मणादि जाति मात्र ब्राह्मणादिपन इन की अपेक्षा मान का हेतु नहीं यह जताया है । ऐसी दशा में जिस क्षत्रिय वा वैश्य में कई धनादि वा प्रबलविद्यादि मान के हेतु हों वह भी जाति मात्र से ब्राह्मण को पूज्य वा मान्य है तथा क्षत्रिय को वैश्य तथा वैश्य को शूद्र का मान करना चाहिये । इस प्रकार इस अंश में १३५ वें श्लोक का भी यह अपवाद है । और धनादि के अधिक न होने पर ब्राह्मणादि ऊंचे वर्ण का क्षत्रियादि मान करें इस अंश में उस श्लोक को अवकाश है ॥१३७॥

चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रिया ।
स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्था देयो वरस्य च १३८

अ०—अथ मार्गप्रदानेन पूज्यान्दर्शयति—चक्रिणश्चक्रसम्बन्धिरथादियानारूढस्य दशमीस्थस्य नवतिवर्षेभ्योऽधि-

कायुष्कस्यरोगिणोरोगातुरस्यभारिणोभारपीडितस्यस्त्रियाः सर्ववर्णस्थायाः स्नातकस्य नियमानुकूलं ब्रह्मचर्यं समाप्य गृहमागतस्य सद्यःकृतसमावर्त्तनस्य राज्ञोऽभिषिक्तस्य वरस्य च विद्यादिगुणैर्जगति लब्धप्रतिष्ठस्य च—एषामन्यैः पथि समागमे सति पन्थादेयएषां गमनाय मार्गस्त्याज्यः ॥

भा०—मान्यामान्यप्रसंगेऽयमप्येकः पूजाप्रकारः । वरराजस्नातकदशमीस्थानां प्रतिष्ठार्थं मार्गप्रदानमन्येषां त्वशक्त्यापक्रान्तुमशक्तत्वान्मार्गस्त्याज्यः । दशमीस्थस्योभयथापि मार्गप्रदानं सप्रयोजनम् ॥ १३८ ॥

भाषार्थः—अब मार्ग से हट कर कौन किस का आदर करे सो दिखाते हैं (चक्रिणः) पहियों वाले रथादि यान पर चढ़े (दशमीस्थस्य) नब्बे वर्ष से अधिक आयु वाले (रोगिणः) रोगी (भारिणः) बोझा लेजाते हुए (स्त्रियाः) किसी वर्ण की स्त्री (स्नातकस्य,च) नियमानुकूल ब्रह्मचारी रह कर जो गृहस्थ बना हो (राज्ञश्च) राजगद्दी जिस को दीगयी हो (वरस्य,च) और जिसने विद्यादि गुणों की अधिकता से प्रतिष्ठा प्राप्त की हो इन सब का अन्यों के साथ मार्ग में समागम होने पर (पन्थाः,देयः) इन के निकलने के लिये अन्यों को मार्ग छोड़ देना चाहिये ॥

भा०—मान्यामान्य के प्रसंग में यह भी एक आदर सत्कार की रीति है । यहां श्रेष्ठ, राजा, स्नातक, दशमीस्थों की प्रतिष्ठा के लिये मार्ग छोड़ना और अन्यों को असमर्थ होने से हट नहीं सकते इस से मार्ग छोड़ना चाहिये तथा सौ वर्ष की आयु वाले को प्रतिष्ठा और अशक्ति दोनों कारण से मार्ग छोड़ना प्रयोजनीय है ॥ १३८ ॥

तेषान्तु समवेतानां मान्यौ स्नातकपार्थिवौ ॥
राजस्नातकयोश्चैव स्नातको नृपमानभाक् १३९

अ०—तेषां चक्रयादीनामितस्ततो मार्गे समवेतानां संयुक्तानां चक्रयादिभिर्मार्गप्रदानेन स्नातकपार्थिवौ मान्यौ । एकमार्गे इतस्ततआगतयोराजस्नातकयोश्च स्नातको नृप-

मानभाग्भवति मानं भजतइति मानभाग् नृपेण मानभाङ्-नृपमानभाक् ॥

भा०—चक्र्यादीनामितरेतरमेकमार्गसमागमे सति राजस्नातकौ मार्गावकाशदानेनान्यैरशक्तैरुग्णादिभिरपि पूज्यौ भवेताम्। तयोश्च समागमे राज्ञा स्नातक एव पूज्यः। इयं च विद्याव्रतधर्माणां प्रतिष्ठा नतु कस्यचिद्देहधारिणइति। यत्र देशे राज्ये वा विद्यावृद्धा व्रतचारिणो धार्मिका राजापेक्षयाऽप्यधिकपूजार्हा भवन्ति तत्रस्था एव चिरं सुखभाजः सम्भवन्तीत्याशयः ॥ १३९ ॥

भाषार्थः—(तेषान्तु, समवेतानाम्) उन गाढ़ी वाले आदि का आपस में इधर उधर से आकर मार्ग में संयोग हो तो गाढ़ी वाले आदि को चाहिये कि (स्नातकपार्थिवौ) स्नातक और राजा का मार्गावकाश देकर (मान्यौ) मान्य करें (च) और (राजस्नातकयोः) एक मार्ग में राजा तथा स्नातक इधर उधर से आमिलें तो (स्नातकएव, नृपमानभाक्) राजा को मार्ग देकर स्नातक का ही मान करना चाहिये. किन्तु राजा हट जावे ॥

भा०—गाढ़ी वाले आदि का परस्पर एक मार्ग में समागम हो तो राजा और स्नातक का असमर्थ रोगी आदि भी मार्ग छोड़ के आदर करें तथा राजा और स्नातक के समागम में राजा को स्नातक का ही आदर सत्कार करना चाहिये। यह विद्या व्रत और धर्म की प्रतिष्ठा है किन्तु किसी देहधारी की नहीं। जिस देश वा राज्य में नियमधारी धार्मिक विद्वानों का राजा की अपेक्षा भी अधिक मान्य होता है वहां के लोग दीर्घ काल तक सुखी रहने सम्भव हैं यह आशय जानो ॥१३९॥

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः ॥
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥१४०॥

अ०—सम्प्रति सत्कारभेदप्रतिपादनायाचार्यादिसञ्ज्ञाभेदानाह—यो द्विजो ब्राह्मणः शिष्यमुपनीय सकल्पं यज्ञविद्याविधायकश्रौतगृह्यसूत्रादिसहितं सरहस्यमध्यात्मज्ञानप्र-

तिपादकोपनिषदादिसहितं च वेदमध्यापयेत्पाठयेत्तमाचार्यं प्रचक्षते कथयन्ति ॥

भा०-सामान्यवाचकोपि द्विजशब्दोऽत्राध्यापनाधिकारिणो ब्राह्मणस्यैव वाचको विशेषपरत्वात्। सर्वमान्येष्वाचार्यएव प्रधानः सर्वगुणेषु विद्यायाएव श्रेष्ठतमत्वात् । अतएवाचार्यस्यादौ लक्षणमुक्तम् । कल्परहस्यशब्दौ चाङ्गोपाङ्गोपलक्षकौ तेन ब्राह्मणान्युपवेदाश्च सर्वएव वेदार्थबोधसाधना ग्रन्था ग्राह्यास्तस्मात्सर्वाङ्गोपाङ्गसंयुतं वेदमध्यापयेत्स आचार्यत्वेन मान्यःस्यात् ॥ १४० ॥

भाषार्थः-अब अनेक मान्यों का भिन्न २ सत्कार कहने के लिये आचार्य आदि संज्ञाओं का भेद कहते हैं-(यः, द्विजः) जो द्विज ब्राह्मण (शिष्यम्) शिष्य का (उपनीय) यज्ञोपवीत संस्कार करके (सकल्पम्) यज्ञविद्या के विशेष प्रतिपादक श्रौत वा गृह्यसूत्रादि (च) तथा (सरहस्यम्) अध्यात्मज्ञान प्रतिपादक उपनिषदादि ग्रन्थों सहित (वेदम्, अध्यापयेत्) वेद पढ़ावे (तम्, आचार्यम्, प्रचक्षते) उस को आचार्य कहते हैं ॥

भा०-सामान्यवाचक भी द्विज शब्द यहां पढ़ाने के अधिकारी ब्राह्मण का ही वाचक मानना चाहिये । सामान्य शब्द भी विशेषार्थ होते ही हैं। सब गुणों में विद्या के अत्यन्त श्रेष्ठ होने से सब मान्यों में आचार्य ही मुख्य है इसीलिये पहिले आचार्य का लक्षण कहा । कल्प और रहस्य शब्द यहां अङ्ग और उपाङ्ग के उपलक्षणार्थ हैं इस से ब्राह्मण और उपवेदादि वेदार्थ जानने के साधन सभी ग्रन्थ ग्राह्य हैं। इस कारण सब अङ्ग उपाङ्गोंसहित वेद को पढ़ाने वाले पुरुष का आचार्यपन से मान्य होना चाहिये ॥१४०॥

एकदेशन्तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः ॥
योऽध्यापयतिवृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते॥

अ०-यो ब्राह्मणो वेदस्यैकदेशमृगादिरूपं तदवयवरूपमष्टकमण्डलादिरूपं वा वेदे प्रवेशार्थमपिवाऽथवा पुनर्व्या-

करणादीनि षट्वेदाङ्गानि वृत्त्यर्थं जीविकायै वेदवेदाङ्गाध्यापनेन मासिकादिवेतनमवाप्य भोजनादिनिर्वाहं कुर्यामिति मत्वाऽध्यापयति स उपाध्याय उच्यते कथ्यते जनैरिति शेषः ॥

भा०—अध्यापनं ब्राह्मणस्य धर्मः स च निष्कारणापेक्षया सकारणो निकृष्टः । ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च । निषिद्धाध्यापनापेक्षयाऽनध्यापनापेक्षया च सनिमित्तमध्यापनमपि श्रेष्ठो धर्मः अतो निष्कारणाध्यापकाचार्यापेक्षयैवोपाध्यायस्य न्यूनत्वं नत्वन्यापेक्षयेति ॥ १४१ ॥

भाषार्थः—(तु) और (यः) जो द्विज ब्राह्मण (वेदस्य, एकदेशम्) समस्त वेद के ऋगादि नामक किसी भाग वा उस के भी किसी अष्टक मण्डलादि भाग को वेद में प्रवेश होने के लिये (अपि वा पुनः) अथवा फिर (वेदाङ्गानि) वेद के व्याकरणादि छः अङ्गों को (वृत्त्यर्थम्) वेदवेदाङ्ग पढ़ा कर मासिक वेतन प्राप्त करके भोजनादि का निर्वाह करूं ऐसे विचार से जीविका के लिये (अध्यापयति) पढ़ाता है (स उपाध्याय उच्यते) लोग उस को उपाध्याय कहते हैं ॥

भा०—पढ़ाना ब्राह्मण का धर्म है वह निष्कारण धर्म की अपेक्षा सकारण अध्यापन छोटा धर्म है "ब्राह्मण का निष्कारण धर्म है कि छः अङ्गोंसहित वेद को पढ़े और जाने" जीविकादि के लिये पढ़ाना सकारण और किसी प्रकार का स्वार्थ न रख कर पढ़ाना निष्कारण है । निषिद्ध अध्यापन की अपेक्षा सकारण अध्यापन भी श्रेष्ठ धर्म है । इस से निष्कारण अध्यापक आचार्य की अपेक्षा से उपाध्याय छोटा है किन्तु अन्य की अपेक्षा से नहीं ॥१४१॥

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ॥
संभावयति चान्नेन सविप्रो गुरुरुच्यते ॥१४२॥

अ०—यो विप्रो मेधावी पितान्यो वा यथाविधि विधानानुकूलं निषेकादीनि गर्भाधानादीनि कर्माणि यस्य करोति

कारयति वा तथाऽन्नेनान्नदानेन संभावयति संवर्धयति पोषयति समर्थयति स गुरुरुच्यते कथ्यते ॥

भा०-गर्भाधानादिकर्माणि पुत्रस्य पितैव कुर्यादिति बहुत्र विधीयते सएव स्वश्रमोपार्जितेनान्नाद्याहारेणापत्य-शरीरं वर्धयति च तस्माच्छ्रौतस्मार्तधर्मकर्मज्ञः पितैवापत्य-स्य गुरुः शास्त्रेषु विवक्षितः। यदि कोऽप्यपठितः स्वयं संस्का-रान् कर्त्तुमशक्तस्तदा तत्प्रतिनिधिः कश्चित्पुरोहितादिः पित्रा निषेकादीनि कारयेत्तथापि पितरि गुरुत्वं न व्याहन्यते कस्मि-न्नप्यंशे पुरोहितादौ गुरुत्वमायाति तावदेव च पितरि न्यूनं गुरुत्वं भवतु प्रधानांशे च तदापि पितैव सन्तानस्य गुरुरि-त्याशयः ॥ १४२ ॥

भाषार्थः-(यः) जो (विप्रः) विचारशील पिता वा अन्य (यथाविधि) शास्त्रों में कहे अनुसार (निषेकादीनि,कर्माणि) गर्भाधानादि सोलह संस्कार जिस के (करोति) करता वा कराता है (च) और (अन्नेन) अन्नादि आहार से (संभावयति) पाल पोष समर्थ करता है (सः,गुरुरुच्यते) वह गुरु कहाता है॥

भा०-पुत्र के गर्भाधानादि संस्कार स्वयं पिता ही करे ऐसा बहुत ग्रन्थों में विधान है वही पिता अपने परिश्रम से उपार्जन किये अन्नादि आहार से सन्तान के शरीर को बड़ा करता इस से श्रौतस्मार्त्त धर्म कर्मों का जानने वाला पिता ही सन्तान का गुरु शास्त्रों में माना गया है। यदि अपढ़ पिता स्वयं संस्कार नहीं कर सकता तो उस का प्रतिनिधि कोई पुरोहितादि पिता से गर्भाधानादि करावे तो भी पिता के गुरु होने में विरोध नहीं। इस दशा में किसी अंश में पुरोहितादि में भी गुरुपन रहो उतना ही पिता में गुरुभाव कम होगा पर वीर्यदान अन्नदानादि से समर्थ करने में मुख्य होने से पिता ही सन्तान का मुख्य गुरु है॥१४२॥

अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान् मखान् यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते १४३

अ०-यो वृतो वरणविधिना यजमानेन स्वीकृतो यस्य यजमानस्याग्न्याधेयमग्निहोत्रादिकं पाकयज्ञान् पक्कहविः

सम्पाद्यान् दर्शपौर्णमासादीन् अग्निष्टोमादिकान् मखान् क्रतूंश्च करोति स तस्यैव यजमानस्येह शास्त्रे ऋत्विगुच्यते॥

भा०—गर्भाधानादिनैमित्तिकगृह्यकर्मणां कारयिता लोके पुरोहितपदवाच्यः। सएव च पितुः प्रतिनिधित्वात्कस्मिन्नप्यंशे गुरुपदवाच्योऽपि विज्ञेयः। यौगिकं गुरुत्वं च सर्वेष्वेवाचार्यादिष्वस्ति। अभ्युत्याननमस्कारादिना मान्यानां प्रसंगे ऋत्विगादिपरिगणनं प्रासंगिकं नतु ब्रह्मचारिप्रकरणेन तेषां कोऽपि सम्बन्धविशेषोऽस्ति। अत्र च यः करोति वृतो यस्येति कथनाद्यः कोऽपि श्रीमत्त्वादिहेतुना स्वयं श्रौतस्मार्त्तकर्माणि कर्त्तुमशक्तः स्यात्स प्रतिनिधिनैव कारयेद्येन कर्मलोपो न स्यादिति ज्ञाप्यते ॥ १४३ ॥

भाषार्थः—(यः, वृतः) जो वरण विधि से यजमान ने स्वीकार किया (यस्य) जिस यजमान के (अग्न्याधेयम्) अग्निहोत्रादि (पाकयज्ञान्) स्थालीपाक हविष्य से होने वाले दर्श पौर्णमासादि तथा (अग्निष्टोमादिकान्, मखान्) अग्निष्टोमादि बड़े २ यज्ञों को (करोति) करता है (सः, तस्य) वह उसी यजमान का (इह, ऋत्विगुच्यते) इस शास्त्र में ऋत्विज् कहाता है ॥

भा०—गर्भाधानादि नैमित्तिक गृहस्थ संस्कारों का कराने वाला लोक में पुरोहित कहाता वही पिता का प्रतिनिधि होने से गुरु भी जानना चाहिये। और यौगिक गुरुपन तो आचार्यादि सभी में रहता है। अभ्युत्थान नमस्कारादि द्वारा मान्यपुरुषों के प्रसंग में ऋत्विज् आदि का परिगणन प्रकरणानुकूल है। किन्तु ब्रह्मचारी के प्रकरण में उन का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। यहां "यः करोति वृतो यस्य०" जो कोई विशेष धनवान् होने आदि के कारण स्वयं श्रौतस्मार्त्त कर्म नहीं कर सकता वह प्रतिनिधि से ही करावे जिस से कर्म का लोप न हो यह जताया है ॥ १४३ ॥

य आवृणोत्यऽवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ ॥
स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत्कदाचन ॥१४४॥

अ०-य आचार्यः शिष्यस्योभौ श्रवणौ कर्णौ ब्रह्मणा वेदाध्यापनेनावितथं सत्यं यथास्यात्तथाऽऽवृणोत्याच्छादयति पूरयति स तेन शिष्येण स्वस्य माता सएव च पिता ज्ञेयस्तं शिष्यः कदाचनाध्ययनानन्तरं निस्सृतप्रयोजनः स्वयं पण्डितो भूत्वापि न द्रुह्येन्न विरुद्धमाचरेत् ॥

भा०-सर्वमान्येषु मातापितरावेव प्रधानाविति वक्ष्यति तद्वद्देवाचार्यो वेदाध्यापकोऽपि मान्यइति सूचयितुं स माता स पिता ज्ञेय इति कथनम्। „य आतृणात्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन्। तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कतमच्चनाह" इत्यस्य निरुक्तधृतवैदिकमन्त्रस्यैवाशयोऽत्र पद्ये वर्णितः। केचिदधमाः शिष्या निस्सृते प्रयोजने पूर्वोपकारिणमाचार्यं नाद्रियन्तेऽवमन्यन्ते वा स च कृतघ्नतारूपोऽधर्मस्तस्मात्पूर्वोपकारिण आचार्यादेः सदैवोपकारोऽनुकूलाचरणं च धर्मेप्सुना कार्यम् ॥१४४॥

भाषार्थः-(यः) जो वेद पढ़ाने वाला आचार्य गुरु (उभौ, श्रवणौ) दोनों कान (अवितथम्) सत्यस्वरूप पवित्र (ब्रह्मणा) वेद पढ़ाकर (आवृणोति) भर देता है अर्थात् पवित्र वेद का शब्दार्थ सम्बन्ध और गूढाशय कानों द्वारा मन आत्मा में भर देता है- शिष्य को चाहिये कि (सः, माता, सः, पिता, ज्ञेयः) उसी को माता पिता दोनों जाने और (कदाचन) कभी (तम्) उस गुरु से (न, द्रुह्येत्) द्रोह न करे अर्थात् प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर पढ़ के स्वयं पण्डित होजाय तब भी विरुद्ध न चले ॥

भा०-सब मान्यों में माता पिता ही सर्वोपरि मुख्यमान्य हैं यह आगे कहा है उन्हीं के तुल्य वेद पढ़ाने वाले आचार्य का भी मान्य करे यह जताने के लिये (स माता०) इत्यादि कथन है। „(यआतृणत्ति०) जो गुरु सत्य वेदरूप सुधी से पीड़ा न करता और विद्यामृत पिलाता हुआ दोनों कान छेदता है उस को शिष्य अपना पिता माता माने उस से कभी द्रोह न करे उस के सामने चुप रहे कुछ न कहे"। इस निरुक्त में कहे वेद मन्त्र का ही आशय इस श्लोक में कहा

गया है। कोई नीच प्रकृति शिष्य प्रयोजन निकल जाने पर पूर्वोपकारी गुरु का मान्य नहीं करते वा अपमान करते हैं सो धर्म पर चलने की इच्छा वाले को ऐसा कदापि नहीं करना चाहिये ॥ १४४ ॥

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ॥
सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते॥१४५॥

अ०—दशोपाध्यायानाचार्य उपाध्यायापेक्षया दशगुण आचार्यो मानार्हः, आचार्याणां शतं पिताऽऽचार्यापेक्षया शतगुणमानार्हः पिता स्वस्य जनकः, सहस्रं तु पितॄनपेक्ष्य माता गौरवेणातिरिच्यते पितुरपेक्षया सहस्रगुणगौरवेण माता माननीया ॥

भा०—अत्राचार्यपदं गौणाचार्यवाचकं यो वृत्त्यादिनिमित्तमन्तरेणैवाध्यापनं मम धर्मइति मत्वा वेदैकदेशमुपनयनकाले सावित्रीमात्रं वाऽऽध्यापयति स उपाध्यायापेक्षया दशगुणस्तदपेक्षया च शतगुणमान्यः पिता मुख्याचार्यापेक्षया तु पितः सर्वांशे गौरवं नास्त्येव। केषुचित्प्रसङ्गेष्ववसरेषु वा पितुरपेक्षयाऽऽचार्यस्य विशिष्टं मान्यं केषुचिच्चाचार्यापेक्षया पितुर्मान्याधिक्यमिति विवेकः। तथासति यत्र यत्र यदपेक्षया यस्य मान्याधिक्यमुच्यते तत्रतत्र कार्यावसरविशेषाः संयोज्यास्तेन च सर्वत्र विरोधपरिहारः कार्यः ॥१४५॥

भाषार्थः—(दशोपाध्यायानाचार्यः) उपाध्याय की अपेक्षा दश गुणा आचार्य का (आचार्याणाम्, शतम्, पिता) आचार्य से सौ गुणा अधिक पिता का (तु) और (सहस्रम्, पितॄन्, माता गौरवेण, अतिरिच्यते) पिता से हज़ार गुणे गौरव से माता का मान्य सेवा सत्कार आज्ञापालनादि करना चाहिये ॥

भा०—इस श्लोक में आचार्य शब्द गौण आचार्य का वाचक लेना चाहिये कि जो जीविकादि निमित्त के विना ही अध्यापन को अपना धर्म मान कर संस्कार

के समय सावित्री मात्र वा वेद के किसी भाग को पढ़ावे उस का उपाध्याय से दशगुणा तथा उस से सौगुणा पिता का मान्य करे। पर मुख्य सर्वांश वेद पढ़ाने वाले आचार्य की अपेक्षा सर्वांश में पिता का गौरव नहीं है तभी (१४६) आदि श्लोक ठीक घटेंगे। किन्हीं प्रसंगों वा अवसरों में पिता से आचार्य का और किन्हीं अवसरों में आचार्य से पिता का अधिक मान्य करना चाहिये। ऐसा होने पर जहां २ जिस की अपेक्षा जिस का अधिक मान्य कहा है वहां २ कार्य और अवसरों की विशेषता लगा लेनी चाहिये जिस से सर्वत्र विरोध हट जायगा ॥१४५॥

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः पिता ॥
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥

अ०-उत्पादकब्रह्मदात्रोर्मध्ये ब्रह्मदो वेदाध्यापकः पिता वेदज्ञानप्रद आचार्यः पिता गरीयानतिशयेन गुरुर्मान्यः विप्रस्य मेधाविनो द्विजस्य प्रेत्य च इह च विद्यमानशरीरे मरणानन्तरं च ब्रह्मजन्म हि ब्रह्मणि वेदतत्त्वार्थज्ञाने जन्म जायमानत्वं प्राकट्यं शाश्वतमविनश्वरफलम् ॥

भा०-व्युत्पत्तिपक्षे पितृपदं दुःखाद्रक्षकस्य सुखप्रदातुर्वा वाचकमिति मत्वैवान्यत्रोक्तम् „जनकश्चोपनेता च यश्च विद्यां प्रयच्छति । अन्नदाता भयात्त्राता पञ्चैते पितरः स्मृताः" शरीरसम्बद्धकार्येषु जनकस्य प्राधान्यं पुत्रस्य जनकात्मजत्वात् । जीवात्मसम्बद्धकार्येष्ववसरेषु वाऽऽचार्यस्यैव प्राधान्यम् । विद्यया संस्कृत आत्माऽन्तःकरणं च जन्मान्तरेष्वपि सुखमनुभवति दुःखगर्त्ते च न पतति। तस्मादेकजन्मनिरक्षकात्पितुर्जन्मान्तरेष्वपि दुःखभयाद्रक्षकः सुखप्रदो ज्ञानप्रद आचार्यः श्रेष्ठः ॥ १४६ ॥

भाषार्थः-(उत्पादकब्रह्मदात्रोः) उत्पादक और वेदाध्यापक इन दोनों में से (ब्रह्मदः, पिता, गरीयान्) वेदतत्त्वार्थ का ज्ञान देने वाला आचार्य पिता अधिक मान्य है क्योंकि (विप्रस्य) विचारशील ब्राह्मण का (इह, च) इस विद्यमान

शरीर में और (प्रेत्य) मरणानन्तर (ब्रह्मजन्म हि) वेद के तत्त्वार्थ ज्ञान की प्रकटता ही (शाश्वतम्) अविनाशी मुक्ति फल देने वाली है ॥

भा०–व्युत्पत्ति पक्ष में पितृशब्द दुःख से बचाने वा सुख देने वाले का वाचक है ऐसा मानकर ही नीति में कहा है कि "उत्पन्न करने, यज्ञोपवीत देने, विद्या देने, अन्न देने और भय से बचाने वाला ये पांच पिता कहाते हैं" शरीरसम्बन्धी कार्यों में उत्पादक पिता की मुख्यता है क्योंकि पुत्र का शरीर उस के शरीर का ही अंश है। और जीवात्मसम्बन्धी कार्यों वा अवसरों में आचार्य पिता की प्रधानता है। क्योंकि विद्या से शुद्ध हुआ आत्मा तथा मन जन्मान्तरों में भी सुख भोगता और दुःख के गढ़े में नहीं गिरता इस से एक जन्म में रक्षक पिता की अपेक्षा जन्मान्तरों में भी दुःख भय से बचाने तथा ज्ञान वा सुख देने वाला आचार्य श्रेष्ठ है ॥ १४६ ॥

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः ॥
संभूतिं तस्य तां विद्याद्यद्योनावभिजायते॥१४७॥

अ०–माता पिता च मिथः कामाद्यदेनमपत्यमुत्पादयतो मैथुनावसरे कामभोगलोलुपौ पितरौ प्रायेण यदपत्यमुत्पादयतस्तस्य पुत्रस्य पश्वादिवत्संभूतिं तां जरामरणसम्बद्धां विनश्वरां विद्याज्जानीयाद्यद्योनौ मातृकुक्षावभिजायतेऽङ्गप्रत्यङ्गानि प्राप्नोति ॥

भा०–विद्याप्रशंसार्थोऽयमर्थवादः। अन्यस्य न्यूनत्वमपीतरस्य प्रशंसाहेतुरिति प्रसिद्धमेव। प्रायेण च स्त्रीपुंसौ कामातुरावेव गर्भाधानं कुरुतो न तत्रापत्यमुत्पाद्य सुखेनोपकुर्यातेति तयोः प्रयोजनं विवक्षितं भवति। यत्र च पुत्रोत्पत्तिप्रयोजनमुद्दिश्य संप्रयुज्येते तत्रापि कामासक्तिरनिवार्यैव। तस्मात्पुत्रस्य शरीरमात्रेण ताभ्यामुत्पादितेनैव तयोः सम्बन्धो नत्वात्मना कोऽपि सम्बन्धः। आचार्यस्तु विद्ययाऽस्य जगतश्चोपकारः स्यादित्युद्देशेन स्वार्थोद्देशमन्तरैव वेदमध्यापयति तस्मात् पितुः श्रेष्ठः ॥ १४७ ॥

भाषार्थः–(माता, पिता, च) माता और पिता (मिथः) मिलकर मैथुन के समय (कामात्) कामासक्ति से (यदेनमुत्पादयतः) जो इस सन्तान को उत्पन्न करते हैं अर्थात् कामभोग में लिप्त हो कर ही प्रायः माता पिता सन्तान को जन्माते हैं (तस्य) उस पुत्र की (ताम्, संभूतिम्) जरामरणयुक्त विनाश वाली पशु आदि के तुल्य उस उत्पत्ति को (विद्यात्) जाने (यद्योनावभिजायते) कि जो माता के उदर में इस का सब शरीर बनता है इस से शरीर के स्वामी माता पिता हैं ॥

भा०–विद्या की प्रशंसा के लिये यह अर्थवाद है। किसी की न्यूनता दिखाने से अन्य की प्रशंसा सिद्ध होना प्रसिद्ध ही है। प्रायः स्त्री पुरुष कामातुर हो कर ही गर्भाधान करते हैं किन्तु सन्तान को उत्पन्न कर सुखी करें ऐसा प्रयोजन वा उद्देश उन का नहीं होता। और यदि कोई २ पुत्रोत्पत्ति के प्रयोजन का उद्देश रख कर संयोग करते हैं वहां भी कामासक्ति रहती ही है। इस से उन के उत्पन्न किये पुत्र के शरीर मात्र के साथ उन का सम्बन्ध है किन्तु आत्मा के साथ कुछ नहीं। और आचार्य पिता विद्या से इस का और जगत् का उपकार हो इस उद्देश से स्वार्थसिद्धि प्रयोजन के विना ही वेद पढ़ाता है इस कारण उत्पादक पिता से श्रेष्ठ है ॥ १४७ ॥

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद् वेदपारगः॥
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजराऽमरा॥

अ०–वेदपारगो वेदतत्त्वार्थविदुक्तलक्षण आचार्यस्त्वस्य शिष्यस्य यां जातिं यद्द्वितीयं जन्म सावित्र्या वेदत्रय्या मूलभूतेन तत्सवितुरिति मन्त्रस्य तत्त्वार्थोपदेशेन विधिवदुत्पादयति सा जातिस्तज्जन्म सत्या सत्यं साऽजराऽमरा च। पितुरुत्पन्नदेहजन्माल्पकालस्थायित्वादसत्यं जरामरणसम्बद्धं च तदपेक्षया विद्याजन्म जन्मान्तरेऽप्यनश्वरमतो नित्यम्॥

भा०–द्विजन्मत्वस्य प्रशंसार्थवादोऽयम्। वस्तुतो वेदतत्त्वार्थबोधएवाशेषदुःखनिवृत्त्या मुक्तिस्वरूपाऽविनाशिसु-

स्वस्य हेतुरज्ञानं च सर्वदुःखानां मूलमिति सर्वशास्त्रानुमतम्। वेदतत्त्वार्थबोधस्योपनयनपूर्वकसावित्र्युपदेशएवादिकारणम् ॥ १४८ ॥

भाषार्थः—(तु) और (वेदपारगः) वेद के तत्त्व सारांश का जानने वाला पूर्वोक्त (आचार्यः) आचार्य (अस्य) इस शिष्य के (याम्, जातिम्) जिस द्वितीय जन्म को (सावित्र्या) त्रयीविद्या के मूल स्वरूप तत्सवितु० इस मन्त्र के तत्त्वार्थोपदेश से (विधिवत्) विधिपूर्वक (उत्पादयति) उत्पन्न करता है (सा, सत्या) वह पिता से उत्पन्न हुए देह की अपेक्षा चिरस्थायी होने से सत्य और (साऽजरामरा) वह जन्म वृद्धावस्था तथा मृत्यु से रहित है। पिता से उत्पन्न शरीर जरामरणयुक्त अल्पकालस्थायी होने से असत्य है तथा जन्मान्तर में भी अविनाशी विद्याजन्म नित्य वा सत्य है ॥

भा०—द्वितीय जन्म की प्रशंसा का यह अर्थवाद है। वास्तव में वेद का तत्त्वार्थज्ञान ही सम्पूर्ण दुःखों को निवृत्त कर मुक्तिरूप अविनाशी सुख का हेतु और अज्ञान सब दुःखों का मूल है यह सब शास्त्रों के सहमत है। वेद के तत्त्वार्थ बोध का उपनयनानन्तर सावित्री मन्त्र का विधिपूर्वक उपदेश ही आदि कारण है ॥ १४८ ॥

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः ॥
तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतोपक्रियया तया ॥१४९॥

अ०—यः कोऽप्यध्यापको धर्मोपदेशकादिर्वा यस्य जिज्ञासोरल्पं वा बहु वा श्रुतस्य श्रुतेन वेदादिशास्त्रेण तदाशयोपदेशदानेन वोपकरोति सुपथ्यानयति तया श्रुतोपक्रियया शास्त्रोक्तसन्मार्गानयनरूपेण तेनोपकारेण हेतुना कृतज्ञतया प्रत्युपकुर्वाणस्तमपीह लोके गुरुं विद्याज्जानीयात् ॥

भा०—विधिरयं, गुरुपदं यौगिकार्थपरमपि शास्त्रे यथावसरं ग्राह्यम्। तमपीहेत्यत्रापिशब्देन पितुराचार्यस्य च

गुरुत्वमस्त्येवेति ज्ञाप्यते। कृतज्ञतारूपं धर्मं जानानः शास्त्राध्यापनेन तदाशयोपदेशेन वा स्वस्योपकारकमभ्युत्थानाभिवादादिना सदैव सत्कुर्यान्न कदापि वैरं विरोधं वा तेन कुर्वीत ॥ १४९ ॥

भाषार्थः—(यः) जो कोई अध्यापक वा धर्मोपदेशकादि (यस्य) जिस जिज्ञासु का (श्रुतस्य) वेदादि शास्त्र को सुना कर वा उस के आशय का उपदेश दे कर (अल्पं वा बहु वा) थोड़ा वा बहुत (उपकरोति) उपकार करे वा सुमार्ग में लावे (तया, श्रुतोपक्रियया) उस सन्मार्ग में लाने रूप उपकार हेतु से कृतज्ञता के साथ प्रत्युपकार करता हुआ (तमपीह गुरुं विद्यात्) उस को भी जगत् में गुरु जाने वा माने ॥

भा०—यह भी विधिवाक्य है। गुरु शब्द शास्त्र में यथावसर यौगिकार्थ भी लेना चाहिये किन्तु सर्वत्र पारिभाषिक ही नहीं इसी लिये यह कथन है (तमपीह०) यहां अपिशब्द से जताया है कि पिता और आचार्य का गुरु होना तो बहुत उपकारी होने के कारण सिद्ध ही है। कृतज्ञतारूप धर्म को जानता हुआ शास्त्र के पढ़ाने वा उस के आशय का उपदेश देकर अपना थोड़ा भी उपकार करने वाले का अभ्युत्थान और अभिवादनादि से सदा ही आदर सत्कार करे उस के साथ कभी वैर वा विरोध न करे ॥ १४९ ॥

ब्राह्मस्य जन्मनः कर्त्ता स्वधर्मस्य च शासिता॥
बालोऽपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः॥१५०॥

अ०—ब्रह्मणि वेदे भवस्य जन्मनो वेदार्थबोधजप्रतिष्ठाप्रादुर्भावस्य कर्त्ता ब्राह्मणेन क्षत्रियेण वा त्वयेदमित्थं स्वं धर्म्यं कर्म कार्यमित्यादिप्रकारेण वर्णानुकूलं वेदोक्तधर्मस्य शासिता शिक्षक आचार्यादिर्बालोऽप्यल्पवयस्कोऽपि विप्रो विद्वान् वृद्धस्य जराजीर्णेन्द्रियशरीरस्य धर्मतो धर्मेण जनकपितृवत्सेवनाय पिता भवति स च वृद्धः पुत्रवत् ॥

भा०--अतआरभ्याष्टपञ्चाशदुत्तरशततमपद्यावधि वेदवित्प्रशंसार्थाः सर्वेऽर्थवादाः । वयोवृद्धेनापि शिष्येणाल्पवया अपि शिक्षकः पितृवत्परिचरणीयोऽयमेव धर्मोऽतोविरुद्धाचरणं चाधर्मएव ॥ १५० ॥

भाषार्थः-(ब्राह्मस्य, जन्मनः, कर्त्ता) वेदार्थ बोध से होने वाली प्रतिष्ठा के प्रसिद्धकर्त्ता (स्वधर्मस्य, च, शासिता) तुम ब्राह्मण वा क्षत्रिय को इस प्रकार अपना धर्म कर्म करना चाहिये इत्यादि प्रकार वर्णानुकूल वेदोक्त धर्म की शिक्षा देने वाला आचार्य आदि (विप्रः) विद्वान् (बालोऽपि) अवस्था में छोटा हो तो भी (वृद्धस्य) वृद्धावस्था के कारण जिस का शरीर और इन्द्रिय शिथिल हो गये हों उस का (धर्मतः) धर्मानुकूल उत्पादक पिता के तुल्य मान्य वा सेवनीय (पिता भवति) पिता होता है ॥

भा०-यहां से लेकर १५८ एकसौ अट्ठावनवें श्लोक तक वेदज्ञ की प्रशंसा के सब अर्थवाद हैं । अवस्था में बड़े भी शिष्य को अपने से छोटे भी शिक्षक का पिता के तुल्य पूजन वा सत्कार करना चाहिये यही धर्म है इस से विरुद्ध करना अधर्म जानो ॥ १५० ॥

अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः ॥
पुत्रका इतिहोवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान्॥१५१॥

अ०-आङ्गिरसोऽङ्गिरसः पुत्रः शिशुरल्पवयाः कविः पण्डितो विद्वान् ज्ञानेन विद्वत्ताप्राबल्येन पितॄन् पितृकोटिस्थान् पितृव्यादीन् परिगृह्य शिष्यत्वेन स्वीकृत्याध्यापयामास वेदादिशास्त्राण्यध्यापितवान् स कदाचिदाह्वानावसरे कुत्सिता अनुकम्पिता अल्पा वा पुत्राः पुत्रकाः-हे पुत्रकाः ! अत्रागच्छत इतिह-इत्यादिरीत्योवाचाहूतवान् ॥

भा०-ज्ञानस्य विद्यायाश्च श्रेष्ठतमत्वप्रतिपादनाय दृष्टान्तरूप इतिहास उदाह्रियते ॥१५१॥

भाषार्थः-(आङ्गिरसः) अङ्गिरा ऋषि का पुत्र वा आङ्गिरस गोत्री (शिशुः) थोड़ी अवस्था का बालक (कविः) विद्वान् वा कविनामक (ज्ञानेन) विद्वत्ता

की प्रबलता से (पितॄन्) पितृकोटिस्थ पिता के भाई चाचा आदि को (परिगृह्य) शिष्यभाव से स्वीकार कर के (अध्यापयामास) वेदादिशास्त्र पढ़ाते थे। कभी बुलाने के समय (पुत्रकाः !) हे निकृष्ट पुत्रो वा बेटा ! यहां आओ पढ़ो (इति ह) इत्यादि रीति से (तान्) उन को (उवाच) बुलाया ॥

भा०-ज्ञान और विद्या की सर्वोपरि श्रेष्ठता कहने के लिये दृष्टान्तरूप इतिहास का उदाहरण देते हैं ॥ १५१ ॥

ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः ।
देवाश्चैतान् समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान्

अ०--ते आगतमन्यवः पुत्रका इत्याह्वानेन आगतो मन्युः क्रोध एषां तादृशाः कवेः पितरो देवांस्तमर्थं विषयमपृच्छन्तेत्थं पुत्रेणाह्वानं कृतं तद्युक्तं किमिति पृष्टवन्तः। देवाश्च समेत्यैकसम्मतिं कृत्वा शिशुर्वो युष्मान् न्याय्यं वच उक्तवानित्येतान् पितॄनूचुः ॥

भा०-देवपदेनात्र देवारूपदं प्राप्तास्तदानींतना विद्वांसो ब्राह्मणाएव ग्राह्याः सहचारित्वात्। यदा धर्मादिविषये कोपि कमपि विद्वांसं पृच्छेदत्र किं युक्तमिति तदा वेदानुकूलानेकानुमत्या विविच्य निर्णयः कार्यइति पूर्वकालेऽपि प्रचार आसीदेव। धर्मविषये पृष्टः सहसाऽविचारेण विपरीतं वा वदन् वक्ताप्यधर्मभाग्भवति ॥ १५२ ॥

भाषार्थः-(आगतमन्यवः) हे पुत्रो ! ऐसा कह कर बुलाने से क्रोध को प्राप्त (ते) उन कवि के पितृ लोगों ने (देवान्) उस समय के विद्वान् ब्राह्मणों से (तमर्थम्) उस विषय को (अपृच्छन्त) पूछा कि इस प्रकार पुत्र ने हम लोगों को बुलाया सो क्या उचित है ? (च) तब (देवाः समेत्य) देवता लोगों ने एक सम्मति से आपस में निर्णय करके (एतान्, ऊचुः) इन आङ्गिरस के पितृ लोगों से कहा कि (शिशुः, वः, न्याय्यमुक्तवान्) बालक ने तुम से न्यायानुकूल कहा ॥

भा०-यहां देवशब्द से उस समय के देवपदवी को प्राप्त विद्वान् ब्राह्मणों का ग्रहण जानो क्योंकि वादी प्रतिवादी के सहवासी ही पुरुष यहां प्रसङ्गानुसार

प्रतीत होते हैं। जब धर्मादि विषय में कोई किसी विद्वान् को पूछे कि इस विषय में क्या ठीक है तो अनेक विद्वान् लोगों की वेदानुकूल एक सम्मति से विवेचन करके निर्णय करना चाहिये ऐसा प्रचार पूर्वकाल में भी था। धर्मविषय में पूछने पर शीघ्रता में विना विचारे वा विचारपूर्वक लोभादि से विरुद्ध कहने वाला भी अधर्मभागी होता है ॥ १५२ ॥

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् १५३

अ०—अज्ञो वेदाशयानभिज्ञो वयसा वृद्धोऽपि बालो भवति मन्त्रदो मन्त्रान् वेदान् ददात्यध्यापयतीति मन्त्रदो वयसा बालोऽपि पिताऽविद्याजन्यदुःखाद्रक्षको वृद्धपितृवन्मान्यो भवति। यतोस्मत्पूर्वेऽपि विद्वांसोऽज्ञं मूर्खं बालमित्याहुः। मन्त्रदं वेदार्थबोधप्रदं तु पिता—इत्येवाहुः कथयन्ति स्म ॥

भा०—सर्गारम्भादेव बालो मूर्खोऽज्ञइत्यादय एकार्थाः, पिता वृद्धः पूज्यो विद्वानित्यादयश्चैकार्थाः शब्दाः शिष्टैरभिमताः। अतोऽज्ञत्वाद्यूयं बालाः पुत्रा मन्त्रदत्वाच्छुरपि कविर्युष्माकं पिता पूज्यस्तस्मात्पुत्रकपदेनाह्वानं युक्तमेव ॥१५३॥

भाषार्थः—(अज्ञः, बालः, वै, भवति) वेद के सिद्धान्त को न जानने वाला अज्ञानी आयु में बड़ा होने पर भी बालक ही होता वा माना जाता है (मन्त्रदः पिता भवति) और वेद पढ़ाने वाला अवस्था में छोटा भी अविद्यासम्बन्धी दुःख से बचाने वाला वृद्ध पिता के तुल्य पूज्य होता है। क्योंकि हम से पूर्व हुए विद्वानों ने भी (अज्ञं हि बालमित्याहुः) अज्ञानी को ही बालपदवाच्य कहा वा माना (तु) और (मन्त्रदम्, पितेत्येव) वेदार्थ बोध विद्या ज्ञानदाता को ही पिता कहा है अर्थात् अज्ञानी होने से ही छोटे बालक को भी बालक कहते और ज्ञानी होने से ही छोटा भी बड़ा माना जाता है ॥

भा०—सृष्टि के आरम्भ से ही बालक, मूर्ख, अज्ञानी इत्यादि शब्द एकार्थ और वृद्ध, विद्वान्, पिता वा पूज्य आदि शब्द शिष्ट लोगों ने एकार्थ माने हैं। इस

कारण अज्ञानी होने से तुम लोग बालक वा पुत्रक हो और विद्यादाता होने से बालक भी कवि तुम्हारा पिता वा पूज्य है इस कारण तुम को पुत्रक शब्द से बुलाना धर्मानुकूल ठीक ही है ॥ १५३ ॥

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥

अ०—न हायनैर्बहुभिर्वर्षैः परिणतायुर्न पलितैः शुक्लकेशैर्न बहुना वित्तेन धनेन न बहुभिर्बन्धुभिरेतैः सम्मिलितैरपि न कोऽपि विद्वदपेक्षया मान्यो भवति । योऽस्माकं मध्येऽनूचानः साङ्गोपाङ्गस्य सार्थस्य वेदस्यानुवाचकोऽध्यापकः सर्वहितकरस्य वेदाशयस्योपदेष्टा वा स नोऽस्माकं मध्ये महान् पूज्यो मान्यइति ऋषयोऽशेषवेदार्थतत्त्वदर्शिनो धर्मं चक्रिरेऽयमेव धर्मइति व्यवस्थापितवन्तः ॥

भा०—वित्तादिबहुत्वमपि मान्यस्थानमुक्तं तच्च वेदतत्त्वार्थज्ञादन्यत्रावकाशं लभतामल्पविद्यपुरुषापेक्षया वा वित्तादिचतुर्णां बहुत्वे मान्यस्थानं भवतु तथापि प्रकृष्टवेदार्थविदपेक्षया तु न कोऽपि कियदपि वित्तादिकं लब्ध्वा वित्तादि चतुष्ट्वान् वा मान्यो भवितुं योग्यः ॥१५४॥

भाषार्थः—(न, हायनैः) न बहुत अधिक आयु होने (न, पलितैः) न बाल-श्वेत हो जाने (न, वित्तेन) न बहुत धनवान् होने और (न, बन्धुभिः) न बहुत कुटुम्ब के होने से वा इन सब की एकत्र अधिकता होने से भी विद्वान् से अधिक कोई मान्य नहीं होता (यः, अनूचानः) जो विद्वान् ब्राह्मणों वा मनुष्यों में समस्त वेद को सार्थक पढ़ाने वाला वा सर्वोपकारी वेद सिद्धान्त का यथार्थ उपदेश देने वाला है (नः नो महान्) वह हमारे बीच में पूज्य प्रतिष्ठा पाने योग्य है इस प्रकार (ऋषयः) सम्पूर्ण वेद तत्त्वार्थवेत्ता ऋषि लोगों ने (धर्मम्, चक्रिरे) धर्म की व्यवस्था की है ॥

भा०—धनादि का अधिक होना भी मान्य का हेतु पहिले कह चुके हैं सो वेदतत्त्वार्थज्ञ की अपेक्षा को छोड़ कर अन्यत्र अवकाश को प्राप्त हो वा अल्प

विद्यावान् की अपेक्षा धनादि चारों की अधिकता में मान्यस्थान हो तो भी प्रबल वेदविद्या वाले की अपेक्षा से तो कोई कितने ही धनादि को प्राप्त हो वा वित्तादि चारों वाला हो पर मान्य वा पूज्य नहीं हो सकता ॥ १५४ ॥

विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः१५५

अ०—विप्राणां ब्राह्मणानां मध्ये ज्ञानतो वेदार्थबोधतो ज्यैष्ठ्यं मान्यत्वं, क्षत्रियाणां मध्ये तु वीर्यतो धनुर्वेदानुकूलपराक्रमाधिक्येन, वैश्यानां मध्ये धान्यधनतो धनस्य स्वर्णरजतादेर्धान्यस्य गोधूमादेश्चाधिक्येन, शूद्राणामेव तु जन्मतो वयस आधिक्येन ज्यैष्ठ्यं मन्तव्यम् ॥

भा०—सामान्यार्थोऽपि विप्रशब्दो मुख्यवृत्त्या ब्राह्मणपरः। ब्राह्मणादित्वमत्र गुणकर्मसहितं जातिपरं विवक्षितं न जातिमात्रम्। गुणकर्मवत्सु ब्राह्मणेषु विद्वान् विद्वत्सु प्रबलः प्रबलतरः प्रबलतम इत्युत्तरोत्तरः श्रेष्ठो मान्यः। एवं गुणकर्मवत्सु क्षत्रियेषु शस्त्रविद्याकुशलस्तेषु चावकृष्टादुत्कृष्टइत्यादिरीत्या सर्वत्र योज्यम्। गुणाःस्वस्वकर्मसु चातुर्यं कर्माणि तु तथैवाचरणं यथा„शमो दमस्तपः शौचं... ब्रह्मकर्म स्वभावजम्" इति भगवद्गीतासु। उभयविधोपस्थितौ स्वभावेन शमादिकमेवाश्रयेत् ॥ १५५ ॥

भाषार्थः—(विप्राणाम्, ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यम्) ब्राह्मणों में वेदविद्या के बोध की अधिकता से बड़प्पन (क्षत्रियाणां तु वीर्यतः) और क्षत्रियों में धनुर्वेद के अनुकूल युद्धविद्या की अधिकता से (वैश्यानां धान्यधनतः) वैश्यों में सोना चांदी आदि धन और अन्नादि की अधिकता से और (शूद्राणामेव जन्मतः) शूद्रों में केवल आयु के अधिक होने से बड़प्पन मानना चाहिये ॥

भा०—विप्रशब्द सामान्यार्थ होने पर मुख्यार्थ से यहां ब्राह्मण का वाचक है। और ब्राह्मणादिपन यहां गुणकर्मसहित जाति लेना चाहिये किन्तु जाति

मात्र नहीं। गुणकर्मयुक्त ब्राह्मणों में विद्वान् विद्वानों में प्रबल प्रबलतर प्रबलतम इत्यादि पर २ श्रेष्ठ हैं। इसी प्रकार गुणकर्म वाले क्षत्रियों में शस्त्रविद्याप्रवीण और उन में भी प्रबल २ श्रेष्ठ हैं इत्यादि प्रकार सर्वत्र जानो। अपने २ कर्मों में चतुरता गुण और वैसा ही आचरण करना कर्म कहाते हैं। जैसे भगवद्गीता में कहा है कि "शान्ति, इन्द्रियदमन, तप और शौचादि ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं। शान्ति अशान्ति दोनों प्रकार की प्राप्ति में शान्ति आदि का ही स्वभाव से ग्रहण करे ॥ १५५ ॥

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
यो वै युवाऽप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः १५६

अ०–अस्य मनुष्यस्य येन वयसा पलितं शुक्लकेशं शिरो दृश्यते तेन स विद्यावृद्धापेक्षया वृद्धो न भवति। किन्तु यो युवापि वेदमधीयानस्तं वै देवाः प्रकृष्टवेदार्थज्ञानेन प्रकाशिता धर्ममर्यादाबन्धकाः स्थविरं विदुर्विदन्ति जानन्ति मन्यन्ते ॥

भा०–वेदार्थमधीयाना अपि यदा वयोवृद्धापेक्षया वृद्धा भवितुं योग्यास्तदाऽधीतवेदास्तु तेभ्योऽपि वृद्धाएव। लोके पलितशिरसएव वृद्धपदवाच्या उच्यन्ते स च व्यवहारो मूर्खेषु चरितार्थः सत्यो भवतु वेदार्थज्ञापेक्षया तु शास्त्रविरुद्धइति शास्त्रमर्यादायां गच्छद्भिर्हेयः ॥१ ५६ ॥

भाषार्थः–(अस्य) इस मनुष्य का (येन) जिस अधिक आयु से (शिरः पलितम्) शिर श्वेत बालों से युक्त दीखता है (तेन) उस बुढ़ापे से वह विद्या वृद्ध की अपेक्षा (वृद्धो न भवति) वृद्ध नहीं होता किन्तु (यः) जो (युवाऽपि) युवा भी (अधीयानः) वेदादि पढ़ता हो (देवाः) वेदार्थ के यथार्थ ज्ञान से प्रकाशित धर्म मर्यादा बांधने वाले विद्वान् ब्रह्मर्षि लोग (तं वै स्थविरं विदुः) उसी को वृद्ध जानते वा मानते हैं ॥

भा०–जब वेदार्थ पढ़ते हुए भी वयोवृद्ध से अधिक वृद्ध माननीय होने योग्य हैं तो वेद पढ़े हुए उन से भी अधिक वृद्ध मान्य सिद्ध ही हैं। जगत् में

प्रायः श्वेत केशों वाले ही वृद्ध कहाते हैं सो वह व्यवहार मूर्खों में चरितार्थ सत्य रहो वेदार्थज्ञ की अपेक्षा से तो उन को वृद्ध कहना वा मानना शास्त्रविरुद्ध है इस से शास्त्र की मर्यादा में चलने वालों को वैसा व्यवहार छोड़ देना चाहिये ॥६५॥

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति१५७

अ०—यथा काष्ठमयो हस्ती यथा च चर्ममयो मृगो न हस्तिमृगसाध्यकार्याणि कर्तुं शक्तौ स्तस्तथैव वेदमनधीयानो विप्रो ब्राह्मणोऽपि वेदाध्यापनादीनि ब्राह्मणकर्माणि साधयितुमक्षमस्तस्मात्ते त्रयो नाममात्रं बिभ्रति ॥

भा०—वेदाध्ययनस्तुतिप्रशंसारूपोयमर्थवादः। कर्मणैव सर्वत्र नामसाफल्यं दृश्यते। येन भक्षितेन म्रियन्ते तद्विषं येन च भुक्तेन सुखमधिकं जीवन्ति तदमृतं येन च न म्रियन्ते तस्य विषं नाम व्यर्थं निष्फलमेव भवति। तथैव यो वेदाध्यापनादीनि सर्वोपकारककर्माणि न करोति स नाम्नैव काष्ठहस्तिवद्ब्राह्मणपदवाच्यो भवतु नतु सफलः सार्थको वा। एवं च क्षत्रियादिष्वपि योज्यम्। अनधीयानपदेन सर्वथानधीयानो गृह्यते यश्च कमपि वेदादिसाधुशास्त्रभागमधीयानः स सर्वथानधीतापेक्षया सफलउत्कृष्टो विद्वदपेक्षया च निकृष्टएव ॥१५७॥

भाषार्थः—(यथा, काष्ठमयो हस्ती) जैसे काठ का बनाया हाथी और (यथा, चर्ममयो मृगः) मृगचर्म में भूसादि भर के बनाया मृग ये दोनों हाथी और मृग से होने वाले काम नहीं कर सकते (तथा) वैसे (यश्च) जो (अनधीयानः) वेदादिशास्त्र न पढ़ा हुआ (विप्रः) ब्राह्मण भी वेदसम्बन्धी अध्यापनादि ब्राह्मण के कर्म नहीं कर सकता इस से (त्रयस्ते) वे तीनों केवल (नाम, बिभ्रति) नाम ही के हाथी मृग और ब्राह्मण हैं ॥

भा०—वेदाध्ययन की स्तुति प्रशंसारूप यह अर्थवाद है। कर्म से ही सर्वत्र नाम की सफलता दीखती है। जिस के खाने से मर जाते वह विष और जिस

के भोजन वा पान से सुखपूर्वक अधिक जीवित रहें वह अमृत है। तो जिस को खा कर न मरे वा न विशेष कष्ट हो उस का विष नाम व्यर्थ निष्फल ही है वैसे ही जो वेद के पठन पाठनादि सर्वोपकारी कर्म नहीं कर सकता वह नाममात्र काठ के हाथी के तुल्य ब्राह्मण कहावे पर सफल वा सार्थक नहीं है ऐसे ही क्षत्रियादि की भी सफलता निष्फलता जानो। यहां अनधीयान पद से सर्वथा कुछ भी न पढ़ा लेना चाहिये क्योंकि जो वेदादिसत्यशास्त्र के किसी अंश को पढ़ा वा सावित्री मात्र से उपासना जानता है वह बड़े विद्वान् की अपेक्षा निकृष्ट होने पर भी कुछ भी न पढ़े से अच्छा और सफल है ॥ १५७ ॥

यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला।
यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः॥

अ०—यथा स्त्रीषु षण्ढो नपुंसकोऽफलः सन्ततिफलमुत्पादयितुमशक्तो यथा स्त्रीगवि स्त्रीगौश्चाफला वत्सानुत्पादयितुमक्षमा, यथा चाज्ञे मूर्खेऽपात्रे वा दानमफलं दात्रे फलं दातुमशक्तं विरुद्धफलप्रदं वा तथाऽनृचः सावित्रीमात्रोपदेशेनापि रहितः सन्ध्योपासनमप्यकुर्वाणो विप्रोऽफलः सर्वप्रकारेण निष्फलः ॥

भा०—सफलनिष्फलानां सापेक्षं तारतम्यं सर्वत्रैव योज्यम्। यथा ब्राह्मणादिवर्णेषु जातस्य दुष्कर्मविशेषरतस्यापेक्षया विशिष्टसुकर्मदुष्कर्माभयरहितः सावित्र्युपदेशरहितश्च श्रेष्ठः सएव चोपदिष्टसावित्रीकधृतयज्ञसूत्रनिकृष्टोत्तमकर्मविशेषरहितापेक्षयाऽफलो निकृष्टश्चैवमग्रेऽपि योज्यम् ॥१५८॥

भाषार्थः—(यथा षण्ढः स्त्रीष्वफलः) जैसे स्त्रियों में सन्तानोत्पत्ति करने में असमर्थ नपुंसक निष्फल (यथा गवि गौश्चाफला) जैसे गौ के सम्बन्ध में बछड़ा को उत्पन्न न कर सकने से गौ निष्फल है अर्थात् गौ पर गौ का फांदना वा लांघना व्यर्थ निष्प्रयोजन है (यथा चाज्ञे दानमफलम्) और जैसे मूर्ख वा कुपात्र ब्राह्मण को दान देना निष्फल है उस दान से दाता को कुछ फल नहीं होता (तथाऽनृचोविप्रोऽफलः) वैसे कुछ भी वेद न पढ़ा वा गायत्री के भी उपदेश से रहित सन्ध्योपासन भी न करता हुआ ब्राह्मण निष्फल है ॥

मूल्य घटाया हुआ ॥

२९ फर्वरी सन् ९६ के पश्चात् पूर्ण मूल्य लिया जायगा ॥

* यमयमीसूक्तम् =) * प्रबन्धार्कोदय ।-) नया छपा है आर्य्यधर्म की शिक्षा के साथ मिडिलक्लास की परीक्षा देने वाले छात्रों को उत्तम २ प्रबन्ध लिखना सिखाता है॥

* आयुर्वेदशब्दार्णव (कोष) १) से ॥) मनुस्मृतिभाष्य की भूमिका १॥) से १) डाकव्यय =)॥ पुस्तक रायल पुष्ट कागज़ में ३६४ पेज का छपा है। ईश ≡) केन ।) कठ ।॥) प्रश्न ॥=) मुण्डक ॥) माण्डूक्य ≡) तैत्तिरीय ॥) इन ७ उपनिषद् पर सरल संस्कृत तथा देवनागरी भाषा में टीका लिखी गयी है कि जो कोई एक बार भी इस को नमूना (उदाहरण) मात्र देखता है उस का चित्त अवश्य गढ़ जाता है। सातों इकट्ठा लेने वालों को ३) से २॥) ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ये छः उपनिषद् छोटे गुटकाकार में बहुत शुद्ध मूल भी छपे हैं मूल्य =) तैत्तिरीय, ऐतरेय, श्वेताश्वतर, और मैत्र्युपनिषद् ये चार उपनिषद् द्वितीय गुटका में ≡) गणरत्नमहोदधिः १॥) से १) आर्यसिद्धान्त ६ भाग ७२ अङ्क का ३॥।) से ३) ऐतिहासिक निरीक्षण =) ऋगादिभाष्यभूमिकेन्दूपरागे प्रथमांशः -)॥ द्वितीयोंशः -)॥। विवाहव्यवस्था =) तीर्थविषय -)॥ द्वैताद्वैतसंवाद -)॥ सद्विचारनिर्णय =) ब्राह्ममतपरीक्षा =) अष्टाध्यायी मूल ≡) न्यायदर्शनमूलसूत्रपाठ ≡) कुमारी भूषण -) देवनागरी की वर्णमाला)। यज्ञोपवीतशङ्कासमाधि -) संस्कृतप्रवेशिका =)॥ संस्कृत का प्रथम पु० चौथीवार छपा)॥। द्वितीय पुस्तक -)। तृतीय फिर से छपा =)॥। नवरत्नभूषण =) बालचन्द्रिका -)। गणितारम्भ -)॥ अङ्कगणितार्य्यमा ≡)॥ विदुरनीति मूल =) जीवसान्तविवेक -) भर्त्तृहरिनीतिशतक भाषाटीका ≡) चाणक्यनीति मूल)॥ पाखण्डमतकुठार =) जीवनयात्रा ≡) किरानीलीला—वेश्यालीला)॥ नीतिसार -)॥ हितशिक्षा -)॥ नीतिशिक्षावली)। बारहमासी झूलना)॥। हिन्दीका प्र० पु० -) द्वितीयपुस्तक ≡) शास्त्रार्थखुर्जा -) शास्त्रार्थकिराणा =) भजन पुस्तकें—सत्यसंगीत)। सदुपदेश)। भजनेन्दु -) वनिताविनोद =) संगीतरत्नाकर=) (स्त्रियोंको) नारीसुदशाप्रवर्त्तक ४ भाग १) बुद्धिमती * ।) सुन्दरीसुधार * १) सीताचरित्र नाविल प्रथमभाग *॥।) स्वर्ग में सब्जेक्टकमेटी =)॥ भूतलीला * =)॥ बाल्यविवाह नाटक * -)॥ शिल्पसंग्रह * ।-) सत्यार्थप्रकाश २) भूमिका २॥) संस्कारविधि १।) पञ्चमहायज्ञ ≡)॥ आर्य्याभिविनय ।) निघण्टु ।=) धातुपाठ ।=) गणपाठ ।-) वर्णोच्चारणशिक्षा -) निरुक्त १) शास्त्रार्थ फीरोजाबाद ≡) स्वामी जी का स्वमन्तव्यामन्तव्य)॥ नियमोपनियम)। करपल्लवी -) दूशारों से बातचीत करने की विधि है। वेश्या नाटक उर्दू =)॥ व्याख्यानसागर ।-)

आर्यसमाज के नियम =)॥। सैकड़ा १॥।) हज़ार। व्याख्यान देने का सामान्य विज्ञापन जिस में चार जगह खाना पूरी कर लेने पर सब का काम निकलता है मूल्य प्रति सैकड़ा =), डांक महसूल सब का मूल्य से पृथक् लिया जायगा ॥

भीमसेन शर्मा—सम्पादक आर्यसिद्धान्त—सरस्वतीप्रेस

☞ * चिन्ह युक्त पुस्तकें नई बिकने को प्रस्तुत हुई हैं ॥

ओ३म्

स्थानपरिवर्त्तन

सब महाशयों को विदित हो कि जलवायु आदि के प्रतिकूल होने से इस प्रयाग नगर में प्रायः मुझ को तथा अन्य लोगों को रोग घेरे रहता है इसी कारण आर्यसिद्धान्त उपनिषद् भाष्य गीता भाष्य तथा मनुस्मृति के भाष्य आदि प्रारम्भ किये कामों में बहुत विघ्न हुआ जिन के नियमानुसार तथा शीघ्र न निकलने छपने से वैदिक धर्म की उन्नति में भी बाधा पड़ती है कुछ काल से इस का उपाय शोचते २ यह सिद्धान्त हुआ कि प्रयाग का निवास छोड़ दिया जाय इस लिये अब फाल्गुन शुक्ला ६ बृहस्पति वार संवत् १९५२ तारीख २० फ़रवरी सन् ९६ वें से मेरा निवासस्थान—

भीमसेन शर्मा शमशेरखां का कटरा "इटावा,,

(एन्० डब्ल्यू० पी०)

होगा वहीं सरस्वती प्रेस उठ जाय गा। इस लिये मेरे साथ वा सरस्वती प्रेस के साथ जिन २ महाशयों को पत्रादि भेजना आदि काम पड़े वे कृपया ता० २०। २। ९६ से उक्त ठिकाने पर "इटावा,, नगर को पत्रादि भेजा करें आशा है कि सब महाशयों को इस का स्मरण रहेगा॥

भीमसेन शर्मा सम्पादक आर्यसिद्धान्त—प्रयाग

॥ ओ३म् ॥

मानवधर्मशास्त्रम् ॥

भीमसेनशर्म्मणा लोकोपकारमत्या सम्पादितया
मानवधर्ममीमांसाभिधव्याख्ययोपेतम् ।
संस्कृतभाषया लोकभाषया च व्याख्यातम् ॥

२ भागे } ॥ मासिकपत्रम् ॥ { १२ खण्डः

सज्जनानां साहाय्येन स्वीयसरस्वतीयन्त्रालये
तुलसीराम स्वामिनः प्रबन्धेन
मुद्रापयित्वा प्रकाशितम् ॥

इटावा

२८ मार्च, सन् १८९६ ईस्वी, संवत् १९५३ चैत्र

इस की रजिष्टरी कराई गयी है किसी को छापने का अधिकार नहीं ॥

अग्रिम वार्षिक मूल्य २) पश्चात् २॥)

प्रथमवार १५०० मूल्य प्रतिखण्ड ≡)॥

मूल्यप्राप्तिस्वीकार ॥

२२ । १ । ९६ से २ मार्च ९६ तक ।

३२५ बा० देवीप्रसाद जी दुबे पुखरायां २)
६५३ बा० मूलचन्द्र जी मुनीम–सागर २)
४२६ मुं० गुरुदत्तामल जी अजमेर २)
६५४ बा० भवानीदत्त जयकृष्ण जी नयनीताल २)
३९४ बा० बख्तबहादुर जी फर्रुखाबाद २)
५३६ श्रीराधाकृष्ण जी सैयाँ २)
६५५ भिम्मलाल जी–कोटपुतली २)
२८६ बा० गुलजारीसिंह–मदारपुर २)
९३ बा० काशीराम जी वकील मुलतान २)
६११ पं० चिन्तामणि शर्मा रूपधनी =)
६६२ पं० महादेव राव फतहपुर २)
६६० श्रीमंगीलाल जी शर्मा नीमच २)
६२ श्रीलक्ष्मण दूला जी करांची २)
६६३ बा०भगवानदास जी सुरजन नगर २)

धन्यवाद ॥

११ । १ । ९६ को श्रीयुत दत्तात्रेय गोविन्द जी असिस्टेंट स्टेशनमास्टर तालणी जी. आई. पी. रेलवे ने २०॥) अनेक महाशयों से चन्दा एकत्र कर के भेजा जो अर्द्ध १०।=) दया० वि० वि० पाठशाला के सहायतार्थ और अर्द्ध १०।=) मनु भाष्यादि की सहायता में था उन २ महाशयों का जिन्हों ने चन्दा दिया तथा दत्तशर्मा जी का पाठशाला वा मनु भाष्यादि कार्य्यालय की ओर से धन्यवाद पूर्वक स्वीकृत है. ध्यान रहै कि अब सरस्वतीयन्त्रालय के साथ पाठशाला इटावा में आगई है और यहां आ कर इस की विशेष उन्नति का विचार किया गया है. अब इस पाठशाला का प्रबन्ध कतिपय सज्जनों की सभा के आधीन किया गया है पाठशाला सभा के मेम्बर ये महाशय हैं पं० भीमसेन शर्म्मा पं० दंगीलाल जी हेडक्लर्क नहर, पं० मानादीन जी वकील, बा० गूंदीलाल जी, चौ० पद्मसिंह जी रईस सुन्दरपुर, पं० रामजीमल जी और तुलसीराम स्वामी ॥ चन्दे की सूची खुल गई है सभासद् लोग जैसी प्रीति से काम करते हैं उस से आशा है कि शीघ्र पाठशाला के लिये एक और वैतनिक अध्यापक रखने का सामर्थ्य हो जावेगा. और आशा है कि बाहर के सज्जन लोग भी अब इस पाठशाला पर विशेष कृपा करेंगे तो यह विशेष उन्नत हो कर वैदिकधर्म की उन्नति के लिये उपदेशकादि तैयार करेगी ॥

तु० रा० स्वामी

भा०—सफल निष्फलों की न्यूनाधिकता सर्वत्र सापेक्ष समझनी चाहिये। जैसे ब्राह्मणादि वर्णों में उत्पन्न हुए अधिक कुकर्म करने वाले की अपेक्षा अधिक सुकर्म दुष्कर्म दोनों से रहित गायत्री के उपदेश से रहित भी श्रेष्ठ वा सफल है और वही सावित्री के उपदेश को प्राप्त यज्ञोपवीतधारी अधिक सुकर्म दुष्कर्म दोनों से रहित की अपेक्षा निष्फल निकृष्ट है तथा वेदज्ञ विद्वान् की अपेक्षा यह भी नीच निष्फल है इसी प्रकार आगे भी जानो ॥ १५८ ॥

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् ॥
वाक्चैवमधुराश्लक्ष्णाप्रयोज्याधर्ममिच्छता१५९

अ०—सम्प्रत्यनुत्पन्नश्रद्धस्य शिष्यस्याध्ययने चेतसोऽव्यवस्थितावध्यापकेन क्रोधाधिक्यं न कार्यमित्यभिमुखीकृत्य सामान्यतयेदमुच्यते—धर्ममिच्छताऽध्यापकोपदेशकादिपुरुषेण भूतानां भार्य्यापुत्रदासशिष्यादीनां श्रेयोऽर्थमनुशासनमहिंसयैव क्रोधपरित्यागेनैव कार्यं शिक्षावसरे मधुरा परुषार्थरहिता मधुरवाच्या श्लक्ष्णाऽपरुषाक्षरा चैव वाक् प्रयोज्या ॥

भा०—पारुष्यमनृतं पैशुन्यमसम्बद्धप्रलापश्चेति वाग्दोषा द्वादशाध्याये परिगणितास्तदेव वाचिकं पापमस्ति। यः कोऽपि शिक्षकादिः स्वाश्रितान् कल्याणपथ्यानेतुमिच्छति तेनार्थतः शब्दतश्च प्राप्तान् वाग्दोषान् विहाय शिक्षा कार्या नचाधर्मकोटिस्थेन क्रोधादिनाऽध्यापनं शिक्षणं वा धर्मप्रधानं भवितुमर्हति नचाधर्मलिप्तस्य धर्मस्य शुभमेव फलं सम्भवति तस्मात्तथा न कार्यम्। वत्स! तात! देव! इदमित्थं त्वया न कार्यमित्थं चानुष्ठेयमित्यादिप्रकारेण शिक्षा कार्या ॥ १५९ ॥

भाषार्थः—अब जिस को पढ़ने में श्रद्धा वा स्वाद नहीं आया ऐसे चलायमान चित्त वाले शिष्य पर अध्यापक को अधिक क्रोध वा ताड़ना नहीं करनी

चाहिये इस बहाने से यह सामान्य कथन है कि (धर्ममिच्छता) धर्मानुकूल प्रवृत्ति चाहते हुए अध्यापक वा शिक्षकादि पुरुष को चाहिये कि (भूतानाम्) स्त्री पुत्र भृत्य वा शिष्यादि को (श्रेयोऽनुशासनम्) कल्याण के लिये शिक्षा (अहिंसयैव, कार्यम्) क्रोध कुवाच्यादि छोड़ के ही करे (मधुरा) शिक्षा के समय क्रूरार्थरहित कोमलार्थद्योतक (च) और (श्लक्ष्णा) कोमल अक्षर शब्दों वाली (एव) ही (वाक् प्रयोज्या) वाणी बोले ॥

भा०—कठोर, मिथ्या, चुगली और व्यर्थ बकना ये वाणी के दोष आगे १२ वें अध्याय में कहे हैं वही वाचिक पाप है जो कोई शिक्षक आदि अपने आश्रितों को कल्याण मार्ग में लाना चाहता है उस को शब्द वा अर्थ से आने वाले वाणी के दोषों को छोड़ कर शिक्षा करनी चाहिये क्योंकि अधर्म कोटिल्य क्रोधादि के साथ शिक्षा करने में अध्यापन वा शिक्षण धर्म प्रधान नहीं हो सकता अधर्मयुक्त धर्म का शुभ ही फल होना सम्भव नहीं इस से वैसा न करे। बेटा! देव! लाल! तुम ऐसा न करो और ऐसे २ काम करो इत्यादि प्रकार शिक्षा करे ॥१५९॥

यस्य वाङ्मनसे शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् १६०

अ०—यस्य शिक्षकस्य पुरुषमात्रस्य वा वाचा मनसा वा व्यवहरतो वाङ्मनससाध्यव्यापारेषु सत्यप्रियादिभाषणेनेर्ष्याद्वेषादित्यागेन च वाङ्मनसे शुद्धे निष्कलङ्के सर्वदा काले सम्यग्गुप्ते धूलेरिवापतद्भ्यो विषयदोषेभ्यो वस्त्रादिनेव सुविचारेण सुरक्षिते च भवतः स वै सएव सर्वं वेदान्तोपगतं वेदसिद्धान्तबोधेन प्राप्यं फलमवाप्नोति ॥१६०॥

भा०—वाचिकं मानसं कायिकं च त्रिविधमेव पापं पुण्यं च भवति। तत्र मनोवाक्साध्यव्यवहारशुद्धौ कायेन पापं न सम्भवति। नच मनःसाहाय्यमन्तरा कर्मेन्द्रियाणि किमपि कर्तुं प्रभवन्ति। तस्मात्सर्वैर्धर्ममिच्छद्भिरध्यापकादि-

भिस्तत्तत्साध्यव्यवहारेषु दोषेभ्यः पृथक्कृत्य वाङ्मनसे शुद्धे रक्षणीये अयमेव प्रधानो धर्मः ॥१६०॥

भाषार्थः—(यस्य) जिस मन वाणी से व्यवहार करते हुए शिक्षक वा पुरुषमात्र के मन वाणी से होने वाले व्यापारों में (वाङ्मनसे) सत्य और प्रिय आदि बोलने से वाणी और ईर्ष्या द्वेषादि के त्याग से मन (शुद्धे) शुद्ध निष्पाप (च) तथा (सर्वदा) सब काल में (सम्यग्गुप्ते) शरीर पर गिरती धूलि को वस्त्रादि से ढांपने के समान बाहर से आने वाली दुष्ट विषयवासनाओं से अच्छे विचार के साथ सुरक्षित हैं (स वै) वही (वेदान्तोपगतम्) वेद के ठीक सिद्धान्त के बोध से प्राप्त होने योग्य (सर्वम्, फलमवाप्नोति) सम्पूर्ण फल को प्राप्त हो जाता है ॥

भा०—वाचिक मानस और कायिक ये तीन ही प्रकार के पाप वा पुण्य होते हैं उन में मन वाणी से सिद्ध होने वाले व्यवहारों की शुद्धि होने पर शरीर से पाप नहीं हो सकता। क्योंकि मन की सहायता के विना कर्मेन्द्रिय कुछ नहीं कर सकते। इस से धर्म की इच्छा वाले सब अध्यापकादि को उन २ मन वा वाणी से होने वाले व्यवहारों में दोषों से बचा के मन वाणी शुद्ध रखने चाहियें यही मुख्य धर्म है ॥ १६० ॥

नारुन्तुदः स्यादार्त्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः ॥
ययाऽस्योद्विजते वाचा नालोक्यांतामुदीरयेत् ॥

अ०—परेण परुषाक्षरवाचा व्यङ्ग्योक्त्या वाऽऽर्त्तो दुःखितोऽपि धर्मपथि गन्तुमनाः कोपि पुरुषोऽरुन्तुदोरूंषि मर्माणि तुदति व्यथयति तादृशो न स्यात्। तथा परस्यान्यस्य द्रोहोऽपकारस्तत्र कर्म वाचिकी कायिकी च प्रवृत्तिर्धीर्मानसी च प्रवृत्तिरस्य तादृशोऽपि न स्यात्। अस्य यया वाचा परः कोऽप्युद्विजते पीड्यते दुःखमनुभवति तामलोक्यामश्राव्यामग्राह्यां स्वर्गादिशुभलोकप्राप्तिविरोधिनीं वा नोदीरयेन्नोच्चारयेत् ॥

भा०—वाचिकाधर्मनिषेधविधिरयम् । "रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम् । वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न तद्रोहति वाक्क्षतम् ॥१॥ वाक्सायका वदनान्निस्सरन्ति यैराहतः शोचति रात्र्यहानि । परस्य नामर्म्मसु ते पतन्ति तान् पण्डितो नावसृजेत्परेभ्यः ॥ २॥ महाभारतोद्योगपर्वान्तर्गत-विदुरप्रजागरपर्वणि श्लोकाविमौ—

अत्र च कायिकपापापेक्षया स्फुटं वाचिकपापस्याधमता प्रदर्शिता तस्मात्तादृशदोषत्यागेन विना धर्मफलमाप्तुमशक्यमेव ज्ञेयम् ॥१६१॥

भाषार्थः—कठोर वाणी वा व्यङ्ग्योक्ति से किसी के (आर्त्तोऽपि) चिढ़ाने पर भी धर्म मार्ग में चलने की इच्छा वाला कोई पुरुष (अरुन्तुदः) मर्मभेदी कठोर शब्द बोलने वाला (न,स्यात्) न हो और (न,परद्रोहकर्मधीः) अन्य किसी को दुःख देने की चेष्टा मन वा शरीर से कदापि न करे (अस्य) इस धर्मेच्छु पुरुष की (यया,वाचा) जिस वाणी के बोलने से कोई (उद्विजते) पीडित वा क्रोधित हो (तामलोक्याम्) उस अग्राह्य न सुनने योग्य वा स्वर्गादि लोक प्राप्ति की विरोधिनी वाणी को (नोदीरयेत्) न बोले ॥

भा०—वाचिक अधर्म के निषेध का यह विधान है। महाभारत विदुर प्रजागर में लिखा है कि "बाण से हुआ घाव पूर आता और कुल्हाड़ी से ऊपर २ काटे वन के वृक्ष फिर से हो जाते हैं पर वाणीरूप बाण का भीतर मन में लगा भयंकर घाव फिर नहीं भरता ॥ १ ॥ वाणी रूप बाण मुख से निकलते जिन से मारा हुआ दिन रात शोचता है क्योंकि वे बाण ठीक मर्म स्थानों में लगते हैं ऐसे बाण विचारशील किसी पर न चलावे ॥ २ ॥" यहां शारीरिक पाप की अपेक्षा वाचिक पाप की निकृष्टता स्पष्ट ही दिखायी है। इस कारण ऐसे दोष को छोड़े विना किसी को धर्म का फल ठीक प्राप्त नहीं हो सकता ॥ १६१ ॥

सम्मानाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा १६२

अ०—ब्राह्मणो विषादिव सम्मानान्नित्यमुद्विजेत। अमृतस्येवावमानस्यामृतमिवावमानं च सर्वदा सर्वाश्रमेष्वाकाङ्क्षेत्। अत्र कर्मणि शैषिकी षष्ठी ॥

भा०—यः कोऽपि श्रीमदादिर्यस्मिन्व्यसने रक्त आसक्तस्तदनुकूलं वदन्नेव विद्वान् ब्राह्मणोऽपि ततः सम्मानं लब्धुमर्हति तथाकुर्वन् ब्राह्मणो धर्मविरुद्धं नाचरेदिति न सम्भवति। भूयसी चाधर्मप्रवृत्तिः स्यादिति सत्यमेव ज्ञेयम्। यश्च यस्मात्सम्मानमिच्छति स तदनुकूलमेवाधर्ममपि वदत्याचरति च तस्माद्धर्मकोशरक्षको धर्मेप्सुर्ब्राह्मणः सम्मानात् सदैव बिभीयादपमाने सति धर्मस्य रक्षाऽधर्मस्य हानिर्वा सम्भूयात्तदाऽपमानं धर्मरक्षाहेतुत्वादमृतमिव स्वीकुर्वीत॥१६२॥

भाषार्थः—(ब्राह्मणः) धर्मकोश का रक्षक ब्राह्मण (विषादिव, सम्मानान्नित्यमुद्विजेत) विष के तुल्य सम्मान वा प्रतिष्ठा से नित्य डरता रहे (च) और (सर्वदा) ब्रह्मचर्यादि सब आश्रमों में (अमृतस्येव) अमृत के तुल्य (अवमानस्य) अपमान की (आकाङ्क्षेत्) अभिलाषा रक्खे ॥

भा०—जो कोई श्रीमान् राजा (रईस) आदि जिस शास्त्रविरुद्ध अधर्म वा व्यसन में फसा है उस के अनुकूल कहता हुआ ही विद्वान् ब्राह्मण उस से प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है। वैसा करता हुआ ब्राह्मण धर्मविरुद्ध न चले यह सम्भव नहीं किन्तु बहुत अधर्म होना सत्य ही जानो। जो पुरुष जिस से सम्मान चाहता है वह उस के अनुकूल असत्य बोलता अधर्म भी करता है इस से धर्मकोश का रक्षक विचारशील धर्म चाहने वाला ब्राह्मण सम्मान से सदा ही डरता रहे। और अपना अपमान होने पर धर्म की रक्षा वा अधर्म की हानि होना सम्भव हो तो उस अपमान को धर्मरक्षा का हेतु होने से अमृत के तुल्य स्वीकार करे॥१६२॥

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते।
सुखं चरति लोकेस्मिन्नवमन्ता विनश्यति १६३

अ०—योऽवमानममृतमिव काङ्क्षति स परेणावमतः सुखं शेते सुखं च प्रतिबुध्यते प्रतिबुद्धश्च स्वकार्येषु सुखं चरति । अवमानमसहिष्णुश्च दुःखशोकेन तप्यमानो न निद्रां सुखं लभते जागृतश्च तदेव शोचन्नास्ते कार्येष्वपि शोकाकुलचेतस्त्वान्न रमते । अवमन्ताऽवमानकर्त्ता च तेनाधर्मेण विनश्यति नष्टसुखसाधनो मृतो वा भवति यथापराधमिति शेषः ॥

भा०—पूर्वविधेरर्थवादोऽयम् । यो धर्मानुकूलमाचरति स यदि धर्माचरणकारणादेव कृतमपमानं न सहते तदा तस्या सहनमप्यधर्मएव तस्मादेव स शोकाग्निना दह्यते यश्च सहते न तेन कोऽप्यधर्मः कृतो भवति तस्मादेव प्रत्यक्षेऽपि स दुःखं नानुभवति यश्चापमन्यते स प्रत्यक्षे परोक्षे च तस्याधर्मस्य दुःखं फलमनुभवत्येव ॥ १६३ ॥

भाषार्थः—जो अपमान को अमृत के तुल्य ग्रहण करता है वह अन्य किसी से (अवमतः) अपमान को प्राप्त हुआ (सुखं हि शेते) सुख पूर्वक ही सोता (च) और (सुखं प्रतिबुध्यते) सुख से जागता है तथा (अस्मिन् ,लोके) इस जगत् में जागने पश्चात् भी अपने कार्यों में (सुखं चरति) सुख पूर्वक विचरता है । और अपमान को नहीं सह सकता वह अपमान होने पर दुःख शोकाग्नि से जलता हुआ सुख पूर्वक नहीं सोता जागने पर उसी को शोचता और शोक से व्याकुल होने के कारण कार्यों में भी उस का चित्त नहीं लगता (अवमन्ता, विनश्यति) और अपमान करने वाला अपराधानुकूल उस अधर्म से दुःख पाता वा मर जाता है । अर्थात् अपमान के न सहने पर अपमानकर्त्ता को उतना पाप नहीं लगता जितना सह लेने पर लगता है इस से बड़े धर्मात्मा महात्मा विद्वान् का अपमान मृत्यु का भी कारण होना सम्भव ही है ॥

भा०—पूर्व विधि का यह अर्थवाद है । जो धर्मानुकूल चलता है वह धर्म पर दृढ़ रहने के लिये अपमान को न सहे तो उस का न सहना भी अधर्म ही है इसी कारण वह शोकाग्नि से जलता और जो सह लेता है उस को अधर्म नहीं

लगता इसी से प्रत्यक्ष में भी दुःख नहीं पाता और अपमान करने वाला प्रत्यक्ष परोक्ष में उस अधर्म का दुःख फल यथोचित अवश्य पाता है ॥ १६३ ॥

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः ।
गुरौ वसन् सञ्चिनुयाद् ब्रह्माधिगमिकं तपः १६४

अ०—गर्भाधानादिसंस्कारक्रियाकलापेनातिपावनवेदतत्त्वार्थोपदेशश्रवणादिना च संस्कृतः शुद्ध आत्मा चैतन्यस्वरूपो यस्य तादृशो द्विजो गुरौ गुरुसन्निधौ वसन् कृतोपनयनो ब्राह्मणोऽनेनोक्तेन वक्ष्यमाणेन च क्रमयोगेन हेयोपादेयकर्मणां हानोपादानसम्बन्धेन ब्रह्माधिगमिकं ब्रह्मणो वेदस्य प्राप्तिहेतुकं तप आत्मशुद्धिरूपं शनैः कालेन सञ्चिनुयाद्वर्धयेत् ॥

भा०—अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तइति सप्तदशमपद्यादारभ्योक्तानां वक्ष्यमाणानां च ब्रह्मचारिधर्माणां वेदतत्त्वार्थावगमाङ्गत्वमत्र प्रतिपाद्यते । न कोपि धर्मशास्त्रोक्तधर्मानुष्ठानमकुर्वन् वेदमधीयानस्तदाशयं बोद्धुं क्षमस्तथासति न कोपि वेदाध्ययनफलमाप्नोति । तस्माद्वेदार्थबोधजमविनश्वरमनन्तं फलमभीप्सुना वेदाध्ययनेन सह यथोक्तं धर्माचरणं कार्यमिति ॥१६४॥

भाषार्थः—(संस्कृतात्मा) गर्भाधानादि संशोधन क्रियाओं और अतिपवित्र वेद के तत्त्वार्थ का उपदेश सुनने आदि से जिस का चेतन स्वरूप आत्मा शुद्ध हुआ है ऐसा (गुरौ, वसन्) गुरु के समीप वेदाध्ययनार्थ वसता तथा (द्विजः) यज्ञोपवीत किया हुआ ब्राह्मण ब्रह्मचारी (अनेन, क्रमयोगेन) इस उक्त वा वक्ष्यमाण अच्छे बुरे कर्मों के विधिनिषेधरूप शास्त्र के अनुसार (ब्रह्माधिगमिकम्) वेद के तत्त्वार्थ को जानने के हेतु (तपः) आत्मशुद्धिरूप तप को (शनैः) धीरे २ बहुत काल में (संचिनुयात्) संचित करे ॥

भा०—(अध्येष्यमाण०) इस सत्तरवें श्लोक से लेकर कहे वा आगे जो कहे जायं गे उन सब ब्रह्मचारी के धर्मों का वेद के तत्त्वार्थ जानने में अङ्ग होना यहां

कहते हैं अर्थात् कोई पुरुष धर्मशास्त्र में कहे धर्म का सेवन न करता हुआ केवल पढ़ने मात्र से वेद का गूढाशय नहीं जान सकता शुभ कर्मों से ज्यों २ आत्मा शुद्ध होता जाता है त्यों २ शुद्ध दर्पण में रूप के समान वेद का ठीक तत्त्वज्ञान होता जाता है। अन्यथा कोई वेदाध्ययन के फल को ठीक प्राप्त नहीं हो सकता इस से वेदार्थ बोध से होने वाले अविनाशी अनन्त फल को चाहने वाला वेदाध्ययन के साथ यथोक्त धर्माचरण करे ॥ १६४ ॥

तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः ।
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना ॥

अ०—द्विजन्मना ब्राह्मणेन तपोविशेषैः सुवर्णरजतादिधातुशोधकैरग्न्यादिभिरिवात्मेन्द्रियदेहशोधकैः कर्मविशेषैर्विधिचोदितैर्धर्मशास्त्रेषु विधायकत्वेनोक्तैर्व्रतैर्नियमैः सेव्यमानैः सह सरहस्यो गूढार्थसहितः कृत्स्नस्त्रयीविद्यारूप ऋग्यजुःसामनामकः समस्तो वेदोऽधिगन्तव्योऽध्येतव्यो ज्ञातव्यश्च ॥

भा०—इदमपि विधिवाक्यमेव। नियमधर्मसेवनेन विना गूढार्थज्ञानमन्तरेण वा वेदाध्ययनं नैवेष्टफलप्रदं भवति तस्मादुक्तविधिनैव वेदोऽध्येतव्यः । अनध्ययनापेक्षया तु पाठमात्रस्यापि श्रद्धयाध्ययनं वरमेवास्तु ॥१६५॥

भाषार्थः—(द्विजन्मना) द्विज ब्राह्मण को चाहिये कि (विविधैः) अनेक प्रकार के भिन्न २ शुद्धिहेतु (तपोविशेषैः) सुवर्ण चांदी आदि धातुओं के शोधक अग्नि आदि के तुल्य आत्मा इन्द्रिय और शरीर के शोधक कर्मों और (विधिचोदितैः) धर्मशास्त्रों में विधान किये सेवने योग्य (व्रतैः) नियमों के साथ (सरहस्यः) गूढार्थ सहित (कृत्स्नः) ऋग्यजुःसाम नामक त्रयीविद्यारूप सम्पूर्ण (वेदः) वेद को (अधिगन्तव्यः) पढ़े और जाने ॥

भा०—यह भी विधिवाक्य है नियम धर्मों का सेवन किये विना वा गूढार्थ जाने विना वेद का पढ़ना इष्ट फलदायक नहीं होता । इस से उक्त विधि के साथ ही वेद पढ़ना चाहिये । और कुछ भी वा किसी प्रकार भी न पढ़ने की अपेक्षा भले ही श्रद्धा से पाठ मात्र पढ़ना भी अच्छा ही है ॥ १६५ ॥

वेदमेव सदाऽभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन् द्विजोत्तमः।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते १६६

अ०—द्विजेषूत्तमो ब्राह्मणस्तपस्तप्स्यन् तपःसंज्ञकं कर्मानुतिष्ठन्सदा सर्वाश्रमेषु वेदमेवाभ्यस्येद्वेदमन्त्राणामेव पाठावृत्तिमर्थावृत्तिं च पुनः पुनः कुर्यादर्थाद्वेदाध्ययनविरोधि तपोरूपमपि नाचरेदित्येवपदाशयः। यत इह शास्त्रे वेदाभ्यासो हि विप्रस्य परमुत्कृष्टं तपउच्यते ॥

भा०—जितेन्द्रियत्वादिनियमैः शुद्धएकान्तदेशे सावधानेन चेतसा नित्यं वेदाभ्यासो ब्रह्मयज्ञरूपं कर्म दुष्टसंस्कारनिवृत्त्या यादृशं शरीरात्मेन्द्रियशोधकं न च तादृशमन्यत् किमप्यस्ति तस्माद् भूयसीमिष्टसिद्धिं काङ्क्षन् तदेव कुर्यादिति विधिः ॥ १६६ ॥

भाषार्थः-(द्विजोत्तमः) द्विजों में उत्तम ब्राह्मण (तपस्तप्स्यन्) तपःसंज्ञक कर्म का सेवन करता हुआ (सदा) सब आश्रमों में (वेदमेवाभ्यस्येत्) वेद मन्त्रों के ही पाठ और अर्थ की बार २ आवृत्ति करे अर्थात् वेदाध्ययन के विरोधी अन्य तप को भी न करे यह एव पद का आशय है। क्योंकि (इह) इस शास्त्र में (वेदाभ्यासो हि) वेद का अभ्यास ही (विप्रस्य) ब्राह्मण का (परंतपः) परम तप कहा है ॥

भा०—जितेन्द्रियतादि नियमों के साथ शुद्ध एकान्त देश में सावधान चित्त से ब्रह्मयज्ञरूप नित्य नियम से वेदाभ्यास करना दुष्टसंस्कारों की निवृत्ति द्वारा शरीर आत्मा और इन्द्रियों का जैसा शोधक होता है वैसा अन्य कोई तपकर्म शोधक नहीं इस से अधिक इष्ट सिद्धि चाहता हुआ यही तप करे ॥१६६॥

आहैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः।
यःस्रग्व्यपिद्विजोऽधीतेस्वाध्यायंशक्तितोऽन्वहम्

अ०-यो द्विजः स्रग्व्यपि धृतपुष्पमालस्त्यक्तब्रह्मचारि-नियमोऽपि शक्तितः शक्त्यनुकूलमन्वहं प्रतिदिनं नियमेन स्वाध्यायं वेदमधीते स ह सोपि आनखाग्रेभ्यो नखाग्रपर्यन्तसर्वशरीरेण परमं तप एव तप्यते ॥

भा०-यदा ब्रह्मचर्यनियमैर्विनापि वेदाध्ययनं परमं तपस्तदा ब्रह्मचर्येणाध्ययनं तु ततोऽप्यत्युत्कृष्टं तपइति सूच्यते नतु ब्रह्मचर्यनियमैर्विना वेदोऽध्येतव्यइति विधौ तात्पर्यमपितूत्कर्षादप्युत्कर्षबोधनाय कथनमिदम् ॥ १६७ ॥

भाषार्थः-(योद्विजः) जो द्विज ब्राह्मण (स्रग्व्यपि) पुष्पमाला धारण किये ब्रह्मचर्याश्रम के नियमों को छोड़ के भी (शक्तितः) शक्ति के अनुसार (अन्वहम्) प्रतिदिन नियम से (स्वाध्यायम्) वेद को श्रद्धा के साथ (अधीते) पढ़ता है (सः, ह) वह भी (आनखाग्रेभ्यः) नखाग्र नखपर्यन्त सम्पूर्ण शरीर से (परमम्) सर्वोत्तम (तप एव तप्यते) तप ही करता है ॥

भा०-जब ब्रह्मचर्याश्रम के नियमों के बिना भी नियम से वेद पढ़ना परम तप है तो ब्रह्मचारी रह कर पढ़ना तो उत्तम से भी उत्तम तप हुआ यह जताया है। अर्थात् ब्रह्मचर्य के बिना वेद पढ़ने के विधान में तात्पर्य नहीं है किन्तु ब्रह्मचर्य सहित वेदाध्ययन को उत्कृष्ट से भी उत्कृष्ट तप जताने के लिये कथन है। ब्रह्मचारी को पुष्पमाला धारण निषिद्ध है इस से मालाधारी ब्रह्मचर्याश्रमी से भिन्न गृहाश्रमी का बोधक है ॥ १६७ ॥

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ॥
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥१६८॥

अ०-यो द्विजो वेदमनधीत्यान्यत्र वेदादितरग्रन्थेषु श्रमं कुरुते स जीवन्नेव विद्यमानशरीरेणैव सान्वयः सकुटुम्बआशुस्वल्पेनैव कालेन शूद्रत्वं गच्छति प्राप्नोति ॥

भा०-वेदानध्ययने निन्दार्थवादोऽयम्। वेदाध्ययनाध्यापनत्वमेव मुख्यं ब्राह्मणत्वम्। वेदाशयद्योतकेभ्योऽप्य-

न्यान्काव्यसाहित्येतिहासादिग्रन्थानेवाधीयानः शूद्रभावापन्नो ब्राह्मणोऽधमस्ततो न्यूनोऽर्धशूद्रः केवलं धर्मशास्त्रं वेदाङ्गानि वाऽधीयानस्ततो वेदैकदेशमधीयानोऽधिकांशेन ब्राह्मणः सर्वं च वेदं साङ्गोपाङ्गमधीयानस्तु पूर्णो ब्राह्मणः१६८

भा०—वेद न पढ़ने में यह निन्दारूप अर्थवाद है ब्रह्म नाम वेद का पढ़ने पढ़ाने वाला ही मुख्य ब्राह्मण है। वेदाशय जताने वाले ग्रन्थों से भी भिन्न काव्यसाहित्यादि नामक ग्रन्थों को ही पढ़ने वाला शूद्रत्व प्रधान अधम ब्राह्मण उस से कम आधा शूद्र वह है जो वेदाङ्ग वा धर्मशास्त्र मात्र पढ़ा हो वेद के किसी भाग का तथा अङ्गों का पढ़ने वाला अधिकांश ब्राह्मण और सम्पूर्ण साङ्गोपाङ्ग वेद को पढ़ने वाला पूर्ण ब्राह्मण है ॥ १६८ ॥

भाषार्थः—(यः) जो (द्विजः) ब्राह्मणादि द्विज (वेदम्) वेद को (अनधीत्य) न पढ़ के (अन्यत्र) वेद से भिन्न ग्रन्थों के पढ़ने में (श्रमम्) परिश्रम (कुरुते) करता है (सः) वह (जीवन्नेव) विद्यमान शरीर से ही (सान्वयः) स्त्री पुत्रादि कुटुम्ब सहित (आशु) थोड़े ही समय में (शूद्रत्वम्) शूद्रभाव को (गच्छति) प्राप्त हो जाता है।

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने ।
तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात्१६९

अ०—अग्रे प्रथमं मातुरधि मातरि मातृसमीपे पुरुषस्य जननं जन्म भवति मौञ्जिबन्धन उपनयनपूर्वके वेदारम्भकाले द्वितीयं जननं तस्यैव द्विजस्य प्राग्द्वितीयप्रतिष्ठाप्राक्कट्यस्य श्रुतिचोदनाद्यज्ञदीक्षायां ज्योतिष्टोमादियज्ञतत्त्वार्थबोधने तृतीयं जन्म तृतीया प्रसिद्धिः ॥

भा०—अत्र द्विजन्मत्वमनुवदन् ज्योतिष्टोमादियज्ञे दीक्षाप्राप्त्यावश्यकतां द्योतयति। ब्राह्मणपुत्रः क्षत्रियपुत्रो वाऽद्यजातइति प्रकारेण जगति प्रथमः प्रादुर्भावो वेदाध्ययनकाले शास्त्रोक्तशुभाचरणैः सदाचारिसुबोधविद्यार्थित्वेन

च द्वितीयः प्रादुर्भावोऽध्ययनेन ज्ञातानां यज्ञादिसर्वोपकारककृत्यानामनुष्ठानेन तृतीयः प्रादुर्भावः कार्यः ॥१६९॥

भाषार्थः-(अग्रे) पहिले (मातुरधि) माता के समीप में (द्विजस्य) ब्राह्मण का (जननम्) जन्म होता (मौञ्जिबन्धने) उपनयन पूर्वक वेदारम्भ काल में (द्वितीयम्) दूसरा जन्म होता उसी द्वितीय प्रतिष्ठा को प्राप्त द्विज का (श्रुतिचोदनात्) वेद की प्रेरणा से (यज्ञ दीक्षायाम्) ज्योतिष्टोमादि यज्ञों का तत्त्वार्थ मर्म जानने के कारण (तृतीयम्) तीसरा जन्म तीसरी प्रतिष्ठा होती है ॥

भा०-यहां द्विजत्व का अनुवाद करते हुए ज्योतिष्टोमादि यज्ञों में दीक्षा प्राप्ति की आवश्यकता जताते हैं। आज ब्राह्मण पुत्र वा क्षत्रिय पुत्र उत्पन्न हुआ इस प्रकार जगत् में पहिली प्रसिद्धि, वेद पढ़ते समय शास्त्रोक्त शुभ आचरण करने से सुकर्मी सुबोध विद्यार्थी है ऐसी द्वितीय प्रसिद्धि और पढ़ कर जाने यज्ञादि सर्वोपकारक कामों में विशेष चतुर हो कर तीसरी प्रतिष्ठा वा प्रसिद्धि प्राप्त करनी चाहिये ॥ १६९ ॥

तत्र यद्ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम्।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते॥

अ०-तत्र त्रिषु जन्मसु मध्येऽस्य द्विजस्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितं मौञ्जीमेखलाबन्धनेनोपलक्षितं ब्रह्मजन्म ब्रह्मणि वेदे जायमानत्वमस्ति तत्र तस्मिन् जन्मनि-अस्य बालस्य सावित्री माता मातृस्थाने रक्षिका त्वाचार्यः पितोच्यते ॥

भा०-द्विजत्वसम्पादनाय जन्मान्तरकल्पनायामौपचारिकौ मातापितरौ कल्प्येते सावित्रीमन्त्रेणेश्वरोपासनविधेराचार्यप्रियाचरणविधेश्चायं प्रशंसार्थवादः। ब्रह्मचारिणा स्वप्नेऽपि न स्मर्त्तव्यं यन्मातापितृभ्यां वियुक्तोऽहं को मां रक्षयिष्यति तयोः स्थाने सावित्र्याचार्यौ रक्षकावबधारणीयौ यथा पित्रपेक्षया मातुर्गौरवमुक्तं तथैवाचार्यपित्रपेक्षया सावित्र्योपासनाया गौरवमभिधातुं मातृत्वमुक्तम्। मातृपितृपदाभ्यामत्र सावित्र्या आचार्यस्य च प्रशंसोच्यते ॥१७०॥

भाषार्थः—(तत्र) उन तीन जन्मों में (अस्य) इस द्विज का (मौञ्जीबन्धन-चिह्नितम्) मूंज की मेखला आदि चिह्नों से प्रतीत कराया (यत्) जो (ब्रह्मजन्म) वेद में प्रतिष्ठा प्राप्त होना रूप प्रसिद्धि है (तत्र) उस द्वितीय जन्म में (अस्य) इस बालक की (सावित्री) गायत्री (माता) माता के तुल्य रक्षा करने वाली (तु) और (आचार्यः, पितोच्यते) आचार्य पिता कहाता है ॥

भा०—द्विज होने के लिये जन्मान्तर की कल्पना में व्यावहारिक माता पिता की कल्पना की है। गायत्रीमन्त्र से ईश्वरोपासना विधि और गुरु पूजा विधि का यह प्रशंसा रूप अर्थवाद है। ब्रह्मचारी को स्वप्न में भी न शोचना चाहिये कि मैं माता पिता से वियुक्त हो गया अब मेरी कौन रक्षा करेगा? पहिले माता पिता के स्थान में गायत्री और आचार्य रक्षक मानने चाहिये। जैसे पिता की अपेक्षा माता का गौरव कहा है वैसे गुरु की अपेक्षा सावित्री से उपासना की अधिकता दिखाने को गायत्री माता मानी है। अर्थात् मातृ पितृ शब्दों से दोनों की प्रशंसा कही गयी है ॥ ५७० ॥

वेदप्रदानादाचार्यं पितरं परिचक्षते ।
नह्यस्मिन् युज्यते कर्म किञ्चिदामौञ्जिबन्धनात्॥

अ०—पितृशब्दस्य, पाति रक्षतीति निर्वचने वैयाकरणाद्यनुमते सत्यपीदमपरं निर्वचनमुच्यते—प्रदाता—पिता—प्रदातृशब्दस्थाने पितृशब्दः प्रयुज्यते। आद्यजन्मनि प्रदानस्य वीर्यं कर्मात्र द्वितीये च जन्मनि वेदः कर्म तत्रोत्पादकः कर्त्ताऽत्र त्वाचार्यः प्रदानस्य कर्त्ता। एवं वेदप्रदानात्कर्मणा आचार्यं पितरं मन्वादयः परिचक्षते। यथाऽऽद्यजन्मनि चेष्टाश्रयेऽसति शरीरे किमप्युत्क्षेपणादि कर्म कर्त्तुं न शक्यते तथैव शास्त्रतो विहितं सन्ध्योपासनादि किञ्चिदपि कर्म मौञ्जिबन्धनकालावध्यस्मिन् बाले न युज्यते ॥

भा०—वीर्यप्रदाता मन्त्रप्रदाता वेदप्रदाताऽन्नप्रदाताऽभयप्रदाता—इत्यादिप्रकारेण सर्वत्र प्रदातृत्वमेव पितृत्वं बो-

ध्यम् । यथा पित्रोत्पादितो मांसपिण्डश्चेष्टते तथैवाचार्यपित्रा समर्थितः शिक्षितो द्वितीये जन्मनि शास्त्रोक्तं समिदाधानादि कर्म करोति ॥ १७१ ॥

भाषार्थः—वैयाकरणादि की सम्मत्यनुसार पितृ शब्द का अर्थ रक्षा करने वाला होने पर भी यह द्वितीयार्थ कहते हैं (वेदप्रदानात्) वेद का प्रदाता होने से (आचार्यम्, पितरम्) आचार्य गुरु को (पितरम्) पिता (परिचक्षते) मनु आदि विद्वान् कहते हैं । पहिले जन्म में प्रदान का वीर्य और द्वितीय में वेद कर्म तथा पहिले में उत्पादक और द्वितीय में आचार्य कर्त्ता है । जैसे उत्पन्न होने से पहिले रोना आदि बच्चा नहीं कर सकता वैसे ही शास्त्र में कहा सन्ध्योपासनादि (किञ्चित् कर्म) कुछ भी कर्म (आमौञ्जिबन्धनात्) वेदारम्भ से पहिले (अस्मिन्) इस बालक के लिये (नहि, युज्यते) करना उचित नहीं हैं ॥

भा०—वीर्य प्रदाता मन्त्र प्रदाता वेद प्रदाता अन्न प्रदाता तथा अभय प्रदाता इत्यादि प्रकार वीर्यादि के प्रदाता पिता कहाते हैं । जैसे पिता ने उत्पन्न किया मांस पिण्ड पुत्र चेष्टा कर सकता वैसे आचार्य पिता ने शिक्षा कर समर्थ किया शिष्य द्वितीय जन्म में शास्त्रोक्त समिदाधानादि कर्म कर सकता है ॥ १७१ ॥

नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनादृते ।
शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते॥१७२॥

अ०—मृते पितरि पुत्रेणानुपनीतेनापि दाहादिकर्म कार्यमित्यन्यत्र विधीयते तत्र च मन्त्रोच्चारणमुपनयनसंस्कारेण विनापि कार्यमेव । अत्रामौञ्जिबन्धनादित्यनुवर्त्तते स्वधा पितृकर्म तन्निनयनान्निष्पादनादन्यत्रोपनयनात्प्राक् पिता तत्स्थानी कोऽपि वा माणवकेन ब्रह्म वेदं नाभिव्याहारयेन्नोच्चारयेत् । यतो यावद्वेदे सावित्र्युपदेशे न जायते यावद्यथाविध्युपनीतो न भवति तावच्छूद्रेण हि समस्तुल्यो विज्ञेयः

भा०—यथामलिनशरीरान्तःसंस्कारत्वाद्वेदाध्ययने शूद्रोऽनधिकृतस्तथैवोपनयनसंस्कारात्प्राक्ब्राह्मणादीनां वा-

लाऽप्यनधिकारिणएव विज्ञेयाः। यथा च सर्वत्रैव संस्कृता-संस्कृतयोःसंसर्गो दोषावहस्तथैवात्रातिपवित्रस्वरूपस्य वेद-स्याध्ययनमपि संस्कृतेनैव द्विजेन कार्यमिति ॥ १७२ ॥

भाषार्थः—पिता के मर जाने पर उपनयन न किये पुत्र को भी उस का दाहादि कर्म वेदमन्त्रों द्वारा करना चाहिये यह विधान है। यहां आमौञ्जिबन्धनात् की पूर्व श्लोक से अनुवृत्ति आती है (स्वधानिनयनादृते) पितादि के दाहादि कर्म से अन्यत्र उपनयन वेदारम्भसंस्कार से पहिले पिता वा बड़ा भाई आदि कोई पुरुष बालक को (ब्रह्म) वेद (नाभिव्याहारयेत्) न पढ़ावे क्योंकि (यावत्) जब तक (वेदे,न,जायते) वेदारम्भ नहीं होता (तावत्) तब तक (शूद्रेण हि समः) शूद्र के तुल्य वेद पढ़ने का अनधिकारी ही है ॥

भा०—जैसे बाहर भीतरसे मलिनसंस्कार होने के कारण शूद्र वेदाध्ययन का अधिकारी नहीं वैसे ही उपनयनसंस्कार से पूर्व ब्राह्मणादि द्विजों के बालक भी वेद पढ़ने के अनधिकारी हैं। जैसे सर्वत्र ही शुद्ध अशुद्ध का संयोग हानि वा दुःख हेतु है वैसे यहां भी संस्कार किया हुआ द्विज ही अतिपवित्र स्वरूप वेद का अध्ययन करे ॥१७२॥

कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते ॥
ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम् ॥१७३॥

अ०—कृतोपनयनस्यास्य द्विजबालस्य वेदारम्भकाले "दिवा मा स्वाप्सीः, आचार्याधीनोवेदमधीष्व" इत्यादिप्रकारेण व्रतानां शौचाचारादीनामादेशनमुपदेशो विधिपूर्वकं क्रमेणारम्भाहगादिक्रमेण ब्रह्मणो वेदस्य ग्रहणं चैवेष्यते शास्त्राज्ञानुकूलमिष्टमस्ति तस्मादुपनयनात्पूर्वं वेदं नाध्यापयेद् व्रतं च नोपदिशेत् ॥

भा०=ब्रह्मचर्यनियमानुष्ठानेन सहैव वेदाध्ययनमुपनयनसंस्कारानन्तरं वेदारम्भकालादेव सर्वशास्त्रेषु विधीयते।

यदि पूर्वमपि बालोवेदमधीयीत वेदाध्ययनकालः कश्चिन्नियतो नाभिमतः स्यात्तदा वेदारम्भसंस्कारस्य वैयर्थ्यमेव प्रसज्येत तस्मात्पूर्वं वेदो नाध्याप्यः ॥ १७३ ॥

भाषार्थः-(अस्य,कृतोपनयनस्य) इस उपनयन किये द्विज ब्रह्मचारी को वेदारम्भ समय में (व्रतादेशनम्) दिन में मत सोओ, गुरु के आधीन रह कर वेद पढ़ो इत्यादि प्रकार से व्रतों की आज्ञा करना और (विधिपूर्वकम्) शास्त्र में कहे अनुसार (क्रमेण) ऋगादि क्रम से (एव) ही (ब्रह्मणो ग्रहणञ्चैव) वेद का पढ़ना जानना (इष्यते) अभीष्ट है । इस कारण उपनयन से पूर्व बालक को वेद न पढ़ावे न व्रतोपदेश करे ॥

भा०—ब्रह्मचर्याश्रम के नियम सेवन के साथ ही उपनयन संस्कार किं पश्चात् वेदारम्भ समय से ही वेद पढ़ना सब शास्त्रों में कहा है यदि बालक के उपनयन से पहिले भी वेद पढ़ाया जाय तो वेदारम्भसंस्कार ही व्यर्थ हो जाय इस कारण उपनयन से पहिले वेद नहीं पढ़ाना चाहिये ॥१७३॥

यद्यस्य विहितं चर्म यत्सूत्रं या च मेखला
यो दण्डो यच्च वसनं तत्तदस्य व्रतेष्वपि ॥१७४॥

अ०-यस्य ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य वैश्यस्य वोपनयनकाले यच्चर्म यत्सूत्रं या च मेखला यो दण्डो यच्च वसन भेदेन धारयितुं विहितं तत्तदस्य ब्राह्मणादेर्गृहस्थस्यापि व्रतेष्वपि गृह्यसूत्रोक्तेषु चान्द्रायणादिषु वा नूतनं धारणमिति शास्त्रविहितं बोध्यम् ॥

भा०-ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यो वा गृहस्थाश्रमेऽपि यदा शास्त्रोक्तं किमपि व्रतमारभेत तदा स्वस्ववर्णायोपनयनकाल उपदिष्टानि चर्मादिचिह्नानि धृत्वा ब्रह्मचर्याश्रमनियमैरेव व्रतं पूरयेत् ॥ १७४ ॥

भाषार्थः-(यस्य) जिस ब्राह्मण क्षत्रिय वा वैश्य के लिये उपनयनसंस्कार के समय (यच्चर्म) बिछाने के आसनार्थ जो मृगादि का चर्म (यत्सूत्रम्) कपासादि का जो जनेऊ (या,च,मेखला) जो मेखला कन्धनी मूंज आदि की (यो दण्डः) जो बेल आदि का दण्ड (च) और (यद्वसनम्) जो २ शण आदि का वस्त्र धारण करने को कहा है (अस्य) इस ब्राह्मणादि का (व्रतेष्वपि) गृह्यसूत्रादि में कहे वा चान्द्रायणादि व्रतों में भी (तत्तत्) उसी २ चर्मादि के नवीन धारण करने का विधान शास्त्रोक्त जानना चाहियें ॥

भा०-ब्राह्मण क्षत्रिय वा वैश्य गृहाश्रम में रह कर भी जब २ शास्त्रोक्त किसी व्रत का आरम्भ करें तो अपने २ वर्ण के लिये उपनयन काल में कहे चर्मादि चिह्नों को धारण कर के ब्रह्मचर्याश्रम के नियमों के साथ ही व्रत का पूरा अनुष्ठान करे ॥ १७४ ॥

सेवेतेमांस्तु नियमान् ब्रह्मचारी गुरौ वसन् ।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्ध्यर्थमात्मनः ॥१७५॥

अ०-ब्रह्मचारी द्विजो गुरौ वसन् गुरुसमीपे वेदाधिगमाय निवसन्नात्मनः स्वस्य तपोवृद्ध्यर्थं तमोरूपमालिन्यह्रासेन ब्रह्मवर्चसवर्धनायेन्द्रियग्रामं सर्वाणि ज्ञानेन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च संयम्य वशेकृत्वेमान् वक्ष्यमाणान् नियमान् सेवेत ॥ १७५ ॥

भा०-सर्वेन्द्रियनिग्रहपुरस्सरं वक्ष्यमाणधर्म्यनियमसेवनेन विना सर्वेष्टसाधना तपोवृद्धिर्न सम्भवति तस्मात्सुखमभिलषता नियमाः सेव्या एव ॥ १७५ ॥

भाषार्थः-(ब्रह्मचारी) द्विज ब्रह्मचारी (गुरौ) गुरु के समीप (वसन्) वेद ज्ञान के लिये बसता हुआ (आत्मनः) अपनी (तपोवृद्ध्यर्थम्) तमोगुण अज्ञानरूप हृदय की मलिनता को हटा कर ब्रह्मतेज को बढ़ाने के लिये (इन्द्रियग्रामम्) सब ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों को (संनियम्य) वश में कर (इमान्) इन आगे कहे (नियमान्) नियमों का (सेवेत) सेवन करे ॥

भा०-सब इन्द्रियों को रोकने पूर्वक वक्ष्यमाण धर्मयुक्त नियमों का सेवन किये विना सब दृष्ट सुखों का हेतु तप की वृद्धि नहीं हो सकती तिस से सुखाभिलाषी पुरुष को नियमों का सेवन अवश्य करना चाहिये ॥ १७५ ॥

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताऽभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च ॥१७६॥

अ०-ब्रह्मचारी प्रातरुत्थाय स्नात्वा शुचिः सन् ऋषिदेवपितृसंज्ञकानामुदकादिदानेन तृप्तिं वेदोक्तदेवतानामुपकारित्वस्य मनसा चिन्तनमभ्यर्चनमथवा „ होमैर्देवान् यथाविधी"ति रीत्याऽग्न्यादीनां होमैरभ्यर्चनं समिदाधानमेव च नित्यंकुर्यात् ॥

भा०-वक्ष्यमाणैः पञ्चमहायज्ञैरेवात्रर्ष्यादीनां तर्पणमभ्यर्चनंचविवक्षितम्। ऋष्यादयःशब्दाःकाँस्कानतिप्रशस्तान् गुणान् पुरस्कृत्य तत्तद्गुणवति द्रव्येऽपि गुणतारतम्येन तारतम्यवचनाः सर्वत्र गृह्यन्ते । तथा सति व्याप्तार्थवचनाः सामान्यार्थपराइति जैमिन्याद्यनुकूलो वेदसिद्धान्तः । स्वाध्यायादिकर्मभिश्च सर्वत्रस्थाः स्वशरीरस्थाश्चार्षेयादिगुणा अभ्यर्चितास्तृप्ताः प्रसन्नाश्च भवन्ति । साधुसम्पत्तिरेव सर्वत्र तृप्तिरभ्यर्चना वा। यथेन्द्रियशक्तीनामपि देवादित्वं तत्तत्कर्मणा प्रत्यक्षमेव पूजितं भवति तथैव सर्वत्र बोध्यम् ॥१७६॥

भाषार्थः-ब्रह्मचारी प्रातःकाल उठकर स्नानादि करके (शुचिः) शुद्ध हुआ (देवर्षिपितृतर्पणम्) ऋषि देव और पितृसंज्ञक प्राणियों वा मनुष्यों को जलादि देकर तृप्त करना (देवताभ्यर्चनं चैव) वेदोक्त अग्नि आदि देवताओं का उपकार चिन्तन करना अथवा होम द्वारा अग्नि आदि देवताओं को शुद्ध प्रसन्न करना (समिदाधानमेव च) और समिधाओं का मन्त्र पूर्वक (नित्यम्) नित्य होम (कुर्यात्) करे । देवताभ्यर्चन पद से अग्निहोत्र का ग्रहण मानने पर भी समिदाधान ब्रह्मचारी का प्रधान कर्त्तव्य होने से पृथक् कहना प्रयोजनीय है ॥

भा०—आगे तृतीयाध्याय में कहे पञ्चमहायज्ञों से ही यहां ऋषि आदि का तर्पण वा पूजन कहना अभीष्ट है। ऋषि आदि शब्द किन्हीं २ अति प्रशस्त गुणों के वाचक हो कर उस २ गुण वाले द्रव्य में भी न्यूनाधिक भाव से न्यूनाधिक अर्थबोधक लिये जाते हैं। ऐसा होने पर ही सामान्य व्याप्त्यर्थवाची वेद के शब्द हैं यह जैमिनि आदि के अनुकूल वेद का सिद्धान्त ठीक सिद्ध होता है। स्वाध्याय ब्रह्मयज्ञादि कर्मों से सर्वत्र व्याप्त वा अपने शरीर के ऋषि आदि सम्बन्धी गुण पूजित तृप्त प्रसन्न वा शुद्ध होते हैं। चेतन वा जड़ सब वस्तुओं का अच्छा होना वा शुद्ध संस्कृत होना ही उन २ की तृप्ति वा पूजा है। जैसे इन्द्रिय शक्तियों का देवपन ऋषिपन वा पितृपन उस २ नैत्यिक कर्म से प्रत्यक्ष ही पूजित होता है वैसे ही सर्वत्र जानो। शतपथ ब्रा० में लिखा है कि "वागेव देवा मनः पितरः" वाणी इन्द्रिय देव हैं और मन पितृ हैं इत्यादि ॥ १७६ ॥

वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥
अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्त्तनं गीतवादनम् ॥१७८॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥१७९॥

अ०—ब्रह्मचारी वृष्योत्तेजकच्छेदकत्वादिना ब्रह्मचर्यघ्नं मधु क्षौद्रं मांसं मांसभक्षणं गन्धं किंशरादिगन्धद्रव्यसेवनं माल्यं पुष्पादिमालाधारणं रसान् कटूष्णादिवीर्यच्छेदकरसभक्षणं भोगोत्कण्ठया स्त्रीसांनिध्यं यानि सर्वाणि शुक्तानि पर्युषितानि विकृतान्यन्नानि दध्यादीनि प्राणिनां दंशमशकादीनामपि हिंसनं, तैलादिना शरीरमर्दनमभ्यङ्गः, अक्ष्णोः कज्जलाञ्जनं, उपानच्छत्रयोर्धारणं, मनसा विषयभोगाभि-

लापः कामः, क्रोधो रोषः, लोभो धनादिसंग्रहगर्धः, नर्त्तनं, गानं, वादित्रवादनम् । द्यूतमक्षक्रीडादिरूपं, जनैः सह खण्डनमण्डनादिषु वाक्चापल्यं, परिवादं क्वापि दोषारोपणं, तथाऽनृतं मिथ्याभाषणं, स्त्रीणां प्रेक्षणं दर्शनमालम्भं स्पर्शनं च, परस्यान्यस्य कार्योपघातं च सर्वमेतद्वर्जयेत् ॥

भा०—अत्र केषांचित्सेवनमधर्मजनकं केषांचिद् ब्रह्मचर्यघ्नं केषांचिद्विषयवासनारागकरं केषांचिच्च वेदाध्ययनविरोधीतिकृत्वा ब्रह्मचारिणा त्याज्यम् । मद्यन्त्वेकादशाध्याये सर्वार्थमेव विशेषतया निषिद्धं तत्पाने महापातकं चोक्तमेवेति ब्रह्मचारिणोऽपि स्वतएव प्रतिषिद्धम् ॥१७७।१७८।१८०

भाषार्थः—ब्रह्मचारी वीर्यबर्द्धन, उत्तेजन वा छेदन आदि गुणों से ब्रह्मचर्य विघातक (मधु) शहद (मांसम्) मांसभक्षण (गन्धम्) केशर आदि सुगन्ध द्रव्यों के सेवन (माल्यम्) फूल मालादि के धारण (रसान्) वीर्य छेदक कटु तिक्तादि रसों के सेवन (स्त्रियः) मैथुन की इच्छा से स्त्रियों के समीप जाना (यानि, सर्वाणि शुक्तानि, जो बहुत काल धरे रहने से खटाये विकृत बासे दही आदि (च) और (प्राणिनाम्, हिंसनम्) डांश मच्छर आदि प्राणियों की भी हिंसा (अभ्यङ्गम्) तैलादि से शरीर मर्दन (अक्ष्णोः, अञ्जनम्) आंखों में अञ्जन वा सुरमा लगाने (उपानच्छत्रधारणम्) जूते और छाते का धारण (कामम्) मन से विषयभोग की अभिलाषा (क्रोधम्) क्रोध (लोभम्) धनादि के संग्रह की इच्छा (नर्त्तनं गीतवादनम्) नाचने गाने ढोल मजीरादि बजाने (द्यूतम्) जुआ खेलने (जनवादम्) मनुष्यों के साथ वाद विवाद खण्डन मण्डनादि से वाणी की चपलता (परिवादम्) किसी को दोष लगाने निन्दा नकल ईर्ष्यादि (अनृतम्) मिथ्याभाषण (स्त्रीणां प्रेक्षणालम्भम्) मेलादि में स्त्रियों का देखना तथा काम बुद्धि से स्त्री के किसी अङ्ग के स्पर्श करने (च) और (परस्योपघातम्) किसी अन्य के काम को जान कर बिगाड़ना इन सब को (वर्जयेत्) छोड़ देवे ।

भा०—इन पूर्वोक्त सब वस्तु वा विषयों में किन्हीं का सेवन अधर्मजनक किन्ही का ब्रह्मचर्यनाशक किन्ही का विषयभोग की वासना वर्धक और किन्हीं

का सेवन वेदाध्ययन का विरोधी है इस कारण ब्रह्मचारी को उक्त सब का सेवन अवश्य छोड़ देना चाहिये। और मद्यपान तो ११ ग्यारहवें अध्याय में विशेषकर निषिद्ध ही है तथा मद्य के पीने में महापातक भी कहा है इस से ब्रह्मचारी को भी इस का स्वयमेव निषेध आगया ॥ १७७ । १७८ । १७९ ॥

एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित् ।
कामाद्धि स्कन्दयन् रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः॥

अ०—सर्वत्र जनसमुदाये मातृपितृसमीपेऽपि वा एकशय्यायां न शयीत किन्तु सर्वस्मात्पृथगेकएव सदा शयीत, क्वचिदयोनौ भूम्यादावपि केनापि प्रकारेण रेतो वीर्यं न स्कन्दयेच्छरीरान्न गमयेत्। कामाद्विषयभोगाभिलाषया रेतः स्कन्दयन्नात्मनः स्वस्य व्रतं ब्रह्मचर्यं हिनस्ति ॥

भा०—ब्रह्मचर्याश्रमस्य सर्वनियमेषु सर्वथा सर्वदा शुक्रं शरीरात्कथमपि बहिर्न निस्सरेदयमेव प्रधानो नियमः । अन्ये च सर्वे नियमा उपस्थनिग्रहसाहाय्याय वेदाधिगमसौलभ्याय चोपदिश्यन्ते ॥ १८० ॥

भाषार्थः—(सर्वत्र) बहुत मनुष्यों के समुदाय वा माता पिता के निकट भी ब्रह्मचारी एक बिस्तरा पर किसी के साथ कभी लगकर न सोवे किन्तु (एकः शयीत) अकेला सब से पृथक् सदा सोवे (क्वचित्) कहीं योनि से भिन्न दूर्वाखण्डादि में भी (रेतः) वीर्य को किसी प्रकार से (न, स्कन्दयेत्) न गिरावे (कामात्) विषयभोग की उत्कण्ठा से (रेतः, स्कन्दयन्) वीर्य को गिराता हुआ (आत्मनः) अपने (व्रतम्) ब्रह्मचर्य व्रत को (हिनस्ति) खण्डित करदेता है ॥

भा०—ब्रह्मचर्याश्रम के सब नियमों में सब प्रकार सब काल में शरीर से वीर्य किसी प्रकार बाहर न निकले यही मुख्य नियम है । और अन्य सब नियम उपस्थेन्द्रिय को वशीभूत रखने की सहायता के लिये तथा वेदाध्ययन की सुगमतार्थ कहे गये हैं ॥ १८० ॥

स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः ।
स्नात्वार्कमर्चयित्वा त्रिः पुनर्मामित्यृचं जपेत्॥

अ०-द्विजो ब्रह्मचारी स्वप्नेऽकामतोऽज्ञानेन रेचकद्रव्यभक्षणादिना शुक्रं सिक्त्वा प्रतिबुद्धः स्नात्वाऽर्कमर्चयित्वा सवितृदेवताकसूक्तपाठेन सूर्यगुणकीर्त्तनरूपां स्तुतिं विधाय पुनर्मा० इति ऋचं त्रिस्त्रिवारं जपेदिति प्रायश्चित्तम्॥

भा०-अकामतोऽपि शुक्रनिस्सरणे प्रायश्चित्तम्। कामतो निस्सारणे तु व्रतलोपएव तदा च पुनरुपयनविधिना बृहत्प्रायश्चित्तं वक्ष्यति। यस्याकामतः कामतो वा कथमपि ब्रह्मचर्यकाले शुक्रं देहात्कदापि न निर्गच्छेत्सएव सर्वस्मादुत्तमो ब्रह्मचारी। यस्याकामतो निस्सरेत्स मध्यमः कामतो निस्सारकः कृतप्रायश्चित्तोऽप्यधमः सर्वथा त्यक्ताकृतब्रह्मचर्यापेक्षया तु सोऽधमोऽपि श्रेष्ठएव विज्ञेयः॥ १८१॥

भाषार्थः-(द्विजः,ब्रह्मचारी) द्विज ब्रह्मचारी (स्वप्ने) स्वप्न में (अकामतः) स्त्री संग का स्वप्न हुए विना [अर्थात् जाग्रत् दशा में कभी स्त्री संभोग की कामना को पास न आने देने से वैसा स्वप्न भी नहीं होता] रेचक वा उत्तेजक लवङ्गादि वस्तु खा लेने से (शुक्रम् सिक्त्वा) वीर्यपात हो जाने पर जाग कर (स्नात्वा) स्नान कर के (अर्कमर्चयित्वा) सवितृदेवता वाले सूक्त के पाठ से सूर्य की गुण कीर्त्तनरूप स्तुति कर के (पुनर्मामैत्विन्द्रियं० अथर्व० ७।६७) इस (ऋचम्) ऋचा का (त्रिः) तीनवार (जपेत्) जप करे॥

भा०-अकाम से भी वीर्य निकल जाने पर प्रायश्चित्त है और कामना होने पर स्वप्न में वीर्यपात हो तब तो व्रत का ही लोप होता है उस दशा में फिर से उपनयन विधि कर के बड़ा प्रायश्चित्त कहेंगे। जिस का ब्रह्मचर्यकाल में ज्ञान वा अज्ञान से किसी प्रकार शरीर से कभी वीर्य न निकले वह सब से उत्तम ब्रह्मचारी तथा जिस का अकाम से कभी निकले तो प्रायश्चित्त करले वह मध्यम और भोगोत्कण्ठा से स्वप्न में वा अन्य समय वीर्य निकालने वाला प्रायश्चित्त कर लेने पर निकृष्ट ब्रह्मचारी है परन्तु सर्वथा ब्रह्मचर्य के त्यागी वा ब्रह्मचर्याश्रम के नियम न करने वाले की अपेक्षा वह निकृष्ट ब्रह्मचारी भी अच्छा है॥ १८१॥

उदकुम्भं सुमनसो गोशकृन्मृत्तिकाकुशान् ।
आहरेद्यावदर्थानि भैक्षं चाहरहश्चरेत् १८२

अ०—गुरोः स्वस्य वा पानाद्यर्थमुदकुम्भं जलाशयात्सुमनसः पुष्पाणि गुर्वर्थमेव स्वार्थं गन्धं माल्यं च निषिद्धमेव, निवासस्थानलेपनाय गोशकृद् गोमयं मृत्तिका लेपनाय हस्तादिमार्जनाय वा कुशानग्निहोत्रे कुशैः प्रणीताच्छादनाद्यर्थमेतानि यावदर्थानि यावत्प्रयोजनानि शुद्धप्रदेशादाहरेत् । अहरहः प्रतिदिनं च भैक्षं पक्वान्नं स्वभोजनाय चरेदानयेत् ॥

भा०—उदकादीनि नवानि नवानि प्रतिदिनं यावत्प्रयोजनान्येवानयेत् नतु लोभेन प्रात्यहिकश्रमभयेन वाऽधिकसङ्ग्रहं कुर्यादित्याशयः ॥ १८२ ॥

भाषार्थः—गुरु के वा अपने पीने आदि के लिये (उदकुम्भम्) कूपादि जलाशय से जल का वर्त्तन भर लाना (सुमनसः) सुगन्धित पुष्प गुरु के लिये क्योंकि ब्रह्मचारी को सुगन्ध तथा पुष्पमाला का निषेध है ही । तथा निवासस्थान लीपने के लिये (गोशकृत्) गोबर (मृत्तिका) लीपने वा पात्र और हाथ आदि मांजने को मट्टी, अग्निहोत्र में मार्जनादि के लिये (कुशान्) दर्भों इन सब वस्तुओं को (यावदर्थानि) जितने २ अपेक्षित हों नित्य २ (आहरेत्) शुद्ध स्थानों से लाया करे (च) और (अहरहः) प्रति दिन (भैक्षम्) अपने भोजन के लिये पकाया अन्न रोटी दाल भात आदि (चरेत्) लाया करे ॥

भा०—जलादि वस्तु नये २ प्रतिदिन प्रयोजन के अनुसार ही ब्रह्मचारी लावे किन्तु लोभ से वा प्रतिदिन लाने के श्रमभय से अधिक जोड़ कर न रक्खे ॥१८२॥

वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु ।
ब्रह्मचार्याहरेद् भैक्षं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम् १८३

अ०—प्रयतो वाङ्मनश्चक्षुषां चापल्यरहितो वशीकृ-

तसर्वेन्द्रियो ब्रह्मचारी वेदाध्ययनाध्यापनैर्यजनैश्चाहीनानां संयुक्तानां स्वकर्मसु प्रशस्तानां शमादिषु पञ्चमहायज्ञादिषु कर्मसु च दक्षाणां गृहेभ्योऽन्वहं प्रतिदिनं भैक्षं भोक्तुं पक्वान्नं याचित्वाऽऽहरेत् ॥

भा०—वेदाध्ययनयज्ञादिवेदोक्तकर्मतत्पराणां गृहएव बलायुरारोग्यवर्धकं शुद्धं सात्त्विकं हविष्यं हुतशिष्टं च पक्वं देवान्नं सम्भवति तादृशमेव च तस्य ब्रह्मचर्यरक्षकं सम्भवति । अन्येषां तु गृहे मद्यमांसादिसंसृष्टं राजसं तामसं वाऽन्नं सम्भवति। तस्मात्तादृशगृहेभ्यएव भिक्षणीयम् ॥ १८३ ॥

भाषार्थ—(प्रयतः) वाणी मन और नेत्रादि की चपलता को छोड़ कर सब इन्द्रियों को वशीभूत किये (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (वेदयज्ञैरहीनानाम्) वेद के पठनपाठन और वेदोक्त यज्ञ करने कराने से जो रहित न हों ऐसे (स्वकर्मसु, प्रशस्तानाम्) अपने शम दम शान्ति तितिक्षादि तथा पञ्चमहायज्ञादि कर्मों में प्रशस्त ब्राह्मणादि गृहस्थों के (गृहेभ्यः) घरों से (अन्वहम्) प्रतिदिन (भैक्षम्) खाने के लिये पकाये अन्न को मांग कर (आहरेत्) लावे ॥

भा०—वेदाध्ययन और यज्ञादि वेदोक्त कर्मों में तत्पर गृहस्थों के घर में ही बल आयु और आरोग्यवर्धक शुद्ध सत्वगुण युक्त हविष्य देवान्न पकना सम्भव है वैसा ही अन्न ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य का रक्षक हो सकता है । तथा अन्य वेदबाह्य लोगों के घर में तो मद्य मांसादि युक्त वा अपवित्रता से बना रजोगुणी वा तमोगुणी भोजन बनता है। इस लिये वैसे ही घरों से भिक्षा मांगनी चाहिये ॥

गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु ।
अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत् १८४

अ०—ब्रह्मचारी गुरोः कुले सपिण्डे स्वज्ञातिकुलबन्धुषु च भिक्षां न भिक्षेत । अन्येषां धार्मिकपुरुषाणां गेहानां मध्ये भिक्षाया अलाभेऽन्यगृहाणामभावे वा पूर्वं पूर्वमुत्तरोत्तरलाभे विवर्जयेत् ॥

भा०–ब्रह्मचारिणे विधिरयं नतु गुरुकुलस्थादिभ्यः। तथासति गुरुकुलस्थादिपुरुषैस्तु याचनावसरे श्रद्धया भिक्षा तस्मै देयैव । गुरुकुलाद्विद्याशिक्षालाभः स्वज्ञात्यादिभ्यश्च बाल्यात्संरक्षणादिलाभो जायते जातो वेत्यतस्तेभ्योऽन्यथासिद्धौ लाभान्तरं न याचेतेति निषेधाशयो नतु गुरुकुलाद्यन्ने किमपि दूषणमस्ति ॥ १८४ ॥

भाषार्थः–ब्रह्मचारी (गुरोः,कुले) गुरु की सात पीढ़ी में तथा (ज्ञातिकुलबन्धुषु) अपने कुल वाले, सम्बन्धी भाई आदि के घरों में (न, भिक्षेत) भिक्षा न मांगे । (अन्यगेहानामलाभेतु) यदि अन्य पूर्वोक्त धार्मिक पुरुषों के घर भिक्षा के लिये न मिलें तो (पूर्वंपूर्वंविवर्जयेत्) बन्धु आदि के उत्तर २ घर मिलने पर पूर्व २ घरों से मांगना वर्जित रक्खे ॥

भा०–ब्रह्मचारी के लिये यह विधि है कि ब्रह्मचारी गुरु आदि के कुल में न मांगे किन्तु गुरुकुलादि के लिये विधान नहीं है कि वे ब्रह्मचारी को भिक्षा न दें । अर्थात् गुरुकुलस्थादि पुरुषों को उचित है कि ब्रह्मचारी को मांगने के समय श्रद्धा पूर्वक भिक्षा अवश्य देवें । गुरुकुल से विद्या शिक्षा का लाभ और अपने ज्ञाति आदि से बाल्यावस्था से रक्षादि उपकार होता वा हुआ है इस से अन्य प्रकार काम चले तो उन का अधिक ऋणी न बने यह निषेध का अभिप्राय है किन्तु गुरुकुलादि के अन्न में कोई दोष नहीं माना गया ॥ १८४ ॥

सर्वं वापि चरेद्ग्रामं पूर्वोक्तानामसम्भवे ।
नियम्य प्रयतो वाचमभिशस्तांस्तु वर्जयेत् १८५

अ०–पूर्वोक्तानां वेदाध्येत्रादीनामसम्भवे स्वरूपतस्तेषामभावे द्रव्यतो भिक्षालाभासम्भवे वा ब्रह्मचारी वाचं नियम्य भिक्षावाक्यमन्तराऽन्यत् किमप्यब्रुवन् प्रयतो वशीकृतेन्द्रियोऽशुच्याद्यस्पर्शी वा सर्वं वापि वेदाध्ययनादिभिर्हीनं सर्ववर्णग्रामं सद्मसमूहं भिक्षां चरेद्याचेत किन्तु केवला-

नभिशस्तान् दुष्कर्मविशेषाचरणैः प्रख्यातान्महापातकादींस्तथापि वर्जयेन्न ततो याचेत ॥

भा०-ब्रह्मचर्यस्थउत्तमधार्मिकपुरुषगृहाणामभावे ततो भिक्षालाभासम्भवे वा मध्यमकक्षास्थधर्माधर्मोभयविशेषाचारवर्जितगृहेभ्यो भिक्षां याचेत विशिष्टाधर्मिनिकृष्टपुरुषगृहेभ्यो न कदापि भिक्षां याचेतेत्याशयः ॥ १८५ ॥

भाषार्थः-(पूर्वोक्तानामसम्भवे) पूर्वोक्त वेदोक्त कर्मानुष्ठानयों के न होने पर वा हों तो भिक्षा देने की शक्ति न होने से भिक्षा उन के यहां से न मिल सकने पर ब्रह्मचारी (वाचम्) वाणी को (नियम्य) वश में कर के अर्थात् भिक्षा मांगने के वाक्य से भिन्न कुछ भी न बोलता हुआ (प्रयतः) इन्द्रियों को वश में कर के वा अशुद्ध मनुष्यादि का स्पर्श न करता हुआ (सर्ववार्पि) वेदाध्ययनादि सुकर्म रहित ब्राह्मणादि सब वर्णों के (ग्रामम्) घरों से (चरेत्) भिक्षा मांगे (तु) किन्तु इस दशा में भी (अभिशस्तान्) अपने विशेष नीच कर्मों से प्रख्यात महापातकी आदि को (वर्जयेत्) छोड़ देवे ॥

भा०-ब्रह्मचारी उत्तम धार्मिक पुरुषों के घर न होने वा उन से भिक्षा न मिल सकने पर विशेष धर्म अधर्म के आचरण से वर्जित मध्यम कक्षास्थ पुरुषों के घरों से भिक्षा मांगे किन्तु विशेष अधर्मी नीच पुरुषों के घरों से कदापि भिक्षा न मांगे ॥ १८५ ॥

दूरादाहृत्य समिधः संनिदध्याद्विहायसि ॥
सायं प्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः १८६

अ०-अतन्द्रितोऽनलसो ब्रह्मचारी दूराद् ग्राम्याशुद्धिरहिताद्वनादिप्रदेशात्समिधः पलाशादीनां शुष्ककाष्ठान्याहृत्य विहायसि शिक्यादिरूपेण मञ्चानादिरूपेण वा कल्पितावकाशे निदध्यात् । ताभिः समिद्भिः सायंप्रातरग्निं च जुहुयात् ॥

भा०=मार्जारविष्ठादिमालिन्यसंसर्गनिषेधाय विहायसि संनिधानविधिः । किमर्थं दूरं गच्छेयमित्यालस्यं न कार्यम् ।

ताभिरग्निं जुहुयादिति कथनादवगम्यते यद्घृतादिस्नेहाभावेऽपि केवलाभिः समिद्भिरपि मन्त्रोच्चारणपुरस्सरो होमः कार्यएव सर्वे ब्रह्मचारिणो घृतं प्राप्नुयुरेवेति नियमश्चासम्भवस्तथासति कर्मलोपो न स्यात् ॥ १८६ ॥

भावार्थः—(अतन्द्रितः) ब्रह्मचारी आलस्य छोड़ कर (दूरात्) ग्राम सम्बन्धिनी अशुद्धि जहां न हो ऐसे वनादि स्थान से (समिधः) ढाक आदि वृक्षों की सूखी लकड़ी (आहृत्य) लाकर (विधायसि) सींके के प्रकार वा मञ्चानादि रूप से बनाये स्थान में (सन्निदध्यात्) धरे (ताभिः) उन समिधाओं से (सायंप्रातश्च) प्रातःकाल और सायंकाल (अग्निम्) अग्नि को (जुहुयात्) प्रज्वलित करे ॥

भा०—विष्ठा की विष्ठादि मलीन वस्तु से समिधा दूषित न हों इस लिये ऊपर आकाश में समिधा धरने का विधान है तथा मैं दूर क्यों जाऊं ऐसा आलस्य ब्रह्मचारी को न करना चाहिये। उन समिधाओं से होम करे इस कथन से प्रतीत होता है कि घृतादि स्नेह के न होने पर भी केवल समिधाओं से भी मन्त्रोच्चारण पूर्वक होम अवश्य करना चाहिये। सब ब्रह्मचारियों को घृत प्राप्त ही हो यह नियम भी असम्भव है इस से न मिलने पर भी कर्म का लोप न करे ॥१८६॥

अकृत्वा भैक्षचरणमसमिध्य च पावकम् ।
अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतं चरेत् ॥१८७॥

अ०—अनातुरइत्यनापद्ग्रस्तस्योपलक्षणम् । यदनापदि ब्रह्मचारी सप्ताहावधि भैक्षचरणमग्नौ समिद्धोमं चोभयं न कुर्यात्तदा तस्य व्रतं लुप्यते तदैकादशाध्यायोक्तमवकीर्णिव्रतं प्रायश्चित्तं चरेत् कुर्यात् ॥

भा०—सप्तरात्रान्न्यूनकालावधि द्वयोस्त्यागे सप्तरात्रमेकस्य वा त्यागे यथापराधे प्रायश्चित्तं धर्माचार्यैरेव कल्पनीयम्। सप्तरात्रादधिककालावध्यनापदि द्वयोस्त्यागे प्रायश्चित्तमेव नास्तीत्यर्थादापद्यते तथापि धर्ममर्यादानिबन्ध-

कैर्देशकालपात्रविवेचनपरैः कदाचित्कुत्रचित्कस्यचित्प्राय-श्चित्तं कारयितुं शक्यमिति शास्त्राणां गूढाशयो धर्मरक्षकैरेव विज्ञेयः। यः कदापि समिद्धोमादिनियमं न जहाति स उत्तमो यो नियमं हित्वा प्रायश्चित्तेन पुनरारभते स मध्यमो यस्तु नियमं हित्वा न निष्करोति नियमं वा न सेवते सोऽधमः ॥१८७॥

भाषार्थः-(अनातुरः) किसी प्रकार रोगादि वश हो कर आपत्काल न होने पर ब्रह्मचारी (सप्तरात्रम्) सात दिन तक (भैक्षचरणमकृत्वा) भिक्षा मांगना छोड़ दे (च) और (पावकम्,असमिध्य) अग्नि में समिधाओं का होम न करे तो उस का व्रत लोप होता है तब ग्यारहवें अध्याय में कहे (अवकीर्णि-व्रतम्) अवकीर्णि नामक व्रतरूप प्रायश्चित्त को (चरेत्) करे ॥

भा०-सात दिनों से कम समय तक दोनों काम छोड़ देने पर वा सात दिन तक एक के छोड़ देने पर धर्माचार्यों को ही यथापराध प्रायश्चित्त की कल्पना करलेनी चाहिये। सात दिन से अधिक कालतक अनापत्काल में दोनों का त्याग होने पर प्रायश्चित्त ही नहीं है यह अर्थापत्ति से आता है तथापि धर्म की मर्यादा बांधने वाले देशकाल और पात्र के विवेचन में तत्पर लोगों को चाहिये कि कहीं कभी किसी का प्रायश्चित्त करा देवें। यह शास्त्रों का गूढ़ाशय धर्मरक्षकों ही के जानने योग्य है। जो कभी समिदाधानादि के नियम को नहीं छोड़ता वह उत्तम जो नियम छोड़ प्रायश्चित्त से फिर आरम्भ करता वह मध्यम और जो नियम छोड़ के प्रायश्चित्त भी नहीं करता वा नियम पर चलता ही नहीं वह अधम पुरुष है ॥ १८७ ॥

भैक्षेण वर्त्तयेन्नित्यं नैकान्नादी भवेद्व्रती ।
भैक्षेण व्रतिनो वृत्तिरुपवाससमा स्मृता ॥१८८॥

अ०-व्रती ब्रह्मचर्यव्रतसेवी जनो भैक्षेणानेकगृहेभ्यः संगृहीतभिक्षासमूहेन वर्त्तयेज्जीवेत् किन्त्वेकस्य गृहिणोऽन्नमेकान्नं तद्भोक्तुं शीलो न भवेत्। यतस्तस्य व्रतिनो भैक्षेण वृत्तिरुपजीविकोपवाससमा स्मृता मता ॥

भा०–पूर्वार्द्धेन विधिरुत्तरार्द्धेनार्थवादश्चोक्तः। एकस्यान्नादने यावन्तो दोषाः सम्भवन्ति न तावन्तो बहुगृहाणामन्नादने इति सूक्ष्मविचारेणोक्षणीयम्। ब्रह्मचारिणा धर्मं मत्वा भिक्षावृत्तिः कार्या तथासत्येवोपवाससमत्वम् ॥१८८॥

एतत्पद्याग्रे श्लोकद्वयं कुत्रचिदुपलभ्यते केषांचिदनुमतौ मूलश्लोकाविमौ यथा–„न भैक्ष्यं परपाकः स्यान्न च भैक्ष्यं प्रतिग्रहः। सोमपानसमं भैक्ष्यं तस्माद् भैक्ष्येण वर्त्तयेत् ॥१॥ भैक्ष्यस्यागमशुद्धस्य प्रोक्षितस्य हुतस्य च। यांस्तस्य ग्रसते ग्रासांस्ते तस्य क्रतुभिः समाः ॥२॥" भिक्षायाचनविधेः प्रशंसार्थवादोऽत्र सम्भवएव प्रतीयते ॥

भाषार्थः–(व्रती) ब्रह्मचर्याश्रम के नियमों पर चलने वाला पुरुष (भैक्षेण) अनेक घरों से मांगी भिक्षा के समुदाय से (नित्यम्, वर्त्तयेत्) नित्य निर्वाह करे किन्तु (एकान्नादी) एक गृहस्थ का अन्न खाने के स्वभाव वाला (न, भवेत्) न हो क्योंकि उस (व्रतिनः) व्रतधारी ब्रह्मचारी की (भैक्षेण) अनेक घरों की भिक्षा से हुई (वृत्तिः) जीविका (उपवाससमा, स्मृता) उपवास करने के साथ तप करने से होने वाली शुद्धि के तुल्य फल देने वाली मानी गयी है ॥

भा०–यहां पूर्व आधे श्लोक में विधि और उत्तरार्द्ध में उस का अर्थवाद कहा है। एक घर का अन्न एक दिन वा नित्य खाने में जितने दोष सम्भव हैं उतने बहुत घरों के अन्न में कदापि नहीं होते यह सूक्ष्म विचार से शोचनीय है। ब्रह्मचारी को चाहिये कि अपना धर्म मान कर भिक्षा वृत्ति करे किन्तु कहीं एक घर में अन्न नहीं मिल सकता इस से भिक्षा मांगने का विधान है ऐसा न मान ले इसी कारण उपवास के तुल्य फल देने वाली भिक्षावृत्ति मानना ठीक है ॥ १८८ ॥

„भिक्षा मांग कर खाना न परान्न, न दान लेना है अर्थात् परान्न भोजन और दान लेने के दोष भिक्षा में नहीं हैं किन्तु सोम नामक ओषधिपान के तुल्य भिक्षा भोजन है इस कारण भिक्षा से निर्वाह करे ॥ १ ॥ शास्त्र की आज्ञानुसार शुद्ध तथा जल से धने और होम से पवित्र की भिक्षा के ग्रास बड़े यज्ञों के तुल्य हैं" ये दो श्लोक किन्हीं पुस्तकों में १८८ से आगे लिखे हैं किन्हीं लोगों की सम्मति है कि ये मूल के श्लोक हैं। इन में केवल अर्थवाद कहा है ॥

व्रतवद्देवदैवत्ये पित्र्ये कर्मण्यथर्षिवत् ।
काममभ्यर्थितोऽश्नीयाद् व्रतमस्य न लुप्यते॥

अ०-उक्तविधेर्विशिष्टांशेऽपवादोयम् । देवाएव देवता यस्य तद्देवदैवत्यं कर्म तस्मिन्देवतोद्देशेन क्रियमाणे दर्शपौर्णमासादियज्ञाङ्गे ब्राह्मणभोजनेऽभ्यर्थितो निमन्त्रितो व्रतवन्मधुमांसादिवर्जितमन्नं पित्र्ये कर्मणि पितृयज्ञाङ्गभोजने ऋषिवत्फलमूलमुन्यन्नाशनवत्कामं यथेष्टं निःशङ्कमश्नीयादेवमेकान्नाशनेऽस्य व्रतिनो व्रतं न लुप्यते ॥

भा०-देवकर्मणि पितृयज्ञे वा भोजनादिना सत्कार्याः पङ्क्तिपावना यादृशाः सुपात्रा ब्राह्मणास्तृतीयाध्यायेऽपेक्षितास्तादृशा ब्रह्मचारिभ्यऋते काठिन्येन कदाचिदेवोपलब्धुमर्हन्ति । तत्रान्याभावे भावे वा ब्रह्मचारिणोपि भोज्याः । अत्र व्रतवदृषिवत्पदाभ्यामौदरिकवदधिकभोजनमभक्ष्यभक्षणादिकं च सर्वं नियमितमेव भोज्यमिति प्रदर्शितम् ॥१८९॥

भाषार्थः—पूर्वोक्त भिक्षाविधि का विशेषांश में यह अपवाद कहा है कि (देवदैवत्ये) सूर्य चन्द्रमादि देव ही जिस के देवता हैं उन देवतों के उद्देश से ही किये जाने वाले दर्शेष्टि वा पौर्णमासेष्टि यज्ञ के अङ्गरूप ब्रह्मभोज में (अभ्यर्थितः) निमन्त्रित किया ब्रह्मचारी (व्रतवत्) मधु मांसादि वर्जित शुद्ध सात्त्विक पक्वान्न (अथ) और (पित्र्ये) पितृदेवता वाले श्राद्ध भोजन (कर्मणि) कर्म में (ऋषिवत्) फल मूलादि मुन्यन्न भोजन के तुल्य (कामम्) यथेष्ट अधर्म की शङ्का न रख के (अश्नीयात्) भोजन करे इस प्रकार एक घर का अन्न खाने में (अस्य) इस ब्रह्मचारी के (व्रतम्) व्रत का (न, लुप्यते) लोप नहीं होता ॥

भा०-देवकर्म होम वा पितृकर्म श्राद्ध में भोजनादि से सत्कार करने योग्य पङ्क्तिपावन जैसे सुपात्र ब्राह्मण तृतीयाध्याय में कहे हैं वैसे ब्रह्मचारियों से भिन्न कदाचित् कठिनता से वा कम मिल सकते हैं वहां अन्यों के न मिलने वा मिलने पर ब्रह्मचारियों को भी भोजन कराना चाहिये । यहां व्रतवत् पद से उदरम्भर

के तुल्य अधिक भोजनादि और ऋषिवत् पद मे अभक्ष्य भक्षणादि का निषेध किया है इस से नियमानुकूल भोजन का विधान जानो ॥ १८९ ॥

ब्राह्मणस्यैव कर्मैतदुपदिष्टं मनीषिभिः ।
राजन्यवैश्ययोस्त्वेवं नैतत्कर्म विधीयते १९०

अ०—एतत्कर्म देवयज्ञे पितृयज्ञे वा निमन्त्रणानन्तरं भोजनं कर्म मनीषिभिर्विचारशीलैः पूर्वजैर्वेदाशयज्ञैर्ब्राह्मणस्यैव ब्रह्मचारिणः उपदिष्टम् । राजन्यवैश्ययोस्तु ब्रह्मचारिणोर्गृहिणोर्वा एतत्कर्म नैवं विधीयते ॥

भा०—अध्यापनं याजनं प्रतिग्रहश्चेति कर्मत्रयं सर्वत्र धर्मशास्त्रे ब्राह्मणस्यैवाभिमतम् । अत्र च वर्णत्रयब्रह्मचारिणां भिक्षाविधानप्रसङ्गादेकान्नापवादे निमन्त्रितभोजनेऽपि सर्वेषां ग्रहणं प्राप्तमिति क्षत्रियवैश्ययोस्तत्प्रतिषिध्यते । निमन्त्रणे भोजनमपि प्रतिग्रहान्तर्गतमेव विज्ञेयम् ॥१९०॥

भाषार्थः—(एतत्, कर्म) यह देवयज्ञ वा पितृयज्ञ में निमन्त्रण देने पर भोजन करना कर्म (मनीषिभिः) विचारशील पूर्वज वेद वेत्ता विद्वानों ने (ब्राह्मणस्यैवोपदिष्टम्) ब्राह्मण ब्रह्मचारी वा गृहस्थ के लिये ही उपदेश किया है (तु) और (राजन्यवैश्ययोः) क्षत्रिय वैश्य ब्रह्मचारी वा गृहस्थों के लिये (एव, नैतत्कर्म, विधीयते) इस प्रकार निमन्त्रण खाना यह कर्म विधान नहीं किया ॥

भा०—पढ़ाना, यज्ञ कराना और दान लेना ये तीनों काम सर्वत्र धर्मशास्त्रों में ब्राह्मण के ही माने हैं । और यहां तीनों वर्ण के ब्रह्मचारियों को भिक्षा विधान का प्रसङ्ग होने से एकान्न भोजन के अपवाद निमन्त्रण में सब ब्रह्मचारियों को भोजन प्राप्त है सो क्षत्रिय और वैश्य ब्रह्मचारी को उस का निषेध है निमन्त्रण में भोजन करना भी दान लेने के अन्तर्गत है ॥ १९० ॥

चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा ।
कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च १९१ ॥

अ०-गुरुणा प्रेरितोऽप्रेरितो वा गुरुमुखादधीतेऽभ्यासार्थं नवाध्ययने च नित्यमाचार्यस्य हितेषु सेवाकर्मसु च यत्नं कुर्यात् ॥

भा०-योऽप्रेरितः स्वयमेव नित्यं कर्माचरति सएवोत्तमः शिष्य आज्ञया कुर्वाणो मध्यम आज्ञप्तोऽपि यो न करोति स निकृष्टः । यदि गुरुर्विस्मरेत्तदा तदध्ययनादि कर्मापि कर्त्तव्यं न स्यादिति मन्यमानोऽप्यधम एव । तस्माद्धेतुतोऽपि यत्कर्माचार्यहितकरं प्रतीयेत तत्राध्ययने च सदैवोद्योगवान्भवेत् ॥१९१॥

भाषार्थः-(गुरुणा) गुरु के (चोदितः) कहने (वा) अथवा (अप्रचोदितएव) न कहने पर ही (अध्ययने) गुरुमुख से पढ़े पाठ को याद करने वा नया पाठ पढ़ने (च) और (आचार्यस्य) गुरु के (हितेषु) हितकारी सेवादि कर्म करने में (नित्यम्) नित्य (यत्नम्) प्रयत्न परिश्रम (कुर्यात्) करता रहे ॥

भा०-जो विना प्रेरणा किये स्वयमेव नित्य अपना कर्त्तव्य काम करता वही उत्तम शिष्य, आज्ञापाकर करने वाला मध्यम और आज्ञा देने पर भी जो नहीं करता वह निकृष्ट है । यदि गुरु जी भूल जावें तो वह पढ़नादि काम भी करने न पड़े ऐसा मानता हुआ शिष्य भी अधम ही है । इस कारण हेतु से भी जो काम आचार्य का हितकारी प्रतीत हो उस में और नैत्यक अध्ययन में सदा उद्योगी होना चाहिये ॥ १९१ ॥

शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च ।
नियम्यप्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणोगुरोर्मुखम् ॥

अ०-कुतश्चिदागतो ब्रह्मचारी विषयान्तरासक्ते गुरौ गुरोर्मुखं वीक्षमाणः शरीरं वाचं बुद्धीन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि मनश्च नियम्य प्राञ्जलिर्बद्धाञ्जलिस्तिष्ठेन्न वदेन्न देहेन्द्रियाणि चालयेत् ॥

सूचना ॥

सब महाशयों को विदित हो कि मनुस्मृति की भूमिका ११ अङ्कों में समाप्त हुई थी इस कारण पहिले भाग के १२ बारहों अङ्क पूरे करने के लिये मूलभाष्य में १ अङ्क बारहवां करने पड़ा था इस कारण अङ्क की संख्या का हिसाब नये ग्राहकों के साथ करने में अड़चल पड़ती है इस विषमता वा झगड़े को समाप्त करने के लिये इस बार एक अङ्क मात्र ३२ पृष्ट का निकाला है आगे भाग ३ का १।२ अङ्क साथ निकले गा। विचार है कि आगे प्रति मास मनु के दो अङ्क निकाला करें जिससे मनु शीघ्र समाप्त हो आशा है कि ईश्वर इस मनोरथ को पूर्ण करेगा।

द्वितीय निवेदन यह है कि जो महापुराने ग्राहक हैं वे पूरा पुस्तक लेने का सङ्कल्प रक्खें वास्तव में मनुस्मृति के समान मनुष्य को सत्य मार्ग बतलाने वाला वेद से भिन्न अन्य कोई पुस्तक नहीं है। बीच से लेना छोड़ कर इस विद्यारत्न से वंचित न रहें ? दोनों की हानि है। आपने जितना लिया वह खण्डित व्यर्थ हुआ और छापेखाने में भी पुस्तक खण्डित होते हैं इसलिये यदि कोई महाशय किसी कारण बन्द भी करना चाहें तो जितने अङ्क लिये हों वे सब लौटा देवें यदि कुछ अधिक दाम आचुका हो तो उस में कोई अन्य पुस्तक मंगालें वा यह भी न चाहें तो दाम भी यहां से लौटाया जा सकता है।

आप का भीमसेन शर्मा
सम्पादक मानवधर्ममीमांसा
इटावा

ओ३म् ॥ विदित हो कि २१ । २ । ९६ से पं० भीमसेन शर्मा, सरस्वतीयन्त्रालय और श्रीमद्दयानन्द विश्वविद्यालय पाठशाला प्रयाग छोड़ कर नगर इटावा (पश्चिमोत्तर देश) में चले आये हैं इस लिये उक्त पं० जी वा यन्त्रालय वा पाठशाला के सम्बन्ध में जो महाशय पत्र व्यवहार करें वे सब स्मरण रख कर प्रयाग न लिखा करें किन्तु इटावा (पश्चिमोत्तरदेश) करें। और यह भी प्रार्थना है कि श्रीमद्द० विश्ववि० को अब अधिक उन्नत करना चाहते हैं विशेषकर नियत करने की बड़ी आवश्यकता है। इटावा ठशाला के लिये मासिक चन्दे का रजिस्टर किन्हीं महाशयों ने मासिक चन्दा नियत शा है कि आगे और भी चन्दा बढ़ हितैषी सज्जनों से भी प्रार्थना है कि ओर पूर्व की अपेक्षा अब अधिक जो पण्डितों तथा उपदेशकों की वा न्यूनता के कारण जो वै- वह शनैः२ पाठशाला द्वारा होने से निवृत्त होकर तक इस पाठशाला देनेमात्र की सहा है कोई वेतन मसेन शर्मा र्थियों को किये नहीं

पं० भीमसेन शर्मा सरस्वतीयन्त्रालय और पाठशाला इन सब का पता प्रयाग न लिखा करें किन्तु "इटावा" लिखा करें।

लिखा
पाठशाला
एक अध्यापक
आकर इस पा-
भी खोला गया है
कर दिया है और आ-
जायगा । बाहर के धर्म
वह लोग इस पाठशाला की
कृपादृष्टि करें तो चारों ओर से
मांग है और पण्डितों के अभाव
दिक धर्म की उन्नति में बाधा है
पण्डित उपदेशक अध्यापक तैयार
धर्म के प्रचार में सहायता होगी अब
में जो छात्र रहते हैं उन को भोजनादि
यता धन की न्यूनता के कारण होती रही
पाने वाला अध्यापक नहींरहा केवल पं० भी-
ही अपने कार्यों में से समय निकाल कर विद्या-
भी पढ़ाते रहे आप जानते हैं कि उन के आरम्भ
कार्य भी समयाभाव तथा अस्वास्थ्य के कारण यथासमय
हुये अतः एक अध्यापक के लिये चन्दे की आवश्यकता है
आशा है कि इस ओर ध्यान दीजिये गा ।

तुलसी राम स्वामी

॥ ओ३म् ॥

मानवधर्मशास्त्रम् ॥

भीमसेनशर्म्मणा लोकोपकारमत्या सम्पादितया

मानवधर्ममीमांसाभिधव्याख्ययोपेतम् ।

संस्कृतभाषया लोकभाषया च व्याख्यातम् ॥

३ भागे } ॥ मासिकपत्रम् ॥ { १ । २ खण्डः

सज्जनानां साहाय्येन स्वीयसरस्वतीयन्त्रालये

मुद्रापयित्वा प्रकाशितम् ॥

इटावा

१९ जून, सन् १८९६ ईस्वी, संवत् १९५३ अधिक ज्येष्ठ

इस की रजिष्टरी कराई गयी है किसी को छापने का अधिकार नहीं ॥

अग्रिम वार्षिक मूल्य २) पश्चात् २॥)

प्रथमवार १५०० मूल्य प्रतिखण्डत्रय ।≡)

मूल्यप्राप्तिस्वीकार ॥

२१ मार्च से १२ जून ९६ तक

५३८ श्री गंगासहायजी–हीरानगला २)
३४ श्री मूलचन्द्र जी–अलीगढ़ २)
६६४ श्री उमरावसिंह जी लुधियाना २)
६६७ सूर्य्यकुमार वर्मा विद्यार्थी इटावा ॥)
२७९ पं० गंगाप्रसाद जी गोहाटी २)
५१७ पं० प्रभाशंकररत्न शर्म्मा हलवद ४)
६६५ श्री राजबहादुर साहब रायपुर ४)
४७३ श्री खुशीराम जी फीरोजपुर २)
२९८ श्री टीकाराम जी कासगंज २)
३६० पं० बालकृष्ण जी बावन २)
५७ खूबचन्द जी बुधौलिया कौड़िया २)
३६७ ज्वालाप्रसाद जी मुरादाबाद २)
३६८ श्री बाबूलाल जी सहारनपुर २)
६८ श्री कल्लूमल जी लैंसडौन पहाड़ २)
४४९ श्री मोहनलाल जी भारौल २)
६३ बाबा जी फकीर हड़कर किरांची २)
५७५ श्री डा० रामलगनसिंह सिहोरा २)
३८ श्री कृष्णसिंह जी भोजपुर २)
५४ कृष्णचन्द्र जी ओ० व० पेशावर ६।)॥
२९२॥ पं० तिलोकचन्द शर्मा सोरहा २)
४८४ श्री जगन्नाथप्रसाद जी कोटा २)
३२ श्री रामसहाय जी बान्दीकुई २)
२८ श्री गणपतिराव जी निम्बाहेड़ा २)
६६९ श्री सो० वा० तलपदे मुम्बई ४)
६३४ नन्दराम मुन्नालाल जी मुरसान २)
६६८ श्री गोकुलसिंह जी बकानी २)
३५ पं० रामदत्त जोशी नयनीताल २)
७८ बा० मक्खनलाल जी घुमराना २)
६२२ लैसनायक साहिबा नोशहरा २)
५०३ पं० भगवानसहाय कासगंज १)
७०० श्री गुलाबसिंह जबलपुर २)
७०१ श्री मुंशीराम जी मुकेरियां ४)
१५६ श्री मल्लादरजी पुष्कर २)
२६४ मूल जी गोविन्दराम सायण २)
११७ हकीम रेवतीवल्लभ अनूपशहर २)
७०४ सतीचरणराव जी कलकत्ता ४≡)
२१५ श्री गोवर्द्धनलाल जी जयपुर २)
७०५ लालताप्रसाद सराय प्रयाग २)
७०६ श्री जनकसिंह जी राजधानी धर्मजयगढ़ २)
५७२ श्री द्वारिकाप्रसाद जी दिहली २)
६३१ जानकीप्रसाद जी कुम्भराज २)
४१२ श्री माधोराम जी बदायूं २)
३४८ श्री सर्वसुखराय जी प्रयाग २)
५४२ श्री बद्रीप्रसाद मुबारकपुर ४)
७०३ श्री चिरौंजीलाल शिकोहाबाद २)
२४४ जीवनसिंह वर्म्मा देहरादून १॥=)

भा०—एतच्च सर्वं गुरोः पूजनं शुश्रूषणमपि शिष्यस्य विनयसूचकं हृदये भक्तिद्योतकं च कर्म बोध्यम् ॥१९२॥

भाषार्थः—कहीं से आया ब्रह्मचारी, गुरु किसी अन्य काम वा विचार में लगे हों तो (शरीरम्) शरीर हाथ पांव आदि (वाचम्) वाणी (च) और (बुद्धीन्द्रियमनांसि) ज्ञानेन्द्रियों तथा मन को (नियम्य) वश में रख के (गुरोर्मुखं वीक्षमाणः) गुरु के मुख को देखता हुआ (प्राञ्जलिः) हाथ जोड़कर (तिष्ठेत्) बैठा वा खड़ा रहे अर्थात् न कुछ कहे न शरीर वा इन्द्रियों को इधर उधर चलावे ॥

भा०—यह सब गुरु की पूजा वा शुश्रूषा करना भी शिष्य की नम्रता और भक्ति को जताने के लिये है ॥ १९२ ॥

नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात्साध्वाचारः सुसंयतः
आस्यतामिति चोक्तः सन्नासीताभिमुखं गुरोः

अ०—आच्छादितवस्त्रान्निस्सारितदक्षिणहस्तः साधवनिन्द्यवाग्व्यापारादिरतः सुसंयतोऽचपलचित्तश्च शिष्योगुरुसमीपे निवसन् नित्यमेव स्यान्नतु कुतश्चिदागमनकालेऽध्ययनकालएव वा । आहूतः स्वयमागतो वा पूर्वोक्तवत्तिष्ठेदास्यतामिति गुरुणोक्तः संश्च गुरोरभिमुखमासीत ॥

भा०—दक्षिणं पाणिमुद्धरेदिति वक्ष्यति तस्मादत्रापि दक्षिणहस्तस्यैवोद्धरणं संगतम् । देहेन्द्रियादिभिः कुत्सितचेष्टा सदैव त्याज्या ॥ १९३ ॥

भाषार्थः—शिष्य, गुरु के समीप बसता हुआ गुरु के निकट होते (उद्धृतपाणिः) पहिने हुए वस्त्रादि से दहिने हाथ को सदा बाहर निकाले रहे कि गुरु हाथ से कोई काम करने की आज्ञा करें तो हाथ निकालने भी न पड़े तत्काल काम करे (साध्वाचारः) वाणी आदि इन्द्रियों से सदा श्रेष्ठ आचरण करे और (नित्यम्) सदा (सुसंयतः) मन की चपलता को छोड़ता ही (स्यात्) रहे इस प्रकार का आचरण गुरु के कहीं से आने पर वा पाठ के ही समय करे

सो नहीं किन्तु गुरु के निकट होते सदा ऐसा ही वर्त्ते । गुरु के बुलाने पर वा स्वयं गुरु के पास आया शिष्य पूर्वोक्त प्रकार खड़ा रहे बिना आज्ञा बैठे नहीं (आस्यतामिति चोक्तः सन्) और जब गुरु आज्ञा दें कि बैठो तो (गुरोरभिमुखमासीत) गुरु के सम्मुख बैठ जावे किन्तु पीठ दे कर न बैठे ॥

भा०—अनेक अच्छे कामों में दहिने हाथ से काम लेना चाहिये यह आगे कहेंगे तदनुसार यहां गुरु के समीप भी दहिने हाथ से ही काम करे और शरीर इन्द्रिय तथा मन से होने वाली निन्दित चेष्टा का सदा त्याग करे ॥ १९३ ॥

हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरुसंनिधौ ।
उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत् १९४

अ०—शिष्यो गुरुसन्निधौ सर्वदा गुर्वपेक्षया हीनान्नभोजी हीनवस्त्रधारी हीनवेषश्च स्यात् । ब्राह्ममुहूर्त्ते प्रबोधकाले कार्यार्थं कदाप्युत्थानकाले वाऽस्य गुरोः प्रथमं पूर्वमुत्तिष्ठेत् । शयनावसरे कुतोऽप्यागत्य निवेशावसरे वा चरमं गुरोः पश्चात् शयीत निविशेत वा ॥

भा०—हीनान्नभोजनादिना गुरोर्महत्त्वं रक्ष्यते उत्कृष्टभोजनादिना च गुरोरपमानं जायते तस्मात्तथा न कार्यम् ॥

भाषार्थः—शिष्य (गुरुसन्निधौ) गुरु के समीप (सर्वदा) सब काल में गुरु की अपेक्षा (हीनान्नवस्त्रवेषः) साधारण अन्न खाने निकृष्ट वस्त्र पहिनने और साधारण वेष धारण करने वाला (स्यात्) हो किन्तु गुरु के बराबर वा गुरु से बढ़ कर न अन्न खावे न वस्त्र धारे और न वेष बनावे (उत्तिष्ठेत् प्रथमं चास्य) प्रातःकाल जागने के समय वा किसी कार्यार्थ गुरु उठना चाहते हों तो गुरु से पहिले उठकर खड़ा हो जावे और सोने वा बैठने के समय (चरमं चैव संविशेत्) गुरु से पीछे सोवे वा बैठे ॥

भा०—गुरु से निकृष्ट भोजनादि करने से गुरु के मान महत्त्व की रक्षा और गुरु से बढ़ के भोजनादि करने से गुरु का अपमान होता है इस से वैसा न करना चाहिये ॥ १९४ ॥

प्रतिश्रवणसम्भाषे शयानो न समाचरेत् ।
नासीनो न च भुञ्जानो न तिष्ठन्न पराङ्मुखः ॥

अ०—शयान आसीनो भुञ्जानस्तिष्ठन्पराङ्मुखश्च शिष्यो गुरोराज्ञायाःप्रतिश्रवणमाकर्णनमुत्तरप्रत्युत्तररूपंसम्भाषणं च न समाचरेन्न कुर्यात् ॥

भा०—तिष्ठन्नित्यत्र दूरतइति संयोज्यम् । शयनादिभ्य उत्थाय दूरतः पराङ्मुखतो वा सन्निकृष्टः सम्मुखो बद्धाञ्जलिस्तिष्ठन्नाज्ञां पालयेत्सम्भाषणं वा कुर्यादित्थं भक्तिः प्रतीयते ॥ १९५ ॥

भाषार्थः—(शयानः) लेटा (आसीनः) बैठा (भुञ्जानः) भोजन करता हुआ (तिष्ठन्) खड़ा और (पराङ्मुखः) दूसरी ओर मुख किया शिष्य गुरु की आज्ञा का (प्रतिश्रवणसम्भाषे) स्वीकार तथा गुरु से उत्तर प्रत्युत्तररूप सम्भाषण (न, समाचरेत्) न करे ॥

भा०—खड़ा हुआ भी गुरु की आज्ञा का श्रवण वा सम्भाषण न करे यहां दूर खड़ा हो कर न करने का निषेध है किन्तु समीप खड़ा हो कर सुने वा कहे यह अभिप्राय है। शयनादि से उठ कर, दूर से समीप आ और पराङ्मुख से सम्मुख हो कर हाथ जोड़ खड़ा रह के गुरु की आज्ञा पालन का स्वीकार वा उन से सम्भाषण करे इस प्रकार करने से भक्ति प्रतीत होती है ॥ १९५ ॥

आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः।
प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्धावंस्तु धावतः ॥
पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैत्य चान्तिकम्
प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः ॥१९७॥

अ०—आसीनस्य गुरोः स्थितः शिष्यस्तिष्ठतो गुरोरभिमुखं गच्छन्नाव्रजत आगच्छतो गुरोः प्रत्युद्गम्य सद्यः सम्मु-

खमागत्य सद्यःसाध्यकार्याय धावतस्तु गुरोर्धावन् पराङ्मुखस्य गुरोरभिमुखो भूत्वा दूरस्थस्य गुरोश्चान्तिकमेत्यागत्य शयानस्य निदेशे निकटे तिष्ठतश्च गुरोः प्रणम्य हस्ताद्यङ्गान्यवनमय्य प्रतिश्रवणसम्भाषे समाचरेत् ॥

भा०—पूर्वोक्तविधेरयं शेषस्तयैव क्रिययाऽस्य समन्वयश्च बोध्य इत्थं प्रतिश्रवणसम्भाषे समाचरेदिति ॥ १९६ । १९७ ॥

भाषार्थः—(आसीनस्य) गुरु बैठे हों तो (स्थितः) शिष्य खड़ा हो कर (तिष्ठतः) गुरु खड़े हों (तु) तो (अभिगच्छन्) सम्मुख जा कर (आव्रजतः) गुरु अपनी ओर आते हों (तु) तो (प्रत्युद्गम्य) शीघ्र उन की ओर जा कर और (धावतः) गुरु किसी विशेष कार्य से दौड़ते जाते हों (तु) तो (पश्चात् धावन्) उन के पीछे दौड़ता हुआ (पराङ्मुखस्य) गुरु दूसरी ओर मुख करें हों तो (अभिमुखः) सम्मुख हो (च) और (दूरस्थस्य) दूर खड़े हों तो (अन्तिकम्) समीप (एत्य) आकर (शयानस्य) सोते हों (च) और (निदेशे) समीप में (तिष्ठतः) खड़े हों तो उन को (प्रणम्य) प्रणाम कर हाथ आदि अङ्गों से नम्रता दिखा कर शिष्य गुरु की आज्ञा का स्वीकार और उन से सम्भाषण (कुर्यात्) करे ॥

भा०—पूर्व श्लोक में कही विधि का यह शेष है इस से उसी के साथ इन दोनों का अन्वय जानो कि गुरु के सम्बन्ध में इस प्रकार प्रतिश्रवण और सम्भाषण करे ॥ १९६ । १९७ ॥

नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसंनिधौ ।
गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत् १९८

अ०—अस्य शिष्यस्य गुरुसन्निधौ सर्वदा समावर्त्तनावधि पाण्डित्ये प्राप्तेऽपि गुरुशय्यासनापेक्षया नीचमल्पमूल्यमनुच्छ्रितं च शय्यासनं भवेत् गुरोश्चक्षुर्विषये सम्मुखे शिष्यो यथेष्टासनो न भवेत् ॥

भा०—गुरुसम्मुखे शिष्यो गुर्वपेक्षयोत्तमशयन आसने च पादप्रसारादिस्वातन्त्र्येण न शयीतासीत वाऽपितु निकृष्टशय्यासने संकुचितः शयीतासीत वा परोक्षे तु कामचारः ॥

भाषार्थः—(अस्य) इस शिष्य का (गुरुसन्निधौ) गुरु के समीप में (सर्वदा) समावर्त्तन होने तक पढ़ के पण्डित हो जाने पर भी गुरु के शय्या विस्तरादि की अपेक्षा (नीचं,शय्यासनं,च) थोड़े मूल्य का और नीचा शय्या विस्तर आसनादि होना चाहिये (तु) और (गुरोश्चक्षुर्विषये) गुरु के सामने शिष्य (यथेष्टासनः) यथेष्ट आसन लगा वा बिछौना बिछा कर बैठने वाला (न भवेत्) न हो ॥

भा०—गुरु के सामने शिष्य गुरु की अपेक्षा उत्तम आसन वा शय्या पर पग पसारने आदि स्वतन्त्रता से न बैठे किन्तु गुरु से नीची शय्या वा आसन पर संकोच के साथ लेटे वा बैठे और गुरु से परोक्ष में अपनी इच्छानुसार बैठे लेटे ॥१९८॥

नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम् ।
नचैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम् १९९

अ०—अस्य गुरोः केवलं नाम परोक्षमपि नोदाहरेदपि शब्दात्प्रत्यक्षं तु नोदाहरेदेव । तथास्य गुरोर्गमनभाषणचेष्टनस्यानुकरणमपि न कदापि परोक्षमपि कुर्यात् ॥

भा०—श्रीमद्भगवत्पूज्यपादाचार्यविद्यासागरादिशब्दानादरसूचकान्नान्नः पूर्वं प्रयुज्यावश्यं नामप्रयोगावसरे नामोच्चारणं शिष्येण कार्यम् । गमनाद्यनुकरणं तु न कदापि कार्यम् । एवं सति ये "आत्मनाम गुरोर्नामे०" त्यादिना सर्वथैव नामग्रहणप्रतिषेधमिच्छन्ति तेषां गतिः शोच्या । अस्य पद्यस्याग्रे " परोक्षं सत्क्रियापूर्वं प्रत्यक्षं न कथंचन । दुष्टानुचारी च गुरोरिह वामुत्रचेत्यधः ॥ १ ॥" अयं श्लोकः क्वचिदुपलभ्यते ॥ १९९ ॥

भाषार्थः—(अस्य) इस गुरु के (केवलम्) विना किसी प्रशंसावाचक शब्द के लगाये खाली (नाम) नाम को (परोक्षमपि) गुरु के पीछे भी (नोदाहरेत्)

उच्चारण न करे किन्तु प्रत्यक्ष गुरु के सामने तो कभी नाम कैसे ही नहीं लेवे। तथा (अस्य) इस गुरु के (गतिभाषितचेष्टितम्) गमन भाषण और हाथ आदि चलाने का (नानुकुर्वीत) अनुकरण [नकल] परोक्ष में भी न करे ॥

भा०-श्रीमत्, भगवत्, पूज्यपाद, आचार्य, विद्यासागर, इत्यादि प्रशंसा वा आदर सूचक शब्दों को गुरु के नाम से पूर्व बोल कर नामोच्चारण की आवश्यकता के समय गुरु का नाम शिष्य को लेना चाहिये। परन्तु गुरु के चलने आदि की नकल तो कभी न करे। इस दशा में जो लोग कहते हैं कि "अपना गुरु का वा अपनी स्त्री आदि का नाम कभी लेना ही नहीं चाहिये" उन का विचार शास्त्र के अनुकूल कैसे होगा सो विचारणीय है। इस १९९ श्लोक से आगे "परोक्षसत्क्रियापूर्व० " इत्यादि श्लोक किन्हीं पुस्तकों में लिखा है कि " परोक्ष में सत्कार पूर्वक नाम ले और प्रत्यक्ष में कैसे ही गुरु का नाम न लेवे। ऐसा न करने वाला शिष्य दुष्टानुचारी नीच गति को प्राप्त होता है" ॥ १९९ ॥

गुरोर्यत्र परीवादो निन्दावापि प्रवर्त्तते।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः॥

अ०-यत्र क्वापि गुरोः परीवादः सम्भाव्यानुमेयदोषाभिधानं निन्दाऽसद्दोषाभिधानं च प्रवर्त्तते तत्र शिष्येण कर्णौ पिधातव्यौ ततोऽन्यतोऽन्यप्रदेशे वा गन्तव्यम् ॥

भा०-इच्छया विना गुरोः परीवादादिश्रोतुमशक्यम्। स्वेच्छाविरुद्धे कार्ये स्वतएव प्रवृत्तिर्न दृश्यते। इच्छया च यः शृणोति सोऽपि परीवादको निन्दकश्च भवत्येव। यदि कथमपि निरुद्धोऽन्यत्र गन्तुमशक्तः परवशतया शृणुयान्न तदादोषभाग्भवति तस्मात्परीवादादौ सम्मिलितो न स्यात्, गुरोः परीवादादेः सदैव दूरे स्थातव्यमित्याशयः ॥ २०० ॥

भाषार्थः—(यत्र) जहां कहीं (गुरोः) गुरु के (परीवादः) सम्भव वा अनुमेय दोष द्वेष दृष्टि से कहे जाते हों (अपि, वा) अथवा (निन्दा) जो दोष उस में नहीं हैं उन का (प्रवर्त्तते) आरोपण वा निरूपण होता हो (तत्र) वहां शिष्य को (कर्णौ, पिधातव्यौ) कानों में अंगुली वा अन्य वस्त्रादि लगा

लेना चाहिये कानों के छिन्द्रों को कैसे ही दबा लेवे जिस से गुरु की बुराई न सुन पड़े (वा) अथवा (ततोऽन्यतः) वहां से अन्यत्र कहीं (गन्तव्यम्) चला जावे गुरु की निन्दा अपने कानों से कदापि न सुने ॥

भा०—इच्छा के विना गुरु की निन्दादि शिष्य नहीं सुन सकता और किसी कारण कुछ सुन भी ले तो वह वैसा अपराध नहीं है। क्योंकि अपनी इच्छा से विरुद्ध कार्य में मनुष्य की स्वयमेव प्रवृत्ति नहीं दीखती और इच्छा पूर्वक जो सुनता है वह भी परिवादक वा निन्दक होता ही है। यदि किसी प्रकार विशेष रुकावट से अन्यत्र नहीं जा सकता परवश हो निन्दा सुननें ही पड़ती है तो वह दोषभागी नहीं है। गुरु की निन्दादि में सम्मिलित न हो गुरु की निन्दादि से सदा ही दूर रहना चाहिये ॥ २०० ॥

परीवादात्खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः।
परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी २०१

अ०—परीवादादिच्छया परीवादं श्रुत्वा परीवादकसहचरो भूत्वा स्वयं कृत्वा वा शिष्यो जन्मान्तरे खरो भवति निन्दकः श्वा वै भवति। चौर्येणान्यप्रकारेण वा गुरोरुत्कृष्टवस्तूनां परिभोक्ता कृमिर्भवति मत्सरी गुरोरुत्कर्षासहिष्णुश्च कीटो भवति ॥

भा०—पूर्वोक्तविधेः परिकल्प्यविधेश्चार्थवादोयम्। अत्र निन्दकइति कथनादेवावगम्यते नहि श्रवणमात्राच्छिष्यः पापभाग्भवत्यपितु तत्सहचारित्वेन सोऽपि परिवादको निन्दकश्च भवत्येव प्रायेणाधिकपरिवादादेः फलमिदम्। यदि कदाचित्परिवादादिकं शृणोति करोति वा तस्याल्पमेव किमपि निकृष्टफलं सम्भाव्यम्। परीवादादिशीलस्येदं फलमभिहितं बोध्यम् न्यूनाधिके च यथापराधम् ॥ २०१ ॥

भाषार्थः—(परीवादात्) इच्छा पूर्वक गुरु के परिवाद को सुन परिवादक का सहचारी हो वा स्वयं परिवाद कर के शिष्य जन्मान्तर में (खरः, भवति)

गधे की योनि में जन्म लेता (निन्दकः) इच्छा पूर्वक गुरु की निन्दा सुनने वा करने वाला शिष्य (श्वा) कुत्ता (वै, भवति) होता हो है । चुरा कर वा अन्य प्रकार से गुरु के उत्तम पदार्थों का (परिभोक्ता) निरन्तर भोग करने वाला शिष्य (कृमिः, भवति) जन्मान्तर में कृमि होता और (मत्सरी) गुरु के उत्कर्ष को न सहने वाला ईर्ष्यक शिष्य (कीटो भवति) कीटयोनि पाता है ॥

भा०-पूर्वोक्त विधि वा (गुरु के उत्तम पदार्थों से स्वयं भोग तथा गुरु के साथ ईर्ष्या मत्सरता न करे) इस कल्पनीय विधि का यह अर्थवाद है । यहां निन्दक शब्द के कहने से ही प्रतीत होता है कि श्रवणमात्र से शिष्य पापी नहीं होता किन्तु निन्दक का साथी होने से वह शिष्य भी परिवादक वा निन्दक हो जाता है । प्रायः अधिक परिवाद वा निन्दा का यह फल है । यदि कभी २ निन्दादि सुनता वा करता है तो उस का थोड़ा ही कुछ निकृष्ट फल होना सम्भव है । और निन्दा के स्वभाव वाले का यह फल है न्यूनाधिक अपराध में अपराधानुकूल फल समझना चाहिये ॥ २०१ ॥

दूरस्थो नार्चयेदेनं न क्रुद्धो नान्तिके स्त्रियाः ।
यानासनस्थश्चैवैनमवरुह्याभिवादयेत् ॥२०२॥

अ०-शिष्य एनं गुरुमभिवादादिना दूरस्थः क्रुद्धः स्त्रिया अन्तिके विद्यमानं वा नार्चयेत् । यानस्थआसनस्थश्च ततोऽवरुह्योत्तीर्यैनमभिवादयेदर्चयेत् ॥

भा०-पूर्वं दूरस्थस्येति चान्तिकमित्यागतएव दूरस्थेनाभिवादननिषेधस्तस्माद्दूरस्थ आलस्येनागन्तुमनिच्छन्नन्यशिष्यमुखेनाभिवादननिषेधः । ग्रामान्तरं देशान्तरं वागतस्तु परमुखेन पत्रद्वारेण वाप्यभिवादनं कुर्यान्न तत्र दोषः । यानासनस्थेनाभिवादने कृते गुरोस्तिरस्कारः कथमपि भवति तस्मात्तथा न कुर्यात् ॥ २०२ ॥

भाषार्थः-(दूरस्थः) दूर से वा (क्रुद्धः) क्रोधित हुआ शिष्य (एनम्) इस गुरु का (नार्चयेत्) पूजन वा आदर न करे और (नान्तिके स्त्रियाः) गुरु स्त्री के

समीप हों तो भी अभिवादनादि करने न जावे । और (यानासनस्थश्चैव) किसी यान सवारी वा आसन पर बैठा शिष्य (अवरुह्य) वहां से उतर वा उठ के (एनम्) इस गुरु को पास आकर (अभिवादयेत्) अभिवादन करे ॥

भा०—पूर्व श्लोक में दूर हो तो पास आकर अभिवादन करे यहां दूर से अभिवादन का निषेध आ ही चुका है। इस से दूर ही तो आलस्य से आने की इच्छा न होने पर अन्य शिष्य के द्वारा अभिवादन कहलाने का निषेध इस में है । और यदि गुरु की आज्ञानुसार ग्रामान्तर वा देशान्तर में गया हो तो अन्य के मुख से वा पत्रद्वारा अभिवादन भले ही करे उस में कोई दोष नहीं है । किसी सवारी वा आसन पर बैठ के अभिवादन करने पर किसी प्रकार गुरु का तिरस्कार होता है इस से वैसा न करे ॥ २०२ ॥

प्रतिवातेऽनुवाते च नासीत गुरुणा सह ।
असंश्रवे चैव गुरोर्न किञ्चिदपि कीर्त्तयेत् २०३

अ०—प्रतिवाते गुरुतः स्वस्थितिदेशं वायौ चलति स्वतो गुरुस्थितिदेशं वा चलति वायावनुवाते गुरुणा सह शिष्यो-नासीत । असंश्रवेऽत्र गुरुर्न किमपि श्रोष्यति तादृशे गुरो-रसंश्रवे प्रदेशे कस्मिन्नपि विषये गुरोरोषहेतुकं किंचिदपि वचो न कीर्त्तयेत् ॥

भा०—पश्चिमे पूर्वे वा वायौ वात्युभयतः शिष्येण न स्थातव्यम् । गुरुतः स्वप्रदेशं वा चलति वायौ शिष्यस्थो दुर्गन्धस्तच्छरीरप्रतिहतवायुना गुरुं गच्छेदिति सम्भवति। गुरोःपरोक्षेपि सर्वथाऽनुचितभाषणं सर्वविषयकमेव त्या-ज्यमिति ॥ २०३ ॥

भाषार्थः—(प्रतिवाते) गुरु की ओर से अपने बैठने की ओर को वायु चलता हो (च) और (अनुवाते) अपनी ओर से गुरु की ओर को वायु चलता हो तो दोनों ही ओर (गुरुणा, सह) गुरु के साथ शिष्य (नासीत) न बैठे (च) और (गुरोरसंश्रवे) जहां गुरु कुछ न सुन सकेंगे ऐसे स्थान में किसी विषय पर गुरु से विरुद्ध (न, किञ्चिदपि, कीर्त्तयेत्) कुछ भी बात न कहे ॥

भा०-पश्चिम वा पूर्व का वायु चलता हो तो गुरु से पूर्व वा पश्चिम दोनों ही ओर शिष्य को नहीं बैठना चाहिये। गुरु से शिष्य की ओर वायु चलता हो तो शिष्य के शरीर का गन्ध उस के शरीर में लग कर लौटने वाले वायु के साथ गुरु तक जाना सम्भव है। गुरु से परोक्ष में भी सर्व विषयक अनुचित भाषण शिष्य को त्याज्य है ॥ २०३ ॥

गोऽश्वोष्ट्रयानप्रासादस्वस्तरेषु कटेषु च।
आसीत गुरुणा सार्द्धं शिलाफलकनौषु च ॥२०४॥

अ०-गोऽश्वोष्ट्रयुक्ते रथशकटादिनामके याने प्रासादे स्वस्तरेषु पलालादितृणेषु विस्तृतेषु कटेषु तृणनिर्मितेषु शिलायां फलके काष्ठनिर्मिते दीर्घपीठे नौकासु च गुरुणा सार्द्धं समासनआसीत ॥

भा०-एवंभूतेषु समासनेष्वपि गुरुसम्मुखे पादप्रदेशे स्थातव्यम्। एष्ववसरेषु निकृष्टासनेषु स्थितिः कर्त्तुमसम्भवा तस्मादवज्ञापि नास्त्येव। यदा च निकृष्टासने स्थातुं शक्यते तत्र समासनेन गुरोस्तिरस्कारः स्यादिति न स्थातव्यम् २०४

भाषार्थः-(गोऽश्वोष्ट्रयानप्रासादस्वस्तरेषु) बैल घोड़ा वा ऊंट जिन में जुड़े हों ऐसे लढ़िया मझोली वा रथादि नामक यान में, प्रासाद नाम अटारी पर, घास आदि बिछौना पर, (कटेषु) चटाइयों के बिछौना पर (च) और (शिलाफलकनौषु) पत्थर की चट्टानों पर, काष्ठ की चौकी वा तखतों पर और नौकाओं में शिष्य (गुरुणा, सार्द्धमासीत) गरु के साथ बराबर बैठे तो दोष नहीं ॥

भा०-ऐसी लढ़िया आदि की बराबर बैठक में भी गुरु के सम्मुख पगों की ओर शिष्य को बैठना चाहिये। ऐसे अवसरों में गुरु से नीचे आसनों पर बैठना नहीं बन सकता इस से गुरु का तिरस्कार भी नहीं है और जहां नीचे आसन पर बैठ सकता है वहां बराबर बैठने से गुरु का तिरस्कार है इस से न बैठे ॥२०४॥

गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्वृत्तिमाचरेत्।
न चानिसृष्टो गुरुणा स्वान् गुरूनभिवादयेत्॥

अ०–शिष्यो गुरोर्गुरौ संनिहिते समीपमागते गुरुवद्-वृत्तिमाचरेदभिवादनादिना परिचरेत्। तथा गुरुणाऽनिसृष्टोऽननुज्ञातः स्वान् मातापित्रादीन् गौरवेण मान्यान् गुरून्नाभिवादयेदभिवादयितुं तत्तन्निवासस्थानं न गच्छेत् यद्वा गुरोर्गुरोराज्ञया विना स्वान् गुरून्नाभिवादयेत् ॥

भा०–अत्र विधिद्वयम्। आचार्यस्याचार्यमपि स्वाचार्यमिवैव परिचरेत्। आचार्यादितरान्मान्यानभिवादयितुमाचार्यः स्वयमाज्ञां दद्याद्विस्मरणप्रसंगे च शिष्यएवाज्ञां याचेत तदाऽन्यानभिवादयितुं गच्छेन्नत्वत्राभिवादननिषेधोऽपितु पर्युदासोऽयंतेनाज्ञां गृहीत्वाभिवादयितुं गच्छेदित्याशयः ॥२०५

भाषार्थः–(गुरोर्गुरौ, संनिहिते) यदि गुरु के गुरु समीप में आवें तो शिष्य को चाहिये कि (गुरुवद्वृत्तिम्, आचरेत्) उन का अपने गुरु के तुल्य अभिवादनादि से पूजन करे। तथा (गुरुणाऽनिसृष्टः) गुरु से आज्ञा पाये विना (स्वान्, गुरून्) गौरव से माननीय अपने माता पितादि को (न चाभिवादयेत्) अभिवादन करने को उन २ के निकट न जावे। अथवा गुरु के गुरु आज्ञा दें तब अपने गुरु को अभिवादन करे तब तक उन्हीं की सेवा में तत्पर रहे ॥

भा०–यहां दो विधिवाक्य हैं। गुरु के गुरु की अपने गुरु के समान ही सेवा सत्कार करे। अपने गुरु से भिन्न मान्य माता पितादि को अभिवादन की आचार्य स्वयं आज्ञा दे वा भूल जावे तो शिष्य ही आज्ञा लेकर अन्यों को अभिवादन करने के लिये जावे किन्तु यहां अन्यों को अभिवादन का निषेध नहीं है किन्तु आज्ञा विना अभिवादन न करे यह पर्युदास है आज्ञा ले के तो अवश्य अभिवादन को जावे यह तात्पर्य है ॥ २०५ ॥

विद्यागुरुष्वेतदेव नित्या वृत्तिः स्वयोनिषु।
प्रतिषेधत्सु चाधर्मान् हितं चोपदिशत्स्वपि२०६

अ०–विद्यागुरुष्वाचार्यादितरेषु विद्यया गौरवार्हेषूपाध्यायादिषु स्वयोनिषु मातापित्रतिरिक्तविद्यागौरवरहिते-

ष्वपि पितृव्यादिषु तथाऽधर्मान् प्रतिषेधत्सु हितं कल्याण-मार्गमुपदिशत्स्वप्येतदेव पूर्वोक्तरीत्यैव नित्या वृत्तिः कार्या॥

भा०-सामान्यं कथनमिदं तेन विद्यागुर्वादिषु स्वोपकारतारतम्येन तेषां प्रतिष्ठागौरवादितारतम्येन वा मान्यतारतम्यमपि सर्वत्र कल्पनीयम्। प्रत्युत्थानाभिवादनादि-सामान्यसत्कारकरणाय चातिदेशः ॥ २०६ ॥

भाषार्थः-(विद्यागुरुषु) अपने गुरु से भिन्न विद्वान् होने के कारण गौरव करने योग्य उपाध्याय आदि (स्वयोनिषु) माता पिता से भिन्न विद्या सम्बन्धी गौरव से रहित चाचादि (अधर्मान् प्रतिषेधत्सु च) अधर्म सम्बन्धी आचरणों से बचाते (च) और (हितमुपदिशत्स्वपि) कल्याणमार्ग का उपदेश करते हुओं में भी (एतदेव, नित्या, वृत्तिः) ऐसा ही वर्त्ताव गुरु के तुल्य सदा करना चाहिये ॥

भा०—यह सामान्य कथन है इस से विद्यागुरु आदि में अपने साथ किये उपकार की न्यूनाधिकता वा लोक में उन के प्रतिष्ठा गौरवादि के अनुसार मान्य सत्कार की न्यूनाधिकता माननी चाहिये। और प्रत्युत्थान वा अभिवादनादि सामान्य सत्कार सब का एकसा है ॥ २०६ ॥

श्रेयस्सु गुरुवद् वृत्तिं नित्यमेव समाचरेत्।
गुरुपुत्रेषु चार्येषु गुरोष्चैव स्वबन्धुषु ॥२०७॥

अ०-श्रेयस्सु श्रेयोमार्गगामिषु विरक्तेषु परमार्थरतेषु स्वतोऽधिकवयस्सुचार्येषु पापादाराद्यातेषु गुरुपुत्रेषु गुरोश्च स्वबन्धुषु मातृपितृपितृव्यादिष्वपि शिष्यो नित्यमेव गुरुवद्वृत्तिं परिचरणं समाचरेत् ॥

भा०-विरक्तेषु ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं गुरुसंबन्धिषु च गुरोर्गौरवेण श्रैष्ठ्यं मत्वा मान्यमभिहितम् ॥ २०७ ॥

भाषार्थः-(श्रेयस्सु) कल्याणमार्ग में चलने वाले परमार्थी विरक्त पुरुषों (च) तथा (आर्य्येषु) अपने से अधिक आयु वाले निष्पाप निर्दोष धर्मात्मा (गुरुपुत्रेषु) गुरु के पुत्रों (च) और (गुरोः, स्वबन्धुषु, एव) गुरु के भाई चाचा

पिता आदि कुटुम्बियों में भी शिष्य (नित्यमेव) सदा ही (गुरुवद्वृत्तिम्) गुरु के तुल्य आदर सत्कार का वर्त्ताव (समाचरेत्) करे ॥

भा०—विरक्तों में ज्ञान से बड़प्पन तथा गुरु के सम्बन्धियों में गुरु के गौरव से श्रेष्ठता मान कर मान्य करना कहा गया है ॥ २०७ ॥

बालः समानजन्मा वा शिष्यो वा यज्ञकर्मणि।
अध्यापयन् गुरुसुतो गुरुवन्मानमर्हति ॥२०८॥

अ०—स्वतो बालोऽल्पवयाः समानजन्मा समानवयस्को वा यज्ञकर्मविषयान् ग्रन्थान्पूर्वमध्यापितस्तदानीन्तनः शिष्यो वा गुरुसुतः सम्प्रत्यधीतवेदः कार्यान्तरासक्तआचार्ये वेदमध्यापयन् गुरुवन्मानमर्हति। अत्र केचिद्यज्ञकर्मणीत्यस्याचार्येण सम्बन्धं कुर्वन्ति यज्ञकर्मणयासक्तआचार्यइति। अन्येतु(यज्ञकर्मणि बाला अपि ऋत्विजो गुरुवन्मानमर्हन्ति, समानजन्मा वा व्रती गुरुवन्मानमर्हति, योऽध्यापयन्स गुरुसुतश्च गुरुवन्मानमर्हति) इति योजयन्ति तन्मते शिष्यो वेत्यस्य स्थाने ऋत्विग्वेति पाठान्तरम् ॥

भा०—अत्र सर्वविधज्यैष्ठ्याच्छास्त्रज्ञानकृतज्यैष्ठ्यं प्रधानं मत्वा गुरुवत्परिचरणमुक्तम् ॥ २०८ ॥

भाषार्थः—(बालः) अपने से अवस्था में छोटा (वा) अथवा (समानजन्मा) बराबर आयु वाला (वा) अथवा (यज्ञकर्मणि शिष्यः) जिस को यज्ञ कर्म विधान सम्बन्धी ग्रन्थ पहिले आप ही पढ़ाये हों ऐसा वर्त्तमान में वेद पढ़ा हुआ (गुरुसुतः) गुरु का पुत्र, गुरु के कहीं अन्यत्र काम से जाने पर (अध्यापयन्) वेद पढ़ाता हुआ (गुरुवन्मानमर्हति) गुरु के तुल्य मान सत्कार करने योग्य होता है। इस श्लोक में कोई लोग यज्ञकर्मणि पद का आचार्य के साथ सम्बन्ध करते हैं कि कहीं यज्ञ करने में गुरु लगे हों तो गुरु का पुत्र पढ़ाने का काम करे और गुरु के तुल्य सत्कार का भागी होवे तथा अन्य लोगों का मत है कि " यज्ञ कर्म में यजमान से छोटे कर्मठ ऋत्विज् लोग बालक हों तो भी गुरु के तुल्य पूज्य होते हैं।

तुल्य आयु वाला भी व्रतधारी गुरु तुल्य मान्य होता और वेद पढ़ाने में समर्थ गुरुपुत्र भी गुरु के तुल्य मान्य होता है " इस पक्ष में "शिष्यो वा" के स्थान में "ऋत्विग्वा" पाठ माना जायगा ॥

भा०-यहां सब प्रकार की ज्येष्ठता से शास्त्र ज्ञान सम्बन्धिनी श्रेष्ठता को प्रधान मान कर गुरु के तुल्य आदर सत्कार कहा है ॥ २०८ ॥

उत्सादनं च गात्राणां स्नापनोच्छिष्टभोजने।
न कुर्याद् गुरुपुत्रस्य पादयोश्चावनेजनम् २०९

अ०-गुरुपुत्रस्य गुरुवन्मानं कुर्वन् शिष्यो गात्राणामुत्सादनमुद्वर्त्तनं स्नापनमुच्छिष्टभोजनं पादयोश्चावनेजनं प्रक्षालनं च न कुर्यात् ॥

भा०-गुरुपुत्रस्य गात्रोत्सादनादिनिषेधेन गुरोस्तु सर्वमिदं विधेयमिति ज्ञाप्यते। उच्छिष्टभोजनं च यथावसरे गुरुभोजनादवशिष्टमत्र ग्राह्यं न नित्यम्। प्रतिदिनं तु भिक्षाचरणेन शिष्यस्य भोजनं गुरोस्तु स्वगृहे तस्मान्नास्त्युच्छिष्टभोजनप्रसंगः ॥ २०९ ॥

भाषार्थः-पूर्वोक्त प्रकार से गुरुपुत्र का गुरु के तुल्य पूजन करता हुआ शिष्य (गात्राणाम् , उत्सादनम्) शरीर का दबाना (स्नापनोच्छिष्टभोजने) स्नान कराना उच्छिष्ट नाम भोजन किये पश्चात् बचा भोजन करना (पादयोश्चावनेजनम्) और पगों का धोना ये सब काम (गुरुपुत्रस्य) गुरुपुत्र के (न, कुर्यात्) न करे ॥

भा०-गुरुपुत्र के गात्रोत्सादनादि निषेध से गुरु के तो ये सब काम करने चाहिये यह भी जताया गया है। उच्छिष्ट भोजन से यहां गुरु के भोजन किये पश्चात् बचा भोजन अभीष्ट है सो ऐसा भोजन शिष्य को कभी २ करना आवश्यक है सदा नहीं। शिष्य का भिक्षा मांग के प्रतिदिन भोजन है और गुरु का अपने घर में भोजन होगा इस से उच्छिष्ट भोजन नित्य करना नहीं बन सकता ॥२०९॥

गुरुवत्प्रतिपूज्याः स्युः सवर्णा गुरुयोषितः।
असवर्णास्तु संपूज्याः प्रत्युत्थानाभिवादनैः॥

अ०—सवर्णा गुरुयोषितो ब्राह्मणयः शिष्यैर्गुरुवत्प्रतिपूज्या व्यत्यस्तपाणिना पादस्पर्शाभिवादनादिना सत्कार्याः, असवर्णाः क्षत्रिया वैश्या वा गुरुयोषितः प्रत्युत्थानाभिवादनैः पादस्पर्शमन्तरा दूरतएव संपूज्याः ॥

भा०—गुरुयोषितां बहुत्वमत्र विधिसूचकं नास्ति यदनेकाभिर्विवाहः कार्यइति। यदि कोपि केनापि कारणविशेषेण बहुस्त्रीकोऽसवर्णाभिः कृतविवाहो वा गुरुः कर्त्तव्यो भवेत्तदा गुरुयोषिद्भिरेवं शिष्यैर्व्यवहर्त्तव्यमिति विधीयते। बहुस्त्रीभिरसवर्णाभिर्वैकया सवर्णया विवाहापेक्षया निकृष्टएव विवाहोस्ति। एकांशे निकृष्टः कोप्यन्यमान्यांशेष्वपि निकृष्टएव स्यादित्यनुचितमेव विज्ञेयम् ॥ २१० ॥

भाषार्थः—(सवर्णा, गुरुयोषितः) ब्राह्मण गुरु की ब्राह्मणी सवर्णास्त्रियां शिष्य को (गुरुवत्प्रतिपूज्याः स्युः) बदले हुए हाथों से पादस्पर्श और अभिवादनादि करके पूजनीय हैं (तु) और (असवर्णाः) ब्राह्मण गुरु की विवाहित क्षत्रिय वा वैश्य की कन्या हों तो (प्रत्युत्थानाभिवादनैः) पादस्पर्श किये विना दूर से ही प्रत्युत्थान तथा अभिवादन करके पूजनीय हैं ॥

भा०—गुरुयोषित् के बहुवचन कहने से यह प्रयोजन नहीं है कि बहुत स्त्रियों से विवाह करे। यद्यपि अनेक स्त्रियों से वा असवर्णाओं से विवाह करना अच्छा नहीं तथापि कोई करे और वही गुरु हो तो उस की स्त्रियों के साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिये। अनेकों वा असवर्णाओं से विवाह करने वाला एक सवर्णा से विवाह करने वाले की अपेक्षा निकृष्ट है तथापि एक अंश में निकृष्ट पुरुष सर्वांशों में निकृष्ट ही माना जाय यह भी अनुचित है ॥२१०॥

अभ्यञ्जनं स्नापनं च गात्रोत्सादनमेव च।
गुरुपत्न्या न कार्याणि केशानां च प्रसाधनम् ॥

अ०—गुरुस्त्रिया गुरुवत्प्रतिपूजनमुक्तं तत्राभ्यञ्जनादिकमपि प्राप्तं प्रतिषिध्यते—अभ्यञ्जनं तैलादिना शरीरमर्दनं

स्नापनं गात्रोत्सादनं च तथा केशानां प्रसाधनमुञ्छनप्रक्षालनविन्यासरचनादिकं सीमन्तोत्थापनं चैतानि गुरुपत्न्याः पूजाहेतून्यपि कर्माणि शिष्येण न कार्याणि ॥

भा०–उक्तविधेरपवादोऽयम्। केशानामित्युपलक्षणार्थं तेन देहप्रसाधनादिकमपि निषिद्धमेव बोध्यम् । धर्ममार्गं जिगमिषूणामुचितएवायं प्रतिषेधः ॥ २११ ॥

भाषार्थः–गुरु की स्त्री का गुरु के तुल्य प्रतिपूजन कहा है उस में शरीर में तेल मलनादि भी प्राप्त होता सो निषेध करते हैं (अभ्यञ्जनम्) तेल आदि से शरीर मलना (स्नापनम्) स्नान कराना (च) और (गात्रोत्सादनम्) शरीर हाथ पांव दबाना (केशानां च प्रसाधनम्) तथा बाल धोना काढना मांग बनाना आदि काम यद्यपि (गुरुपत्न्याः) गुरुपत्नी की पूजा के हेतु हैं तथापि ये काम (न, कार्याणि) न करे ॥

भा०–पूर्वोक्त विधि का यह अपवाद है। यहां केश ग्रहण उपलक्षणार्थ है इस से शरीर के शृङ्गारादि सभी निषिद्ध जानो । धर्म मार्ग में चलने की इच्छा वालों के लिये यह निषेध उचित ही है ॥ २११ ॥

गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः ।
पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता ॥२१२॥

अ०–गुणदोषौ ब्रह्मचर्यरक्षणगुणं स्त्रीणां स्पर्शाद्रागोत्पत्तिदोषं च विजानता पूर्णविंशतिवर्षेण षोडशवर्षादूर्ध्ववयस्केन प्राप्तयौवनेन तरुणशिष्येणेह ब्रह्मचर्यकाले युवतिर्गुरुपत्नी पादयोर्नाभिवाद्या ॥

भा०–अत्र पूर्णविंशतिवर्षेणेति कथनमुपलक्षणार्थं तेन बालाद् वृद्धाद्वेतरस्य यूनो ग्रहणं बोध्यम्। पादयोर्नाभिवाद्या दूरतस्त्वभिवादनं वक्ष्यति । मुख्यतया ब्रह्मचर्यकालेऽयं नियमो यदि समावृत्तः कृतविवाहो युवापि स्यात्तदा

स्वस्त्रियां रक्तस्य पादयोरभिवादने नास्ति भयं दोषो वेतीह शब्दस्य प्रयोजनम् ॥ २१२ ॥

भाषार्थः—(गुणदोषौ) ब्रह्मचर्य की रक्षा के गुण और स्त्रियों के स्पर्श से कामोत्पत्ति हो कर ब्रह्मचर्य की हानिरूप दोष को (विजानता) जानते हुए (पूर्णविंशतिवर्षेण) षोडशवर्ष से ऊपर युवावस्था को प्राप्त तरुण शिष्य को (इह) इस ब्रह्मचर्याश्रम समय में (युवतिर्गुरुपत्नी) उत्तम गुरु की स्त्री के (पादयोः) पगों में स्पर्श कर (नाभिवाद्या) अभिवादन नहीं करना चाहिये ॥

भा०—यहां "पूर्णविंशतिवर्षेण" कहना उपलक्षणार्थ है इस से बालक वा वृद्ध से भिन्न युवावस्था के पुरुष का सामान्य ग्रहण जानो । पगों में अभिवादन नहीं करना चाहिये किन्तु दूर से अभिवादन करे सो आगे कहेंगे । ब्रह्मचर्य काल के लिये मुख्य कर यह नियम है । यदि समावर्त्तन के पश्चात् विवाह हो गया हो और पुरुष युवा भी हो तो अपनी स्त्री में आसक्त होने से पगों में अभिवादन करने पर विशेष भय वा दोष नहीं है यहां "इह" शब्द पढ़ने का प्रयोजन जानो ॥२१२॥

स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम् ।
अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः ॥

अ०—नारीणां स्वभावः प्राकृतो गुण एष यत्ता दृष्ट्वा पुरुषा व्यामुह्यन्ति न च ता इच्छन्ति सर्वत्रास्मान् दृष्ट्वा मुह्येयुर्जना इति । नारीणां यो नैसर्गिको गुणस्तदेवेह ब्रह्मचर्यकाले गृहाश्रमेऽपि परस्त्रीवर्जनविषये नराणां दूषणमभिमतं नरास्तेन दुष्यन्ति । अतोऽर्थादस्माद्धेतोर्विपश्चितः पण्डिताः प्रमदासु प्रमादहेतुषु कामिनीषु न प्रमाद्यन्ति ताभिः संसर्गं नेच्छन्ति ॥

भा०—लीलावतीनां सहजाः स्वभावास्तएव मूढस्य हृदि स्फुरन्ति । रागो नलिन्या हि निसर्गसिद्धस्तत्र भ्रमत्येव मुधा षडङ्घ्रिः ॥ एवं प्रकृतिस्त्री हि पुरुषं निबध्नाति प्रकृतौ बन्धनमेव संसारस्ततो विरामश्च मोक्षइति । यदा च

स्त्रीसंसर्गं जिहासवोऽपि बहवः पुनः पुनस्तत्पाशबद्धा भवन्ति तद्भक्तानां पुनः का कथा। अतएवेदं संगच्छते-"ज्ञानिना मपि चेतांसि देवी भगवती हि सा। बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥ २१३ ॥

भाषार्थः-(नारीणाम्) स्त्रियों का (स्वभावः) स्वाभाविक गुण (एषः) यह है कि उन को देख कर पुरुष मोहित हो जाते हैं अर्थात् वे स्त्रियां सर्वत्र यह चाहना नहीं करतीं कि हम को देख कर पुरुष मोहित हों। नारियों का जो यह प्राकृत गुण है वही (इह) इस ब्रह्मचर्य काल में वा गृहाश्रम में भी परस्त्रीवर्जन विषय में (नराणाम्) पुरुषों का (दूषणम्) दोष माना गया है क्योंकि पुरुष उस स्त्री के स्वाभाविक गुण से दूषित हो जाते हैं (अतोऽर्थात्) इस कारण (विपश्चितः) विचारशील पण्डित लोग (प्रमदासु) प्रमाद कराने वाली कामिनियों में (न, प्रमाद्यन्ति) नहीं फसते वा उन के साथ संसर्ग नहीं चाहते॥

भा०—एक कवि ने कहा है कि "स्त्रियों के जो सहज स्वाभाविक गुण हैं उन को पुरुष अपने रिझाने के लिये कृत्रिम मान कर मोहित होता है" इस प्रकार प्रकृतिरूप स्त्री ही पुरुष को बान्धती है प्रकृति में बन्धना ही संसार है और प्रकृति से विराम होना ही मोक्ष है। जब कि स्त्री के संबन्ध को छोड़ने में तत्पर हुए भी अनेक लोग बार २ उन के फन्द में फंस जाते हैं तो स्वयमेव स्त्रियों के अनुरागियों का कहना ही क्या है ?। इसी से यह कहना ठीक घटता है कि "महामायारूप भगवती स्त्री जातिरूप देवी ज्ञानियों के चित्तों को भी बलपूर्वक खेंचकर मोह में डाल देती है" ॥ २१३ ॥

अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः।
प्रमदाह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम् ॥२१४॥

अ०-लोके जगति प्रमदाः पुरुषाणां प्रमादोत्पादिकाः कामिन्योऽविद्वांसमुत्पथं नेतुमलं समर्थाः कामक्रोधवशानुगं विद्वांसमपि वा पुनरुत्पथं नेतुं समर्थाः ॥

भा०-प्रमदाः स्वस्य स्वाभाविकमोहनगुणेन लौकिकमजितेन्द्रियमनायासेनैव मोहयन्ति। अत्यन्तबालमत्यन्तवृद्धं प्राप्तयोगाभ्यासबलप्रकर्षं दग्धक्लेशबीजं च पुरुषं वि-

हाय जितेन्द्रियत्वाभिमानिनं विद्वांसमपि मोहयन्त्येव मोहिन्यः । तस्मान्नैव केनाप्यभिमन्तव्यं वयं जितेन्द्रियाइति । यदा च देहे प्राप्ताधिकारश्चिरकालाद् दृढमूलः कामः क्रोधश्चोद्बोधकैः शरीरे जागर्त्युद्बध्यते तदा सर्वं ज्ञानमस्तं याति । आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा । कामरूपेण कौन्तेय ! दुष्पूरेणानलेन च । अतः सेन्द्रियस्य प्रमदाभ्यो दूरस्थितिरेव श्रेयस्करी बोध्या ॥ २१४ ॥

भाषार्थः—(लोके) जगत् में (प्रमदाः) पुरुषों को प्रमत्त करने वाली स्त्रियां (अविद्वांसम्) अज्ञानी पुरुषों को (उत्पथं नेतुमलम्) मोहित कर देने में अत्यन्त समर्थ हैं (अपि वा) अथवा (कामक्रोधवशानुगम्) काम क्रोध के वशीभूत होने वाले (विद्वांसम्) विद्वान् पुरुष को (पुनः) भी बार २ मोहित करने में समर्थ हैं ॥

भा०—स्त्रियां अपने स्वाभाविक मोहोत्पादक गुण से इन्द्रिय लम्पट लौकिक पुरुष को सहज ही में मोहित करतीं और अत्यन्त बालक अत्यन्त वृद्ध तथा योगाभ्यास के अत्यन्त बल को प्राप्त अविद्यादि क्लेशों को जिसने निर्मूल नष्ट किया हो ऐसे पुरुष को छोड़ कर जितेन्द्रिय होने के अभिमानी सामान्यविद्वान् पुरुष को भी मोहित करती ही हैं इस लिये किसी को अभिमान नहीं करना चाहिये कि हम जितेन्द्रिय हैं चलायमान नहीं हो सकते । शरीर में प्रबलता को प्राप्त जिन की जड़ अविद्या दृढ़ है ऐसे काम वा क्रोध उद्बोधकों द्वारा जब जागते हैं तब सब विवेक शक्तियां दब जातीं ज्ञान अस्त हो जाता है । भगवद्गीता में लिखा है कि "इस अगाध नित्य वैरी कामाग्नि से ज्ञानी पुरुष का ज्ञान धूम से अग्नि के समान ढंप जाता है ।" इस से समर्थ युवा विद्वान् को प्रमदाओं से दूर रहना ही उत्तम है ॥ २१४ ॥

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥२१५॥

अ०-अतः कारणान्मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा धर्मपथि जिगमिषुर्नरो विविक्तासनो निर्जनगृहादौ स्थितिशीलो न भवेत् ताभिः सहैकान्ते नासीत। यतो बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि शास्त्रोक्तहेतुभिः सदसद्विवेचनपरमपि जनं कर्षति पराधीनं करोति ॥

भा०-अत्र मात्रादयः शब्दा उपलक्षणार्थास्तेन सेन्द्रियो विद्वान् मात्राद्यगम्यया कयापि सार्द्धं विजनप्रदेशे वासं न रोचयेत्। वेदेप्युक्तं पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्। अत्रापि स्वसारमित्युपलक्षणमेवागम्यामात्रस्य। प्रज्वालिते वह्नौ तस्योदकादिना निर्वाणोपायापेक्षया तस्याप्रज्वालनमेव सर्वांशे वरमित्याशयः ॥ २१५ ॥

भाषार्थः-इस कारण (मात्रा) माता (स्वस्रा) बहिन (दुहित्रा) और पुत्री के साथ धर्ममार्ग में चलने की इच्छा वाला पुरुष (विविक्तासनो न भवेत्) एकान्त निर्जन घर आदि में न बैठे वा न बसे क्योंकि (इन्द्रियग्रामः) इन्द्रियों का समुदाय (बलवान्) बलवान् है इस से (विद्वांसमपि) शास्त्रोक्त हेतुओं से सत्यासत्य का विवेक करने वाले विद्वान् को भी (कर्षति) खैंचता है वा पराधीन कर देता है ॥

भा०-यहां मातृ आदि शब्द उपलक्षणार्थ हैं इस से युवा विद्वान् मातादि अगम्या किसी स्त्री के साथ एकान्त में रहना कभी स्वीकार न करे। वेद में भी कहा है कि "भगिनी के साथ विवाह वा गमन करना पाप है" यहां भी स्वस्र शब्द अगम्यामात्र के उपलक्षणार्थ है। अग्नि जलाकर फिर जल आदि से बुझाने का उपाय करने की अपेक्षा उस का न जलाना ही सर्वांश में अच्छा है ॥२१५॥

कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भवि।
विधिवद्वन्दनं कुर्यादसावहमिति ब्रुवन् ॥२१६॥

अ०-युवतीनां गुरुपत्नीनां युवा ब्रह्मचारी-असावहमिति अमुकशर्माहमस्मि भोरिति ब्रुवन् कामं यथेच्छमति-

शयेन वा भुवि गुरुपत्नीसम्मुखे पृथिव्यां पादस्पर्शमन्तरा विधिवद् व्यत्यस्तपाणिभ्यां भूमिं स्पृष्ट्वा वन्दनं कुर्यात् ॥

भा०—अत्र केचित्कामामिति पदमरुचिसूचकं मन्यन्ते तेनानभिवादनेऽपि न दोषइति वदन्ति। अत्र युवतीनां युवा इति कथनादवसीयतेऽनुद्बुद्धकामो बालो ब्रह्मचारी युवतीनां गुरुस्त्रीणां तथा वृद्धानां गुरुपत्नीनां युवापि ब्रह्मचारी पादस्पर्शमपि कुर्यादित्यर्थादापद्यते पादस्पर्शमन्तरापि गुरुयोषितां गुरुवत्प्रतिपूजनमित्थं कार्यमेवेत्याशयः ॥ २१६ ॥

भाषार्थः—(युवतीनां गुरुपत्नीनाम्) युवति गुरु पत्नियों को (युवा) जवान ब्रह्मचारी (असावहमिति ब्रुवन्) "भद्रंशर्माहमस्मिभोः" ऐसा कहता हुआ (कामम्) यथेष्ट वा विशेष कर (भुवि) गुरु पत्नी के सम्मुख पृथिवी में पग छुये बिना (विधिवत्) गुरु को अभिवादन करने के समान हाथों से पृथिवी को स्पर्श करके (वन्दनम्, कुर्यात्) अभिवादन करे ॥

भा०—इस श्लोक में कोई लोग काम पद को अरुचिसूचक मानते हैं तिस से अभिवादन युवति गुरुपत्नी का न करने पर भी दोष नहीं ऐसा कहते हैं। यहां युवती और युवा अभिवादनीय और अभिवादक के विशेषण होने से निश्चय होता है कि कामदेव जगने से पहिले बालक ब्रह्मचारी युवति गुरुपत्नी को भी तथा वृद्ध गुरुपत्नी को युवा ब्रह्मचारी भी पग छूने के साथ ही अभिवादन करे यह अर्थापत्ति से सिद्ध है। और युवति गुरुस्त्री के पग छुए बिना भी गुरु के तुल्य अभ्युत्थानाभिवादनादि करना ही चाहिये ॥ २१६ ॥

विप्रोष्य पादग्रहणमन्वहं चाभिवादनम् ।
गुरुदारेषु कुर्वीत सतां धर्ममनुस्मरन् ॥२१७॥

अ०—विप्रोष्य प्रवासादागतो युवापि ब्रह्मचारी युवतीनामपि गुरुयोषितां पादग्रहणं पादस्पर्शम्, अन्वहं प्रतिदिनं चोक्तप्रकारेण सतां श्रेष्ठपुरुषाणामयं धर्मआचारइत्यनुस्मरन् गुरुदारेषु सम्मुखे भूमावेवाभिवादनं च कुर्वीत ॥

भा०-पूर्वोक्तपादस्पर्शनिषेधस्य प्रवासादागमनावस-रेऽपवादोऽयम्। गुरुस्त्रीणामभिवादनं सदाचाररूपोधर्मश्चेति सूच्यते ॥ २१७ ॥

भाषार्थः-(विप्रोष्य) कहीं विदेश से आया ब्रह्मचारी युवा हो तो भी युवति गुरु की स्त्रियों को भी (पादग्रहणम्) पादस्पर्श पूर्वक अभिवादन, (च) और (अन्वहम्) पूर्वोक्त प्रकार से प्रतिदिन (सतांधर्ममनुस्मरन्) श्रेष्ठ पुरुषों का यह धर्म है कि गुरु स्त्री को अभिवादन करें ऐसा विचारता हुआ (गुरुदारेषु) गुरु की स्त्रियों के सामने भूमि पर (अभिवादनम्) अभिवादन (कुर्वीत) किया करे॥

भा०-पूर्व कहे पादस्पर्श निषेध का विदेश से आने के समय यह अपवाद है। गुरु स्त्री को अभिवादन करना सदाचारनामक धर्म है यह भी जताया है॥२१७॥

यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥२१८॥

अ०-यथा खनित्रेणायसेन शनैःशनैर्भूमिं खनन् नरो वारि जलमधिगच्छति । तथा शुश्रूषुर्गुरुकुलसेवनशीलः शिष्यो गुरुगतां विद्यां शनैः कालेनाधिगच्छत्याप्नोति ॥

भा०-गुरुभार्यादीनामपि यथोक्तं परिचरणं गुरोः सन्तोषजनकं यादृशश्च गुरोः सन्तोषः शिष्येण सम्पाद्यते तादृशमेव विद्यासाफल्यं विशिष्टं भवति। गुरोरसन्तोषकाः केऽपि ग्रन्थेषु वाचाटा भवन्तु नच तान् प्रति वागात्मानं विवृणोति नच तेषां हार्दो कपाटावपावृणुतस्तस्मादुक्तप्रकारेण गुरुपरिचरणं तत्त्वज्ञानस्य प्रधानं कारणमित्यवसेयम् ॥२१८॥

भाषार्थः-(यथा) जैसे (खनित्रेण) लोहे के कर्मी आदि नामक शस्त्रसे धीरे २ पृथिवी को (खनन्) खोदता हुआ (नरः) मनुष्य (वारि) जल को (अधिगच्छति) प्राप्त हो जाता है (तथा) वैसे (शुश्रूषुः) गुरुकुल की सेवा में तत्पर शिष्य (गुरुगतां, विद्याम्) गुरु की विद्या को धीरे २ कुछ काल में (अधिगच्छति) प्राप्त करलेता है ॥

भा०—गुरु स्त्री आदि की यथोक्त शुश्रूषा भी गुरु को सन्तुष्ट वा प्रसन्न करने वाली है। शिष्य जैसा ही गुरु को सन्तुष्ट करता है उस की विद्या वैसी ही विशेष सफल होती है। गुरु को अपनी सेवा शुश्रूषा से सन्तुष्ट न करने वाले कई लोग ग्रन्थों में बाचाल भले ही हो जावें परन्तु विद्या उन को अपने गूढ़ांश गूढ़ विषय प्रकाशित नहीं करती इसी से उस के हृदय के किवाड़ नहीं खुलते क्योंकि जैसा २ गुरु प्रसन्न और सन्तुष्ट होता है वैसी २ उस की विशेष इच्छा शिष्य को विद्या के मर्म जताने के लिये बढ़ती जाती है। इस कारण उक्त रीति से गुरु का परिचरण शिष्य को तत्त्वज्ञान होने का प्रधान कारण है यह निश्चय ही जानना चाहिये ॥२१८॥

मुण्डो वाजटिलो वास्यादथवास्याच्छिखाजटः
नैनंग्रामेऽभिनिम्लोचेत्सूर्यो नाभ्युदियात्क्वचित्

अ०—ब्रह्मचारी मुण्डो मुण्डितसर्वकेशो जटिलो रक्षितसर्वकेशोऽथवा शिखाजटो शिखां विहाय मुण्डितान्यकेश इति प्रकारत्रये यथाकामं कुर्वीत। एनं ब्रह्मचारिणं ग्रामे सन्तं सूर्यः क्वचिन्न निम्लोचेन्न चाभ्युदियाच्च ॥

भा०—ग्रामशब्दो जनसमुदायवासे शालासमुदाये च वर्त्तते तेन नगराणामपि ग्रहणं सुलभमेव ब्रह्मचारी सूर्यस्योदयास्तवेलातः पूर्वमेव ग्रामाद्बहिर्विजने शुद्धेऽरण्यादिप्रदेशे सन्ध्योपासनाद्यर्थमवश्यमेव प्रत्यहं गच्छेत् ॥ २१९ ॥

भाषार्थः—ब्रह्मचारी (मुण्डः) शिर के सब बाल मुड़ाने वाला (वा) अथवा (जटिलः) सब केश रखाने वाला (अथवा) अथवा (शिखाजटः) केवल चोटी को छोड़ अन्य सब केश मुड़ाने वाला (स्यात्) हो। इन तीनों प्रकारों में जो अच्छा लगे वैसे एक प्रकार से ब्रह्मचर्याश्रम में रहे (एनम्) इस ब्रह्मचारी को (ग्रामे) ग्राम में (क्वचित्) कभी (सूर्यो, न निम्लोचेत्) सूर्य अस्त न हो और (नाभ्युदियात्) न कभी उदय हो ॥

भा०—ग्राम शब्द मनुष्य समुदाय वा अनेक घरों का वाचक है एक ही कुटी बना कर कोई रहे वह भी ग्राम है इस से नगर का भी ग्रहण ग्राम के कहने में

आ जाता है। ब्रह्मचारी जिस ग्राम नगर वा कुटी में बसता हो सूर्य के उदय अस्त होने से पहिले ही वहां से बाहर शुद्ध निर्जन अरण्यादि में सन्ध्योपासन के लिये अवश्य ही नित्य जाया करे ॥ २१९ ॥

तं चेदभ्युदियात्सूर्यः शयानं कामचारतः ।
निम्लोचेद्वाऽप्यविज्ञानाज्जपन्नुपवसेद्दिनम् ॥

अ०—चेद्यदि तं ब्रह्मचारिणं कामचारतः सन्ध्योपासनचिन्तात्यागेन शयानं सूर्योऽभ्युदियादविज्ञानाद्विस्मरणाद्वा सायं सूर्यो निम्लोचेदस्तमियात्तदा प्रायश्चित्तार्हो जायते दिनपरिमितं कालं सावित्रीं जपन्नुपवसेदाहारं त्यजेत् । प्रातः सन्ध्यातिक्रमे तस्मिन्नेवाहनि जपन्नुपवसेत्सायंसन्ध्यातिक्रमे त्वागामिनि दिने जपन्नुपवसेत् ॥

भा०—अयमर्थवादः सूर्यस्योदयास्तकाले ब्रह्मयज्ञरूपस्य सन्ध्योपासनस्यावश्यकर्त्तव्यतां ज्ञापयति ॥ २२० ॥

भाषार्थः—(चेत्) यदि (तम्) उस ब्रह्मचारी को (कामचारतः) नित्य सन्ध्योपासन की चिन्ता छोड़ देने के साथ (शयानम्) सोते हुए (सूर्यः, अभ्युदियात्) सूर्योदय हो जावे (अपि, वा) अथवा (अविज्ञानात्) विस्मरण वा प्रमाद से सायंकाल (निम्लोचेत्) सूर्य का अस्त हो जावे और सन्ध्योपासन समिदाधान न करपावे तो प्रायश्चित्त के योग्य होता है ऐसी दशा में (जपन्नुपवसेद्दिनम्) दिनभर सावित्री का जप करता हुआ उपवास करे। यदि प्रातः सूर्योदय तक सोया हो तो उसी दिन प्रायश्चित्त करे और यदि सायंकाल सूर्यास्त समय तक भूल प्रमाद से सन्ध्योपासन न किया हो तो आगामी दिनभर जपता हुआ उपवास करे फिर सायंकाल की सन्ध्या करके भोजन करे ॥

भा०—यह अर्थवाद सूर्य के उदय अस्त समय में ब्रह्मयज्ञरूप सन्ध्योपासन की अवश्य कर्त्तव्यता जताने के लिये है और अवश्य कर्त्तव्य काम के न करने पर दोष भी अवश्य लगता ही है ॥ २२० ॥

सूर्येण ह्यभिनिर्मुक्तः शयानोऽभ्युदितश्च यः ।
प्रायश्चित्तमकुर्वाणो युक्तः स्यान्महतैनसा२२१

अ०—सायंसन्ध्यामकुर्वन्यः सूर्येणाभिनिर्मुक्तः प्रातर्यः शयानश्च सूर्येणाभ्युदितः सूर्योदयेन सत्त्वप्रकाशेन प्रबोधितः प्रायश्चित्तमकुर्वाणो महतैनसा पापेन युक्तः स्यात् ॥

भा०—पूर्वत्रोक्तप्रायश्चित्तविधर्निन्दाऽर्थवादोयम्। पापभाङ् न स्यामित्युक्तदोषे प्रायश्चित्तमवश्यं कार्यम् । यदि मलेन दूषितं वासो न प्रक्षाल्यते तदा मालिन्यं तत्र वर्धतएव तथैव प्रायश्चित्तेनाशोधितदोषो ब्रह्मचारिजनो दोषान्तरैरपि लिप्यत एव ॥ २२१ ॥

भाषार्थः—सायंकाल की सन्ध्या न करता हुआ (सूर्येणाभिनिर्मुक्तः) सूर्य के देखने से पृथक् हुआ (च) और प्रातःकाल (यः) जो (शयानः) सोता हुआ सूर्य के प्रकाशरूप सत्त्वगुण से सन्ध्या किये विना ही (अभ्युदितः) जागृत हुआ (प्रायश्चित्तमकुर्वाणः) प्रायश्चित्त न करे तो (युक्तः, स्यान्महतैनसा) बड़े पाप से युक्त होगा ॥

भा०—पूर्व कहे प्रायश्चित्त विधान का यह निन्दार्थवाद है। मैं पापी न होऊं इस कारण प्रायश्चित्त अवश्य करना चाहिये। यदि मल से कोई वस्त्र दूषित हो और धोया न जाय तो उस पर मैल बढ़ता ही जाय गा। वैसे दोषी मनुष्य प्रायश्चित्त न कर लेवे तो उस को कुसंस्काररूप अन्य पाप दोष लगते ही रहें गे ॥ २२१ ॥

आचम्य प्रयतो नित्यमुभे सन्ध्ये समाहितः ।
शुचौ देश जपन् जप्यमुपासीत यथाविधि ॥२२२॥

अ०—तस्मात्प्रयतो नियतेन्द्रियः समाहितएकाग्रचेता नित्यमाचम्योभे सन्ध्ये शुचौ देशे जप्यं सप्रणवव्याहृतिकं सावित्रीमन्त्रं जपन् यथाविध्यन्तर्यामिणमुपासीतैव ॥

भा०—प्रायश्चित्तस्य विधिशेषोऽयम्। सामान्यतया दिनं जपन्नुपवसेत् । विशेषतस्तु प्रायश्चित्ती उभे सन्ध्ये मन्त्रं जपन्नेकाग्रमनसा सर्वथा निष्पापं परमात्मानं ध्यायन् प्रार्थयंश्च शुद्धो भवति ॥ २२२ ॥

भाषार्थः—तिस से (प्रयतः) जितेन्द्रिय (समाहितः) एकाग्र चित्त रख के (नित्यमाचम्य) नित्य आचमन कर (उभे, सन्ध्ये) सायं प्रातः दोनों सन्ध्याकालों में (शुचौ, देशे) शुद्ध एकान्त स्थान में (जप्यम्) प्रणव और व्याहृतियों सहित सावित्री [तत्सवितु०] मन्त्र का (जपन्) जप करता हुआ (यथाविधि) विधिपूर्वक अन्तर्यामी प्रेरक की (उपासीत) उपासना अवश्य करे ॥

भा०—यह प्रायश्चित्त विधि का शेष विचार है । पूर्व कहे अनुसार दिनभर सामान्य प्रकार जप करता हुआ उपवास करे । और प्रायश्चित्ती पुरुष विशेष कर दोनों सन्ध्या समयों में मन्त्र को जपता तथा एकाग्र मन से सर्वथा निष्पाप परमात्मा का ध्यान वा प्रार्थना करता हुआ शुद्ध होता है ॥ २२२ ॥

यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयः किंचित्समाचरेत् ।
तत्सर्वमाचरेद्युक्तो यत्र वास्य रमेन्मनः ॥२२३॥

अ०—यदि कापि स्त्री यदि वा कश्चिदवरजः शूद्रः स्वस्मादल्पवयस्को वा श्रेयः श्रेयस्करं किंचित्किमपि धर्म्यं कर्म समाचरेत्तत्सर्वं ब्रह्मचारी, गृहस्थो वा युक्तस्तत्परतयाऽऽचरेत् । यत्र यस्मिन्वा स्त्रीशूद्राचरितकर्मण्यस्य मनोऽपि रमेत्तदेव युक्त आचरेदन्यच्च नाचरेदिति ॥

भा०—सामान्यपरं कथनमिदम् । सर्वाश्रमस्थेन ब्राह्मणादिना स्वतो निकृष्टादपि श्रेयस्करस्य धर्म्याचारस्य शिक्षोपादेया, नच ममोत्तमस्य निकृष्टादुपदेशग्रहणमनुचितमित्यभिमन्तव्यम् । न चोत्तमाचरणं कस्यापि स्वं भवति । अस्तु स कस्मिन्नप्यंशे नान्यैव वा निकृष्टो यच्च श्रेय आचरति न तदंशे निकृष्टः । शास्त्रानुकूलमाचरणं तु निकृष्टादप्यादेयमेव शास्त्रविरुद्धशङ्कायामशिष्टाप्रतिषिद्धे वा मन आत्मा च यत्सहर्षमभ्युपगच्छेत्स्वीकुर्वीत तदाचरणीयं न सर्वमिति ॥

भाषार्थः—(यदि, स्त्री) यदि कोई स्त्री (यद्यवरजः) अथवा यदि कोई अपने से छोटा वा शूद्र (किञ्चित्, श्रेयः) कुछ कल्याणकारी धर्मयुक्त काम

(समाचरेत्) करे (यत्र, वा, अस्य, मनः, रमेत्) अथवा जिस स्त्री शूद्र के किये वा अन्य धर्म कार्य में मन संतुष्ट हो (तत्सर्वम्, युक्त आचरेत्) उस सब को कर्त्तव्य समझ तत्पर हो अवश्य सेवन करे ॥

भा०—यह सामान्य परक कथन है केवल ब्रह्मचारी के लिये नहीं । उस में विशेष यह है कि किस अवसर में किस से कैसी शिक्षा कौन लेवे । सब आश्रमों वाले ब्राह्मणादि को चाहिये कि मैं उत्तम पुरुष हो कर निकृष्ट से उपदेश ग्रहण क्यों करूं ऐसा अभिमान न करे क्योंकि उत्तम आचरण किसी के घर के नहीं हैं । वह मनुष्य नाममात्र से वा किसी अंश में निकृष्ट भले ही हो पर जो श्रेष्ठ काम करता है उस अंश में वह नीच नहीं । और शास्त्रानुकूल धर्मकी शिक्षा तो नीच से भी सीखनी ही चाहिये तथा शास्त्रविरुद्ध होने की शङ्का में वा सिद्ध कर्त्तव्य का विधि निषेध शास्त्र में न हो ऐसे कर्म को करने के लिये यदि मन और आत्मा ग्लानि रहित हर्षपूर्वक करने को स्वीकार करे तो करना चाहिये और जिस में ग्लानि वा उदासीनता रहे वैसा काम स्त्री शूद्रादि से सीख के भी न करे ॥ २२३ ॥

धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च ।
अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः ॥२२४॥

अ०—धर्मार्थौ धर्मो विधिप्रतिषेधरूपस्तत्सेवनमर्थश्च भूमिहिरण्यरजतादिरूपस्तदुपार्जनं श्रेयउच्यतइति केचिन्मन्यन्ते । कामार्थौ कामः स्त्रीसंभोगोऽर्थउक्तरूपस्तत्सेवनं श्रेयइत्यन्ये, धर्मएव केवलः श्रेयइत्यन्ये, इह लोकेऽर्थएव वा श्रेयस्करो धर्मकामयोरपि हेतुरित्यन्ये । मनुमते तु त्रिवर्गो धर्मार्थकामात्मकः पररुपरमविरुद्धः श्रेयस्कर इति स्थितिः ॥

भा०—अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयत इत्युक्तम्, परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जिताविति च चतुर्थे वक्ष्यति । तस्माद्धर्मएव प्रथमकक्षायां सर्वस्मादुत्तमः केवलधर्मस्य सेवनइहामुत्र वा दुःखलेशोऽपि न सम्भवति ।

सर्वोहि जनः प्रतिक्षणं सुखाय धावति दुःखं च जिहासति श्रेयः सुखं चेत्यनर्थान्तरम्। तदर्थं मतान्तराणि प्रदर्श्य त्रिवर्गः सुखहेतुरिति स्वसिद्धान्त उक्तो मनुना। तस्मात्संसारसागरतरङ्गेषु विचरता पुरुषेण धर्मएव नौकात्वेनाश्रयणीयस्तदनुकूलोऽर्थः कामश्च सेव्यः। तदा सुखप्राप्तौ सन्देहो दुःखाद्भयं वा न सम्भवति ॥ २२४ ॥

भाषार्थः-(धर्मार्थौ) विधि निषेधरूप धर्म का सेवन और पृथिवी सोना चांदी आदि रूप अर्थ का उपार्जन मनुष्य के लिये (श्रेयउच्यते) सुख वा कल्याण का हेतु कहाता ऐसा कोई लोग मानते हैं (कामार्थौ) स्त्रीसंभोग और धन मनुष्य के सुख का हेतु है ऐसा कोई मानते (च) तथा (धर्मएव)कोई लोग केवल धर्म को ही मनुष्य का इष्टसाधक मानते (वा) अथवा (इह) इस जगत् में (अर्थएव) धर्म वा कामभोग का भी साधन होने से केवल धन ही मनुष्य के इष्ट का साधक है ऐसा मानते हैं ये सब अन्य २ विद्वान् ऋषियों के मत दिखा कर भृगु जी मनु जी का सिद्धान्त कहते हैं कि (त्रिवर्गइति तु स्थितिः) परस्पर अविरुद्ध वा धर्मानुकूल ही अर्थ काम भी हों तो मनुष्य को सब प्रकार का सुख जगत् में प्राप्त हो सकता है ॥

भा०-"जो लोग धन तथा कामभोग में लिप्त नहीं हैं उन के लिये शास्त्र में धर्मज्ञान कहा गया है" यह पूर्व इसी अध्याय में कहा और " धर्म चाहने वाला पुरुष धर्म रहित धन वा कामभोग का त्याग कर देवे " यह आगे चौथे अध्याय में कहें गे। इस कारण सब से उत्तम कक्षा में धर्म ही उत्तम है। क्योंकि केवल धर्म के सेवन में इस जन्म वा जन्मान्तर में दुःख का लेश भी प्राप्त होना सम्भव नहीं है। सभी मनुष्य प्रतिक्षण सुख के लिये उपाय शोधते करते वा दौड़ते तथा दुःख को छोड़ना चाहते हैं। इस लिये यहां अनेक लोगों के भिन्न २ मत दिखा कर परस्पर अविरुद्ध धर्मानुकूल तीनों ही सुख के हेतु हैं यह मनु का सिद्धान्त कहा गया है। इस लिये संसाररूप समुद्र की तरङ्गों में भ्रमते हुए पुरुष को नौका के स्थानी धर्म का ही आश्रय लेना चाहिये तथा धर्म के अनुकूल ही धन वा काम का सेवन करे तो सुख की प्राप्ति में सन्देह और दुःख से भय नहीं हो सकता ॥ २२४ ॥

आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः
नार्त्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः ॥२२५॥

अ०—आचार्यो विद्यादाता पिता स्वस्य जनको माता जननी पूर्वजो ज्येष्ठो भ्राता चैते ब्राह्मणेन ब्राह्मणादिना पुरुषेणार्त्तेन तैः पीडितेनापि विशेषतो नावमन्तव्याः सामान्यतयातु कोऽपि नावमन्तव्यो यथोचितं सर्वैः सह विनयेनैव वर्त्तितव्यम् ॥

भा०—अत्र ब्राह्मणग्रहणमुपलक्षणार्थम्। एषां कदाप्यवमानं न कार्यमिति विहितो धर्मएव। पूर्वमप्याचार्यादीनां शुश्रूषणं यथास्थानं विहितमत्र त्वर्थवादेन तस्य प्राधान्यं प्रदर्श्यते। अनवमता अशुश्रूषिता अप्येते स्वभावेनैव हिताहितशिक्षामादित्सोर्नववयस्कबालस्यान्यापेक्षयाऽधिक्येन हितं कर्त्तुं यतन्ते यस्तु तान् यथावत् शुश्रूषते यस्योपरि च विशेषतः प्रसीदन्ति तस्य तु सर्वोपायैर्हितमेव कुर्वन्ति तस्य च सफलं जन्म जायते। मातृमान् पितृमानाचार्यवान पुरुषो वेदेत्यस्याप्ययमेवाशयः। ये च मात्रादिविरुद्धा अन्यमित्राः पूर्वं वयसि भवन्ति न च तेषां मात्रादिसमं हितमन्यइच्छन्त्युपदिशन्ति वा तस्मान्न ते मात्रादिमन्तः। एवं मात्रादिसेवनं परमो धर्मइति ॥ २२५ ॥

भाषार्थः—(आचार्यः) वेद विद्या पढ़ाने वाला गुरु (पिता) अपना उत्पादक पिता (माता) माता (पूर्वजः, भ्राता) अपना ज्येष्ठ सहोदर भाई इन सब को (ब्राह्मणेन) ब्राह्मणादि पुरुष को (आर्त्तेनापि) उन से पीड़ित होने पर भी (विशेषतः) विशेष कर (नावमन्तव्याः) अपमान नहीं करना चाहिये अर्थात् सामान्य कर तो किसी का अपमान न करे और इन का तो विशेष कर कभी भी अपमान न होने देवे ॥

भा०—यहां ब्राह्मण शब्द उपलक्षणार्थ है। इन आचार्यादि का कभी अपमान न करना चाहिये यह भी विधिवाक्य धर्म ही है। इस से पहिले भी आचार्यादि की शुश्रूषा कही है पर यहां अर्थवाद के सहित उन के सेवन की अधिक प्रधानता दिखाते हैं। यदि अपमान और शुश्रूषा दोनों ही न किये जांय तो भी ये आचार्य आदि स्वभाव से ही हिताहित शिक्षा का ग्रहण करना चाहते हुए नयी अवस्था के पुत्र वा शिष्य का अन्य सब की अपेक्षा अधिक हित करने का प्रत्यय करते हैं तो जो बालक अपने गुरु वा माता पिता की शुश्रूषा करता है और जिस पुत्र वा शिष्य पर ये प्रसन्न हो जाते हैं उस का तो अधिक तर सब उपायों से हित ही करते हैं इस से उस का जन्म सफल हो जाता है। "माता पिता और गुरु जिस के प्रशस्त प्रेमी हितैषी हों वह ज्ञानवान् होता" इस उपनिषद् के वचन का भी यही अभिप्राय है। जो मातादि की सेवा शुश्रूषा नियमानुसार नहीं करता जिस की भक्ति से माता पिता गुरु संतुष्ट हो कर हित नहीं चाहते वह मातृमान् पितृमान् और आचार्यवान् भी नहीं उस को मातादि से शिक्षाद्वारा ज्ञान भी नहीं मिल सकता। इस कारण जो माता पिता आचार्य से विरुद्ध रह कर पहिली अवस्था में अन्य बराबर के लड़कों से मित्रता गोष्ठी करते हैं उन का मातादि के तुल्य अन्य लोग न हित करते न करना जानते न उन को अच्छा उपदेश मिलता है जैसे अन्धा अन्धे को मार्ग नहीं बता सकता वैसे उन मित्रों से उपकार के बदले अपकार ही होता बुराई कुकर्म सीख जाते हैं इस कारण बाल्यावस्था में सब को चाहिये कि बराबर वालों के साथ की गोष्ठी को त्याग माता पिता तथा गुरु की सेवा करें और उन से ज्ञानशिक्षा प्राप्त कर योग्य बनें ॥ २२५ ॥

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्त्तिः पिता मूर्त्तिः प्रजापतेः ।
माता पृथिव्या मूर्त्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्त्तिरात्मनः ॥

अ०—आचार्यो ब्रह्मणो वेदस्य मूर्त्तिः स्वरूपं पिता प्रजापतेः सृष्टिकर्त्तुः स्वरूपं माता पृथिव्या मूर्त्तिः स्वरूपं भ्राता च ज्येष्ठः स्वस्यैव मूर्त्तिः स्वरूपमेकांशेनैवोभयोः सम्भवात् ॥

भा०—अर्थवादोऽयमुक्तविधेः । आचार्यस्यावमाने विद्यायाएवावमानं जायते तस्य परिचरणे च विद्याया वेदस्यैव

परिचरणम् । पितुरवमाने सृष्टिकर्त्तुरेवावमानं मातुरवमाने स्वाधारस्य पृथिव्याएवानपेक्षा तदा क्व कथं वा स्थितिस्सम्भवित्री भ्रातुरवमाने च स्वस्यैव देहांशस्यापमानं जायते यश्चैतानाद्रियते स विद्यादीनां भाजनं सृष्टिकर्त्तुः प्रियः पृथिवी तं धारयति बहुकालं सुखेन जीवति सर्वाङ्गसम्पन्नः सुखं निवसति ॥ २२६ ॥

भावार्थः—(आचार्यो ब्रह्मणोमूर्त्तिः) आचार्य गुरु वेदरूप विद्या की मूर्त्ति-स्वरूप है (पिता प्रजापतेर्मूर्त्तिः) प्रजापति नाम सृष्टिकर्त्ता का स्वरूप पिता है (मातापृथिव्यामूर्त्तिः) माता पृथिवी का स्वरूप हमारा आधार है और (स्वोभ्राताऽऽत्मनः, मूर्त्तिः) अपना ज्येष्ठ भाई अपना ही स्वरूप है क्योंकि दोनों का शरीर एकांश से ही बना है ॥

भा०—पूर्वोक्त विधि का यह अर्थवाद है । गुरु का अपमान होने पर वेदविद्या का अपमान होता और गुरु के सेवन में वेदविद्या का ही सेवन होता, पिता के अपमान में सृष्टिकर्त्ता का ही अपमान है जिस ने अपने उत्पादक का ही मान्य न किया वह सब के उत्पादक को क्या मानेगा । माता के अपमान में पृथिवी की ही अपेक्षा न रही तो वह कहां वा कैसे स्थित रह सकेगा । और भ्राता के अपमान में अपने देहांश हाथ पग आदि का अनादर वा अनपेक्षा हो गयी तो कैसे चले फिरेगा । और जो इन का आदर करता है वह विद्यादि का भाजन सृष्टिकर्त्ता का प्रिय होता पृथिवी उस को धारण करती बहुत काल जीवित रहता सर्वाङ्ग सम्पन्न रह कर सुख से निवास करता है ॥ २२६ ॥

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते संभवे नृणाम् ।
न तस्य निष्कृतिःशक्या कर्त्तुं वर्षशतैरपि ॥२२७॥

अ०-नृणामपत्यानां सम्भव उत्पत्तौ पालने च मातापितरौ यं यादृशं वा क्लेशं सहेते तस्य निष्कृतिः प्रत्युपकाररूपं प्रायश्चित्तं तैः सन्तानैर्वर्षशतैरपि कर्त्तुं न शक्या ॥

भा०—नवमासगर्भधारणेन प्रसवकाले च प्राणहरपीडयाऽनन्तरं च पालनेन यादृशं दुःखं माता सहते, महता

प्रयासेनान्नधनादीनुपार्ज्य बाल्ये संरक्षणेनोपनयनादारभ्य वेदवेदाङ्गाध्यापनहिताहितशिक्षणादिकर्मसु च यादृशं दुःखं पिताऽपत्यं समर्थयन् सहत तस्य स्वोपकाररूपस्य पुत्रैर्बहुजन्मकृतप्रत्युपकारेणाप्यानृण्यं कर्त्तुं न शक्यते किंपुनरेकेन जन्मना, तयोरपमाने तु महत्पापमिति ॥ २२७ ॥

भाषार्थः-(नृणाम्, सम्भवे) सन्तानों के उत्पन्न पालन पोषण शिक्षणादि करने में (मातापितरौ) माता पिता (यम्, क्लेशम्, सहेते) जिस वा जैसे क्लेश दुःख को सहते भोगते हैं (तस्य) उस उपकार का (निष्कृतिः) प्रत्युपकाररूप प्रायश्चित्त (वर्षशतैरपि) सन्तानों से सैकड़ों वर्षों में भी (कर्त्तुम्, न शक्या) कर सकना सम्भव नहीं ॥

भा०-नौ महिने गर्भ में धारण करने, प्रसूति के समय प्राणघाती कष्ट भोगने और पीछे चार पांच वर्ष तक पालने में जैसा दुःख माता सहती तथा बड़े कठिन परिश्रम से अन्न धनादि का उपार्जन कर बाल्यावस्था में रक्षा करने और उपनयन संस्कार के पश्चात् वेद वेदाङ्ग पढ़ाने तथा हिताहित की शिक्षादि कर्मों में सन्तान को समर्थ करता हुआ पिता जैसे दुःख को सहता भोगता है उस उपकार का पुत्रों से बहुत जन्मों में किये प्रत्युपकार से भी जब बदला पूरा नहीं हो सकता तो एक जन्म की सेवा से क्या होगा। इसी कारण उन का अपमान होने वा करने में बड़ा पाप है ॥ २२७ ॥

तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा ।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ॥२२८॥

अ०-तस्मात्सर्वदा यावज्जन्मनित्यं प्रतिदिनं तयोर्मातापित्रोराचार्यस्य च प्रियं कुर्यान्नतु कियत्कालिकपरिचरणेनानृण्यं मन्येत तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु परिचरणेन तोषितेषु सर्वं तपः सर्वाश्रमसाध्यं धर्मकृत्यं समाप्यते नान्यत्कर्त्तव्यमवशिष्यते ॥

भा० तेषां मात्रादीनां शुश्रूषणत्यागेन यावद्ऋणरूपं पापं शिष्यते न ततोऽधिकं पुण्यमन्यकर्मणा संपादयितुं शक्यतेऽपितु ततोऽतिन्यूनमेव पुण्यमुपार्जयितुं शक्नोति तथासति नैव कथंचिद्ऋणान्मुच्यते तेषां तु परिचरणाद्ऋणमुक्त्यनन्तरं तदाशीर्वादजन्यं पुण्यमपि संचीयते तथासति निष्पापो धर्मिष्ठः सुखमेधते ॥ २२८ ॥

भाषार्थः—इस लिये (सर्वदा) जीवन पर्यन्त (नित्यम्) प्रति दिन (तयोः) उन दोनों माता पिता का (च) और (आचार्यस्य) गुरु का (प्रियम्, कुर्यात्) प्रियाचरण करे किन्तु कुछ थोड़े काल की सेवा से अपने को उऋण हुआ न मान लेवे (तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु) अपनी सेवा से उन तीनों के सन्तुष्ट प्रसन्न हो जाने पर (सर्वम्, तपः) सब आश्रमों में करने योग्य तप (समाप्यते) पूरा हो जाता है फिर कुछ भी कर्त्तव्य शेष नहीं रहता ॥

भा०—उन मातादि की शुश्रूषा के छोड़ देने से जितना ऋणरूप पाप सन्तान पर शेष रहता है उस से अधिक पुण्य वह अपने जीवन भर में अन्य कर्म के सेवन से नहीं कर सकता किन्तु उस से कम ही पुण्य का संचय कर सकता है ऐसा होने पर ऋण से किसी प्रकार नहीं छूटता । और मातादि की सेवा करने से ऋण से छूट कर उन के आशीर्वाद से होने वाला पुण्य भी संचित हो जाता है ऐसा होने पर शुद्ध निष्पाप हुआ धर्म में रह कर सुख से बढ़ता है ॥२२८॥

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते ।
न तैरभ्यननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् ॥२२९॥

अ०—तेषां मात्रादित्रयाणां शुश्रूषा शास्त्रे विद्वद्भिः परमं तपउच्यते । तैरभ्यननुज्ञातस्तेषामाज्ञया विना तत्सेवातोऽन्यं धर्मं न समाचरेदाज्ञां प्राप्य त्वाचरेदिति ॥

भा०—तेषामाज्ञया यदन्यधर्मस्याचरणं तदपि तेषां परिचरणमेव पुत्रस्य शिष्यस्य वा तदनुकूलतायामेव सर्वविधेष्टसिद्धिः सम्भवति । यदा च ते सर्वथा सेवनेन तुष्य-

न्ति जानन्ति च नास्मदाज्ञामन्तरेण किमपि करोतीति तदा येनयेन कर्मणा तस्य हितं श्रेयो वा पश्यन्ति तत्तदाज्ञया कारयन्त्येवेदमेव प्रीतेः फलं बोध्यम् ॥ २२९ ॥

भाषार्थः-(तेषां त्रयाणाम्, शुश्रूषा) उन मातादि तीनों की शुश्रूषा करना शास्त्र में विद्वानों ने (परमं तप उच्यते) बड़ा तप कहा वा माना है (तैरभ्यनुज्ञातः) उन मातादि की आज्ञा पाये विना (अन्यंधर्मंनसमाचरेत्) उन की सेवा से भिन्न अन्य धर्म न करे किन्तु आज्ञा पा कर तो अन्य भी धर्म भले ही करे ॥

भा०-उन मातादि की आज्ञा से जो अन्य धर्म का आचरण करना है वह भी उन की सेवा ही जानो। उन तीनों के सर्वथा सर्वदा अनुकूल रहने पर पुत्र वा शिष्य को सब प्रकार की इष्टसिद्धि हो सकती है। जब वे सेवा से सर्वथा सन्तुष्ट वा प्रसन्न होते और जानते हैं कि यह हमारी आज्ञा के विना कुछ नहीं करता तब जिस २ कर्म से उस का हित वा श्रेय देखते हैं वह २ काम आज्ञा दे कर भी कराते ही हैं यही प्रीति का फल जानो ॥ २२९ ॥

तएव हि त्रयो लोकास्तएव त्रय आश्रमाः। तएवहि त्रयोवेदास्तएवोक्तास्त्रयोऽग्नयः २३०

अ०-त्रयो लोका भूर्भुवःस्वर्नामकास्तएव मात्रादयः सन्ति त्रयआश्रमा गृहस्थादयस्तएव, त्रयो वेदा ऋगादिनामका वेदस्य काण्डरूपविषयत्रयं तएव तथा तएव चाहवनीयादयस्त्रयोऽग्नयउक्ताः। यद्यल्लोकादिभिः फलमाप्तुं शक्यते तत्तत्सर्वं तत्सम्बन्धात्सम्भवति ॥

भा०-गृहस्थाद्याश्रमसाध्यधर्मस्यकर्मोपासनाज्ञानमिति वेदकाण्डत्रयसाध्यधर्मस्य च यत्फलं तत्सर्वं मात्रादित्रयपरिचरणेन प्राप्यमिति कारणाद्भेदान्वयेन वर्णनम् २३०

भाषार्थः-(तएवत्रयोलोकाः) भूर् भुवर् और स्वर् लोक ये ही तीनों हैं (त्रय आश्रमास्तएव) तीनों आश्रम गृहस्थादि ये ही हैं (तएवत्रयोवेदाः) ऋगादि नामक तीनों वेद अर्थात् वेद के तीनों काण्डरूप विषय ये ही हैं और (तएवो-

क्तास्त्रयोऽग्नयः) वे ही आहवनीयादि तीनों अग्नि कहे हैं जो उन २ लोक आदि से फल प्राप्त हो सकता है वह २ सब मातादि तीनों के सेवन से सम्भव है ॥

भा०—गृहस्थादि आश्रमों से साध्यधर्म का तथा कर्म उपासना ज्ञानरूप वेद के तीन काण्डों से साध्यधर्म का जो फल है वह सब मातादि तीनों के सेवन से प्राप्त हो सकता है इस कारण अभेदान्वय के साथ वर्णन किया जाता है। अर्थात् जो प्राणी वा वस्तु जिसका सा काम वा फल देने वाला होता है उस को वैसे स्वरूप वा नाम से वर्णन करने की चाल ही है ॥ २३० ॥

पिता वैगार्हपत्योऽग्निर्माताऽग्निर्दक्षिणः स्मृतः।
गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी ॥२३१॥

अ०—तएवोक्तास्त्रयोऽग्नयइत्यस्य विभागं दर्शयति। गार्हपत्याग्नौ नैत्यिकहोमानुष्ठानेन यादृशं फलं तादृशं पितुः सेवनाल्लभ्यते। वानप्रस्थे दक्षिणाग्नौ होमादेर्यत्फलं तन्मातुः सेवनात्प्राप्यम्। ब्रह्मचर्यकाले आहवनीयाग्नौ होमानुष्ठानस्य यत्फलं तच्च गुरोः सेवनाल्लभ्यते सा मात्राद्यग्नित्रयसेवा गार्हपत्याद्यग्निसेवातो गरीयस्यस्ति ॥

भा०—आश्रमत्रयस्याग्नित्रये यद्धर्मकृत्यं तत्समं फलमाश्रमत्रयसेवनमन्तरेणाप्यवस्थात्रये जन्मावधि पित्रादिसेवनेनापि प्राप्तुं शक्यते। स्तुत्यर्थोऽयमर्थवादः ॥ २३१ ॥

भाषार्थः—पूर्व श्लोक में कहे (तएवोक्तास्त्रयोऽग्नयः) का इस में विभाग के साथ व्याख्यान किया है (पितावैगार्हपत्योऽग्निः) गार्हपत्य अग्नि में नित्य होम के अनुष्ठान से जो फल हो सकता वैसा फल पिता के सेवन से प्राप्त होता (मातााग्निर्दक्षिणः स्मृतः) वानप्रस्थाश्रम के दक्षिणाग्नि में होमादि का जो फल है वह माता के सेवन से प्राप्त हो सकता और (गुरुराहवनीयस्तु) ब्रह्मचर्य काल में आहवनीयाग्नि में होमानुष्ठान का जो फल है सो गुरु की सेवा से प्राप्त हो सकता है (साग्नित्रेता गरीयसी) उन गार्हपत्यादि की अपेक्षा उन माता पिता गुरुरूप तीनों अग्नि का सेवन अति श्रेष्ठ है॥

भा०-तीन अग्नियों में तीन आश्रम का जो धर्मकृत्य है उस के तुल्य ही फल तीन अवस्थाओं में जन्मभर तीन आश्रम का सेवन किये विना भी पितादि के सेवनमात्र से हो सकता है। यह सब स्तुति के लिये अर्थवाद है ॥ २३१ ॥

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान् विजयेद् गृही।
दीप्यमानः स्ववपुषा देववद्दिवि मोदते ॥२३२॥

अ०-गृही कृतदारपरिग्रहोऽपि जनो ब्रह्मचर्यस्थएव वा त्रिष्वेतेष्वप्रमाद्यन् प्रमादत्यागेन परिचरन् वक्ष्यमाणप्रकारेण त्रींल्लोकान् विजयेत्। स्ववपुषा शरीरेण दीप्यमानः शुद्धो निर्मलः सत्त्वतेजोन्वितो दिविलोके देववन्मोदते हर्षमाप्नोति ॥

भा०-यथा कश्चिद्विद्याबुद्धिप्रभुत्वादिप्राबल्याद् ग्रामादौ लब्धप्रतिष्ठ आधिपत्यमाप्नोति ग्रामस्तेन विजितइति कथ्यते तथैव लोकत्रये प्राधान्यमाधिपत्यं च प्राप्नोति श्रीमन्तोऽपि प्रायेण दीप्यमानाइव लक्ष्यन्ते। तथैवायमपि वित्तेन विद्यया बलेन तेजसा रूपेण प्रतिष्ठया च प्रकाशितो भवतीति ॥ २३२ ॥

भाषार्थः-(गृही) किसी स्त्री के साथ विवाह किया हुआ पुरुष वा ब्रह्मचारी भी (त्रिष्वेतेष्वप्रमाद्यन्) प्रमाद भूल को छोड इन मातादि तीनों का सेवन करता हुआ आगे कहे प्रकार से (त्रींल्लोकान्विजयेत्) तीनों लोक को जीत लेता है। (स्ववपुषा) अपने शरीर से (दीप्यमानः) शुद्ध निर्मल सत्त्वगुण सम्बन्धी तेज से प्रकाशमान (दिवि) उत्तमैश्वर्यसंयुक्त स्थान वा घर महल आदि में (देववत्) देवताओं के तुल्य (मोदते) आनन्द भोग करता है॥

भा०-जैसे कोई विद्या बुद्धि और प्रभुत्वादि की प्रबलता से ग्रामादि में प्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ स्वामित्व को प्राप्त होता उस ने उस ग्राम को जीत लिया ऐसा कहा जाता है वैसे ही वह तीनों लोक में प्रधानता वा स्वामित्व को प्राप्त होता है। श्रीमान् लोग प्रायः प्रकाशित ही दीखते हैं। वैसे यह गुरु आदि का सेवक भी विद्या बुद्धि बल तेज और रूप वा प्रतिष्ठा से प्रकाशित होता है॥

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम् ।
गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥२३३॥

अ०—मातृभक्त्या मातुः सेवनाधिक्येनेमं पृथिवीलोकं, पितृभक्त्या मध्यममन्तरिक्षस्थं चन्द्रादिलोकं विजयते। एवं गुरुशुश्रूषया तु ब्रह्मैव लोको लोक्यस्तं समश्नते तत्सम्बन्धजन्यं सुखमनुभवति ॥

भा०—नहि युगपत्सर्वान् विशेषपरिचरणेन तोषयितुं कोपि शक्नोति तस्माद्यं विशेषेण शुश्रूषते तत्सम्बद्धमेकविधमेव सुखं विशेषेणानुभवति । मातृसेवनेन पार्थिववस्तुसम्बद्धं पितृसेवनेनाप्यवस्तुसम्बद्धं, गुरुशुश्रूषाविशेषेण च सत्त्वप्रकाशसम्बद्धं विशिष्टं सुखमनुभवितुं योग्यो जायते॥२३३॥

भाषार्थः—(मातृभक्त्या) माता की अधिक सेवा करने से (इमं लोकम्) इस पृथिवी लोक को (तु) और (पितृभक्त्या) पिता की भक्ति विशेष करने से (मध्यमम्) बीच के चन्द्रादि लोक को जीत लेता है (एवम्) इसी प्रकार (गुरुशुश्रूषयातु) गुरु की विशेष शुश्रूषा करने से तो (ब्रह्मलोकम्) जानने वा देखने योग्य ब्रह्म परमात्मा के सम्बन्ध से होने वाले सुख का (समश्नुते) अनुभव करता है ॥

भा०—कोई पुरुष अपने विशेष सेवन से मातादि को एक काल में संतुष्ट नहीं कर सकता इस कारण जिस की विशेष शुश्रूषा करता है उस सम्बन्धी एक प्रकार के सुख का एक काल में विशेष अनुभव कर सकता है । तात्पर्य यह है कि माता के सेवन से पार्थिव वस्तुओं से संबन्ध रखने वाले सुख को, पिता की सेवा से अप्तत्त्व वा सोम सम्बन्धी कामादि सुख को और गुरु की शुश्रूषा विशेष करने से सत्त्वप्रकाश सम्बन्धी विशेष सुख का अनुभव करने योग्य होता है ॥२३३॥

सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः ।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥

अ०—तस्य शिष्यस्य पुत्रस्य वा सर्वे धर्मा आदृताः शुभफला भवन्ति यस्यैते मात्रादयस्त्रय आदृताः सत्कृतास्तुष्टा भवन्ति यस्य चैते त्रयोऽनादृतास्तस्य सर्वा धर्म्यक्रिया अफला निष्फलाइव भवन्ति ॥

भा०—यथानिर्मूलं किमपि न रोहतेऽमूलं निकृष्टमूलं च न शोभते क्रियमाणमप्यकृतमिव जायते। अनादरेण कस्यापि भुक्तमन्नमभुक्तमिव भवति। तथा मात्रादिसेवनेन यज्ज्ञानं प्राप्यते तदेव सर्वधर्माणां मूलं तादृशज्ञानमन्तरा सेव्यमाना अप्यन्यधर्मास्तादृशाल्पफला निकृष्टफला वा भवन्ति ये मात्रादिसेवनज्ञानजन्यसाफल्यापेक्षया निष्फला एव वक्तुं शक्यन्ते ॥ २३४ ॥

भाषार्थः—(तस्य) उस शिष्य वा पुत्र के (सर्वे धर्मा आदृताः) सब धर्म आदर को प्राप्त हुए शुभफल देने वाले होते हैं कि (यस्यैते त्रय आदृताः) जिस की सेवा से मातादि तीनों सन्तुष्ट हो जावें और (यस्यैते) जिस के सेवन से (अनादृतास्तु) ये मातादि सन्तुष्ट न हो कर अनादर को प्राप्त हों (सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः) उस के सब कर्त्तव्य निष्फल निरर्थक से हो जाते हैं ॥

भा०—जैसे निर्मूल कुछ नहीं उगता, निर्मूल वा निकृष्ट मूल वाला शोभित नहीं होता किया हुआ भी काम विना किया सा हो जाता है। अनादर से किसी का अन्न खाया न खाया सा होता है वैसे मातादि के सेवन से जो ज्ञान मिलता है वही सब धर्मों का मूल है वैसे ज्ञान के विना, सेवन किये हुए भी अन्य धर्म ऐसे अल्प वा निकृष्ट फल वाले होते हैं कि जो मातादि के सेवन से हुए ज्ञान से होने वाली सफलता की अपेक्षा निष्फल ही कहे जा सकते हैं ॥ २३४ ॥

यावत्त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत् ।
तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात्प्रियहितेरतः २३५

अ०—यावत्कालं ते मात्रादयस्त्रयो जीवेयुस्तावत्तदाज्ञाविरुद्धं तत्सेवायां विघ्नकरमन्यं धर्मं वा न समाचरेदपितु

तेषां प्रिये हिते च कर्मणि रतस्तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात् ॥

भा०–अधर्मं कारयितुमाज्ञापकानां शिष्याः पुत्रा वा धर्मेण परिचारकाएव न भविष्यन्ति। धर्मेण परिचरणशीलान्नकोप्यधर्मं कारयितुमाज्ञां ददाति नचैतद्दृष्टं श्रुतं वा यतो धर्मात्मनामेव मातापितृगुरुशिष्याणामयं पूज्यपूजकभावः। मात्रादिजीवनकालावधिस्वातन्त्र्येण तत्सेवां विहाय नान्यं धर्ममाचरेत्। तदाज्ञया तेषामेव तुष्टिकरं तु धर्म्यं सन्ध्योपासनादिकं कार्यमेव। धर्मात्मानस्तु धर्मकरणेनैव विशेषतस्तुष्यन्ति॥ २३५ ॥

भाषार्थः–(यावत्, ते, त्रयः, जीवेयुः) जब तक मातादि तीनों जीवते रहें (तावत्कार्यं समाचरेत्) तब तक उन की आज्ञा से विरुद्ध वा उन की सेवा में विघ्नकारी अन्य धर्म न करे किन्तु उन के (प्रियहिते, रतः) प्रिय और हित करने में तत्पर शिष्य (तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात्) उन्हीं के समीप में रह कर नित्य सेवा वा शुश्रूषा करे ॥

भा०–अधर्म की आज्ञा देने वालों के शिष्य वा पुत्र धर्मानुकूल सेवक ही न होंगे। और जो धर्मानुकूल सेवक होते हैं उन को अधर्म कराने की आज्ञा भी कोई नहीं देता ऐसा कभी देखा सुना भी नहीं गया और धर्मात्मा माता पिता तथा गुरु शिष्यों का ही यहां सेव्य सेवक व्यवहार दिखाया गया है अधर्मियों का नहीं इस से मातादि अधर्म की आज्ञा दें तो क्या करे यह प्रश्न नहीं हो सकता। मातादि के जीवनकाल पर्यन्त उन की सेवा को छोड़ अन्य धर्म न करे परन्तु उन की आज्ञा से उन्हीं के सन्तोषजनक सन्ध्योपासनादि कर्म अवश्य करे धर्मात्मा लोग अपने स्वभाव से ही धर्म करने वाले पर प्रसन्न होते हैं ॥ २३५ ॥

तेषामनुपरोधेन पारत्र्यं यद्यदाचरेत् ।
तत्तन्निवेदयेत्तेभ्यो मनोवचनकर्मभिः ॥ २३६ ॥

अ०–तेषां मात्रादीनामनुपरोधेन शुश्रूषाया अविरोधेन मनोवचनकर्मभिर्यद्यत्पारत्र्यं परत्रजन्मान्तरे फलप्रदं

धर्म्यं कर्माचरेत्तत्तत्तेभ्यो मात्रादिभ्यो निवेदयेत्तान् ज्ञापयेत् ॥

भा०-कश्चिच्छिष्यः पुत्रो वाऽधर्मं धर्मं मत्वाऽज्ञानेनाचरेदित्यपि सम्भवति । तस्मात्तेभ्यो निवेदनमावश्यकमिदं कर्मेत्थं मया कृतं क्रियते करिष्यते वा तत्कीदृशमिति तदनुमतिं विज्ञातुं निवेदयेत् ॥ २३६ ॥

भाषार्थः-(तेषामनुपरोधेन) उन मातादि की सेवा से अविरुद्ध (पारत्र्यम्) जन्मान्तर में सुखदायी धर्मसम्बन्धी (यद्यदाचरेत्) जो २ काम (मनोवचनकर्मभिः) मन वाणी वा शरीर से करे (तत्तत्तेभ्यो निवेदयेत्) वह २ उन मातादि को जता देवे ॥

भा०-कोई शिष्य वा पुत्र अज्ञान से अधर्म को धर्म मान के करे यह भी सम्भव है इस से उन को निवेदन करना आवश्यक है कि यह काम ऐसा मैंने किया करता हूं वा करूंगा सो कैसा काम है इस प्रकार उन मातादि की अनुमति जानने के लिये निवेदन करे ॥ २३६ ॥

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते ।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्यउच्यते ॥२३७॥

अ०-एतेषु त्रिषु सेवनेन पुरुषस्य सर्वमितिकृत्यं समाप्यते नच किमपीष्टसाधकं कर्त्तव्यं धर्म्यं कर्मावशिष्यते । तस्मादेवैष साक्षात्परः प्रकृष्टो धर्मोऽस्ति । अतोऽन्यउपधर्मउच्यते ततोन्यूनोऽन्यो धर्मः कथ्यते ॥

भा०-यतः परमहितैषिणां सेवया संतुष्टानां धर्मज्ञधर्मप्रियमातापित्राचार्याणां शिक्षैव सर्वकर्त्तव्यज्ञानस्य मूलं मूले च सर्वशाखानां समावेशो भवत्येव तस्मात्तत्सेवया मूलज्ञानं सर्वेष्टसाधकं परमो धर्मः । धर्मात्मनामेव गुरुशिष्यादीनामत्र धर्मशास्त्रे वर्णनमतो गुरोर्मातुः पितुश्चाधर्माज्ञां न कुर्यादिति शङ्काया अत्र प्रवेशएव नास्ति कुतः समाधानम् ॥ २३७ ॥

भाषार्थः-(एतेषु, स्थि) इन तीनों की सेवा करने से ही (पुरुषस्य) मनुष्य को (इति कृत्य समाप्यते) सब इष्टसाधक कर्त्तव्य पूरा हो जाता है कुछ कर्त्तव्य शेष नहीं [illegible] इसी से (एष धर्मः परः साक्षात्) यह साक्षात् परमधर्म है (उपधर्मोऽन्यउच्य[illegible]इस से भिन्न उपधर्म है अर्थात् अन्य सब धर्म इस से छोटे हैं ॥

भा०-जिस कारण सेवा से सन्तुष्ट हुए परम हितैषी धर्मज्ञ धर्मप्रिय माता पिता और गुरु की शिक्षा ही सब कर्त्तव्यों को जानने का मूल है और मूल में सब शाखाओं का समावेश होता ही है इस कारण इन की सेवा से मूल ज्ञान करना सब इष्टों का साधक होने से परमधर्म है । इस धर्मशास्त्र में धर्मात्मा गुरु शिष्यादि का ही वर्णन है इस से गुरु वा माता पिता की आज्ञा अधर्मविषयक हो तो क्या करे इस शङ्का को अवकाश नहीं तो समाधान क्यों होता ॥२३७॥

श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि ।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥२३८॥

अ०-धर्मसेवने श्रद्दधान आस्तिकभावेनावरात्स्वतो निकृष्टवर्णादपि ब्राह्मणादिः शुभां विद्यामाददीत वेदादिशास्त्राणि ब्राह्मणः क्षत्रियात् क्षत्रियो वैश्याच्च ब्राह्मणाध्यापकाभावेऽधीयीत । अन्त्याच्चाण्डालादेरपि परं धर्ममाददीत, दुष्कुलाद्धीनक्रियादेर्निषिद्धकुलादपि स्त्रीरत्नं शीलसन्तोषरूपाचरणाद्युत्तमगुणसम्पन्नां स्त्रियमाददीतोद्वहेत ॥

भा०-धर्मशास्त्रेऽध्यापनं ब्राह्मणस्यैव कर्मोक्तं यदि क्वापि कदापि कस्यापि विद्याया अध्यापको ब्राह्मणो न मिलेत्तदा ब्राह्मणादिबालैः स्वतो निकृष्टवर्णादपि तत्तद्विद्याकुशलादध्येयम् । कोऽप्यन्त्योऽतिशूद्रादिरपि कस्मिन्नपि धर्मांशे विशेषज्ञः सम्भवति तस्मात्तत् शिक्षणीयम् । तृतीयस्य सप्तमे

दुष्कुलस्थयोद्वाहो निषिद्धस्तस्यायमपवादःस्त्रीरत्नं दुष्कुलस्थमप्युद्वहेत ॥ २३८ ॥

भाषार्थः-(अदृधानः) धर्मसेवन में श्रद्धा रखता हुआ (अश्रद्धाक भाव से (अवरादपि शुभां विद्यामाददीत) ब्राह्मणादि मनुष्य अ[illegible]ा निकृष्ट क्षत्रियादि से भी वेदादि शास्त्रों को पढ़लेवे अर्थात् ब्राह्मण अध्यापक के न मिलने पर ब्राह्मण क्षत्रिय वा वैश्य से क्षत्रिय वैश्य वा शूद्र से पढ़लेवे (अन्त्यादपि परं धर्मम्) नीच चाण्डालादि से भी उत्तम धर्माचरण सीखलेवे (स्त्रीरत्नम्, दुष्कुलादपि) और शील संतोष रूप और शुद्ध आचरणादि से उत्तम गुण युक्त स्त्री को धर्म कर्म हीन निकृष्ट निषिद्ध कुल से भी लेलेवे ॥

भा०-धर्मशास्त्र में अध्यापन ब्राह्मण का ही कर्म कहा है यदि कहीं कभी किसी विद्या का पढ़ाने वाला ब्राह्मण अध्यापक न मिले तो ब्राह्मणादि के बालक अपने से नीच वर्ण के पुरुष को भी गुरु मान कर विद्याध्ययन करें। कोई अतिशूद्रादि भी किसी धर्मांश में विशेषज्ञ हो सकता है वहां उस सीखले। अ० ३ के ७ में दुष्कुलस्य कन्या के साथ विवाह निषिद्ध है यह अपवाद है कि निकृष्ट कुल वाली भी उत्तम स्त्री से विवाह कर लेवे।

विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम्।
अमित्रादपिसद्वृत्तममेध्यादपिकाञ्चनम्।२३९।

अ०-विषादपि विषसंपृक्तमप्यमृतं ग्राह्यं बालादज्ञादपि सुभाषितं मृदुभाषणं शिक्षेत, अमित्राच्छत्रोरपि सद्वृत्तं सदाचारमादद्यादमेध्याद्विष्ठादिमलिनसंसर्गादपि काञ्चनं सुवर्णमाददीत ॥

भा०-नीतिगर्भितः सापेक्षोयं धर्मः। शुद्धादमृतालाभे विषादपि ग्राह्यममृतम्। यावत्प्रयोजनं शुद्धादमृतलाभे तु न ग्राह्यं विषलेशस्यापि ग्रहणसम्भवात्। एवं विज्ञात्सुभाषणलाभेऽज्ञान्न शिक्षेत तत्संसृष्टदोषत्यागासम्भवात्। मित्रात्सद्वृत्तलाभेऽप्यमित्रान्न ग्राह्यं सम्यक्प्रेमासम्भवात्।

एवममेध्यात्काञ्चनग्रहणेऽपि दुर्गन्धलेशत्यागः कर्त्तुमशक्यः। एवं मत्वैव चतुर्थे निकृष्टस्यान्नधनादीनां प्रतिग्रहो विस्तरेण प्रतिषिद्धः ॥ २३९ ॥

भाषार्थः—(विषादप्यमृतं,ग्राह्यम्) विष में भी मिले हुए अमृत का ग्रहण करले (बालादपि सुभाषितम्) अज्ञानी बालक से भी अच्छा कोमल भाषण सीखले (अमित्रादपि सद्वृत्तम्) शत्रु से भी अच्छा आचरण सीखले तथा (अमेध्यादपि काञ्चनम्) अपवित्र मलिन विष्ठादि में से भी सुवर्ण को निकाल लेवे ॥

भा०—यह नीति गर्भित सापेक्ष धर्म है। शुद्ध निर्विषस्थान से अमृत न मिले तो विष से भी लेलेवे। यदि अपने प्रयोजनमात्र शुद्ध पदार्थ से अमृत मिले तो विष से न लेवे क्योंकि विष के संग से अमृत में कुछ विष का भी अंश आना सम्भव है। ऐसे ही पण्डित से सुभाषण की शिक्षा मिले तो अज्ञानी से न ले क्योंकि अज्ञानी की शिक्षा के साथ कुछ दोष भी आने सम्भव हैं। मित्र से सदाचार मिले तो शत्रु से न लेवे क्योंकि उस में प्रीति वा तुष्टि न होगी। ऐसे अन्त से सुवर्ण लेने पर भी सर्वथा दुर्गन्ध का त्याग असम्भव है। ऐसा मान कर ही चौथे अध्याय में नीच से अन्न धनादि पदार्थ के दान लेने का विस्तार पूर्वक निषेध किया है ॥ २३९ ॥

स्त्रियोरत्नान्यथोविद्याधर्मःशौचंसुभाषितम् ।
विविधानिचशिल्पानिसमादेयानिसर्वतः॥२४०॥

अ०—स्त्रियो रत्नानि मणयो विद्या धर्मः शुभाचरणशिक्षा शौचं सुभाषितं विविधानि च शिल्पानि सर्वतो निकृष्टान्निन्दितात्कुलात्पुरुषाद्वा समादेयानि ॥

भा०—इदमपि नीतिगर्भितं वचो ब्राह्मणादितरक्षत्रियाद्यर्थम्। अत्रकेषाञ्चिदुक्तानामनुवादो विशेषता ख्यापनाय। आपत्काले ब्राह्मणोऽपि विद्याधर्मौ सर्वतः शिक्षेत। शिल्पादीनि तु ब्राह्मणकर्मधर्मतएव विरुद्धानि तानि चाददानस्य रत्नादिदानादानेनोपजीवतोवा ब्राह्मणत्वमेव स्था-

तुमशक्यमतोऽन्यार्थम् । जनयित्वा सुतं तस्यां ब्राह्मण्यादे-हीयतइत्युक्तं च तृतीये ॥ २४० ॥

भाषार्थः-(स्त्रियोरत्नान्यथोविद्या) अच्छी स्त्री मणि आदि रत्न विद्या (धर्मः, शौचं, सुभाषितम्) धर्मसम्बन्धी शुभाचरण शिक्षा, शौच क्रिया, अच्छा प्रिय भाषण (च) और (विविधानिशिल्पानि) नाना प्रकार की शिल्पविद्या (समादेयानि, सर्वतः) सब से अर्थात् निन्दित कुल वा पुरुष से भी ग्रहण करलेनी चाहिये ॥

भा०-यह भी नीति गर्भित वचन ब्राह्मण से भिन्न क्षत्रियादि के लिये है। यहां किन्हीं सुभाषणादि पूर्वकथितों का पुनः कथन विशेषता जताने के लिये अनुवाद है। पर आपत्काल में ब्राह्मण भी विद्या और धर्म का सब से ग्रहण कर लेवे। और शिल्पादि तो ब्राह्मण के धर्म कर्म से ही विरुद्ध हैं उन का ग्रहण करने वा रत्नादि के लेन देन (शराफी) से जीविका करने वाले में ब्राह्मणपन ही नहीं रह सकता। यदि नीच वर्ण की स्त्री में सन्तानोत्पत्ति करे तो उस का ब्राह्मणपन ही नष्ट हो जाता है यह अ० ३ में कहा है इस से शिल्पादि कार्य ब्राह्मण से भिन्न के लिये हैं ॥ २४० ॥

अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते ।
अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः ॥२४१॥

अ०-आपत्कालेऽब्राह्मणात्क्षत्रियादेरध्यापकाद्वेदाध्ययनं ब्रह्मचारिणो विधीयते । यावत्कालमध्ययनं तावदेव गुरोरनुव्रज्या शुश्रूषा कार्या नान्या नाध्ययनानन्तरं वा ॥

भा०-यदा कथमपि ब्राह्मणोऽध्यापको न प्राप्येत । सएवापत्कालस्तदा ब्रह्मचारिणा ब्राह्मणभिन्नात्क्षत्रियादेरपि वेदोऽध्येतव्यः । तस्य चाभ्युत्थानमनुगमनमेव च शुश्रूषणं कार्यं नतु पादस्पर्शप्रक्षालनादिकमिति ॥ २४१ ॥

भाषार्थः-(आपत्काले) आपत्काल में जब कोई सुयोग्य ब्राह्मण अध्यापक न मिले तब (अब्राह्मणात्) क्षत्रियादि अध्यापक से ब्रह्मचारी को (अध्ययनम्) वेद पढ़ना चाहिये ऐसा (विधीयते) विधान है और (यावत्, अध्ययनम्) जब

तक उन के समीप पढ़े तब तक (अनुव्रज्या च शुश्रूषा, गुरोः) प्रत्युत्थान करना आसन देना तथा पीछे चलनारूप ही क्षत्रियादि गुरु की शुश्रूषा ब्रह्मचारी को कर्त्तव्य है अन्य प्रकार की नहीं वा अध्ययन के पश्चात् भी नहीं ॥

भा०—जब किसी प्रकार ब्राह्मण अध्यापक न मिलसके यही वेदाध्ययन का आपत्काल है तब ब्रह्मचारी को ब्राह्मण से भिन्न क्षत्रियादि से भी वेद पढ़ना चाहिये उस क्षत्रियादि गुरु की अभ्युत्थान वा अनुगमनादि रूप ही सेवा करे किन्तु पग दूना वा पग धोना आदि नहीं ॥ २४१ ॥

ना ब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वासमात्यन्तिकं वसेत्।
ब्राह्मणे चाननूचाने काङ्क्षन् गतिमनुत्तमाम् ॥

अ०—आपद्यब्राह्मणे गुरौ क्रियमाणे शिष्यो ब्रह्मचारी आत्यन्तिकं वासं न वसेत्। तथैवाननूचाने वेदसिद्धान्तरूपं श्रेयस्करं धर्मं वेदाशयं च वक्तुमशक्ते ब्राह्मणेऽपि अनुत्तमां गतिं काङ्क्षन्नात्यन्तिकं वासं रोचयेदिति ॥

भा०—यदि कोऽपि गृहाश्रमं कर्त्तुं नेच्छेत्स नैष्ठिको ब्रह्मचारी भूत्वा जन्मावधि गुरुं शुश्रूषमाणः श्रेयस्करं धर्मं चाचरन् गुरुकुलएव निवसेदिति विधीयते। तत्र यद्यब्राह्मणो गुरुर्ब्राह्मणोऽप्यविद्वान्वा गुरुः स्यात्तदा तत्सन्निधौ जन्मावधि शिष्यो न वासं रोचयेदिति ॥ २४२ ॥

भाषार्थः—आपत्काल में (शिष्यः) शिष्य ब्रह्मचारी (अब्राह्मणे, गुरौ) ब्राह्मण से भिन्न पुरुष को गुरु करे तो उस के समीप (आत्यन्तिकम्, वासम्, न, वसेत्) पढ़ने पश्चात् अधिक काल तक न बसे (च) तथा (अनुत्तमाम्, गतिम्, काङ्क्षन्) सर्वोत्तम गति वा मुक्ति को चाहता हुआ शिष्य (ब्राह्मणेऽननूचाने) अविद्वान् ब्राह्मण गुरु के पास भी अधिक न बसे ॥

भा०—यदि कोई गृहाश्रम करना नहीं चाहता वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी हो कर जन्मभर गुरु की सेवा तथा श्रेयस्कर धर्म का ही सेवन करता हुआ गुरुकुल में ही

बसने ऐसा विधान है वहां यदि अब्राह्मण गुरु हो वा अविद्वान् ब्राह्मण गुरु हो तो उस के समीप जन्म पर्यन्त बसने की इच्छा शिष्य नहीं करे ॥ २४२ ॥

यदित्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत गुरोः कुले ।
युक्तःपरिचरेदेनमाशरीरविमोक्षणात् ॥२४३॥

अ०—यदि शिष्यो विदुषो ब्राह्मणानूचानगुरोः कुले आत्यन्तिकं बहुकालोनं वास रोचयेत तदाऽऽशरीरविमोक्षणादेनं गुरुं युक्तस्तत्परः सन्परिचरेत् ॥

भा० यदि गृहाश्रमाद्विरक्तचेताः शिष्यो जन्मावधि श्रेयोऽर्थमेव प्रयतं चिकीर्षुस्तदा केवलं धर्मं सञ्चिन्वन् तत्परतया गुरुमेव शुश्रूषेत ॥२४३॥

भाषार्थः—(यदि) जो शिष्य (गुरोः कुले आत्यन्तिकम्, वासं रोचयेत) प्रबल अध्यापक विद्वान् ब्राह्मण गुरु के कुल में जन्म भर बसना चाहे तो (आशरीरविमोक्षणात्) शरीर छूटने के समय तक (एनम्, युक्तः परिचरेत्) इस विद्वान् गुरु की तत्पर होकर सेवा करे ॥

भा०—यदि गृहाश्रम से विरक्त चित्त शिष्य जन्मभर कल्याण के लिये ही उपाय करना चाहे तो केवल धर्म का ही संचय करता हुआ तत्पर होकर गुरु की ही सेवा करे ॥ २४३ ॥

आसमाप्तेः शरीरस्य यस्तु शुश्रूषते गुरुम् ।
स गच्छत्यञ्जसा विप्रो ब्रह्मणः सद्मशाश्वतम् ॥

अ०—यस्तु ब्रह्मचारी विप्रः शरीरस्याऽऽसमाप्तेर्धर्ममेवाचरन् गुरुं शुश्रूषते स ब्रह्मणः शाश्वतं सद्म स्थानमञ्जसा निर्विघ्नतया सुखेन गच्छति प्राप्नोति ॥

भा०—अर्थवादोऽयम् । जन्मावधियोधर्ममेवाचरन् ब्रह्मचर्यनियमानुष्ठानैर्गुरुं शुश्रूषमाणश्रेष्ठाधिगमाय यतते सोऽवश्यं मुक्तो भवति ॥ २४४ ॥

भाषार्थः-(यस्तु) जो (विप्रः) मेधावी ब्रह्मचारी (शरीरस्याऽऽसमाप्तेः) शरीर की समाप्ति पर्यन्त धर्म का ही आचरण करता हुआ (गुरुम्, शुश्रूषते) गुरु की सेवा करता है (सः) वह (ब्रह्मणः, शाश्वतम्, सद्म) परमेश्वर की सनातन अचल आनन्द मय अवस्था को (अञ्जसा) निर्विघ्नता के साथ सुख पूर्वक (गच्छति) प्राप्त होता है ॥

भा०-यह प्रशंसारूप अर्थवाद है । जन्मभर जो धर्म ही करता तथा ब्रह्मचर्य नियमानुष्ठानों के साथ गुरु की शुश्रूषा करता हुआ इष्टप्राप्ति के लिये उपाय करता है वह अवश्य मुक्त होता है ॥ २४४ ॥

न पूर्वं गुरवे किंचिदुपकुर्वीत धर्मवित् ।
स्नास्यंस्तु गुरुणाज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत् ॥

अ०-समावर्त्तनात्पूर्वं धर्मविद् ब्रह्मचारी किंचिद्धनादिकं यत्नादानीय गुरवे नोपकुर्वीत स्नास्यन् गृहस्थो भवितुमिच्छंस्तु गुरुणाज्ञप्तः शक्त्या यथाशक्ति गुर्वर्थं धनादिकमाहरेत् ॥

भा०-यदि जन्मावधि गुरुकुले निवसेत्तदा गुरुदक्षिणाऋणस्यापाकरणं शिष्योपरि भारो नास्ति । यदि प्रयत्नमन्तरा किमप्यागच्छेत्तत्तु गुरवे निवेदयेत् । ब्रह्मचर्यं समाप्य समावर्त्तमानेन तु शिष्येण गुरुरेवं प्रष्टव्यएव-कं भवतां प्रत्युपकारं कुर्यामित्याज्ञां ददतु भवन्तइति । दत्ताज्ञस्तु शिष्यो निर्दिष्टं धनादिकं प्रकृष्टयत्नेनोपार्ज्य समर्पयेदिति ऋणस्यापाकरणं धर्मः ॥ २४५ ॥

भाषार्थः-(पूर्वम्) समावर्त्तन से पूर्व (धर्मविद्) धर्मज्ञ ब्रह्मचारी (किंचित्) कुछ धनादि पदार्थ प्रयत्न से लाकर (गुरवे) गुरु के लिये (नोपकुर्वीत) समर्पण न करे । (तु) और (स्नास्यन्) समावर्त्तन कर गृहस्थ होना चाहे तब तो (गुरुणाज्ञप्तः) गुरु की आज्ञा पा कर (शक्त्या) यथाशक्ति (गुर्वर्थमाहरेत्) गुरु के लिये धनादि लाकर देवे ॥

भा०—जो शिष्य जन्मपर गुरुकुल में निवास करे तो गुरुदक्षिणारूप ऋण के चुकाने का भार शिष्य पर नहीं है। यदि अनायास ब्रह्मचर्य काल में कुछ आजावे तो वह गुरु को अवश्य निवेदन करे पर समावर्त्तन करते हुए शिष्य को उचित है कि वह गुरु से अवश्य कहे कि "मैं आप का क्या प्रत्युपकार करूं सो आज्ञा दीजिये" आज्ञा पाकर मांगे हुए धनादि पदार्थ को कठिन उपाय से भी संचित कर समर्पण करे यह ऋण चुकानारूप धर्म है ॥ २४५ ॥

क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमासनम् ।
धान्यं शाकं च वासांसि गुरवे प्रीतिमावहेत् ॥

अ०—क्षेत्रमन्नोत्पादनाय करग्रहणाय वा ग्रामाधिपत्यं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमासनं धान्यं शाकं वासांसि च गुरवे प्रीतिपुरस्सरमावहेत् ॥

भा०—क्षेत्रादिकमेकैकं प्रीतिकरं दद्यान्न सर्वं समुदितमिति। क्षेत्रादिबहुमूल्यपदार्थप्राप्त्यभावे छत्रोपानहादिकमल्पमूल्यं समुदितमपि वस्तु प्रीत्या समर्पयेत्। धर्मात्मानो गुरवस्तु किमपि धर्मकृत्यमाचरितुं निकृष्टं वा त्यक्तुमेव प्रतिज्ञां कारयन्त्येतामेव दक्षिणां स्वोपकारिकां मन्यन्ते। यद्वा यत्किमपि शाकफलपुष्पादिकं यः स्वशक्त्यनुकूलमर्पयति तदेव बहु मन्यन्ते। क्षेत्रादीन्युपलक्षणार्थानि। अन्यदप्येतादृशमेवानीयसमर्पयेत्। नतु कस्यापि कन्यामानेतुमाज्ञप्तस्तामानयेदित्याशयः ॥ २४६ ॥

भावार्थः—(क्षेत्रम्) गेहूं आदि अन्न के उत्पादनार्थ वा जिमीदार वा सरदार होके कर (महसूल) लेके निर्वाह के लिये पृथिवी (हिरण्यम्) सुवर्ण (गामश्वम्) गौ वा घोड़ा (छत्रोपानहमासनम्) छाता, जूता, आसन (धान्यं शाकं च वासांसि) अन्न शाक और वस्त्र (गुरवे, प्रीतिमावहेत्) गुरु के लिये प्रीति पूर्वक समर्पित करे ॥

भा०—भूमि आदि बहुमूल्य पदार्थ अनेक न दे सके तो गुरु को अतिप्रिय कोई एक वस्तु देवे। यदि बहुमूल्य पदार्थ प्राप्त न हों तो जूता छाता आदि अल्पमूल्य के अनेक वस्तु भी देवे। उत्तम कोटिस्थ धर्मात्मा गुरु लोग तो किसी धर्म कार्य के कराने वा किसी निकृष्ट काम के छुड़ाने की प्रतिज्ञा कराते हैं इसी को अपनी उपकारिणी दक्षिणा मानते हैं। अथवा जो कुछ शाक फल पुष्पादि का जो अपनी शक्ति के अनुसार समर्पण करता है उसी को बहुत वा बड़ा मानते हैं। क्षेत्रादि का परिगणन उपलक्षणार्थ है। ऐसे ही अन्य पदार्थ भी लाकर समर्पित करे किन्तु किसी की कन्या को लाने के लिये यदि गुरु आज्ञा दें तो ऐसा अनुचित काम न करे ॥ २४६ ॥

आचार्ये तु खलु प्रेते गुरूपुत्रे गुणान्विते ।
गुरुदारे सपिण्डे वा गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् ॥२४७॥

अ०—जन्मावधि गुरुकुले निवसन् शिष्य आचार्ये प्रेते सति गुणान्विते गुरुपुत्रे गुणान्विते गुरुदारे गुणान्विते गुरोः सपिण्डे वा गुरुवद् वृत्तिमाचरेत् ॥

भा०—आमरणाद् गुरुकुले निवस्तुं कृतप्रतिज्ञो ब्रह्मचारी गुरौ प्रेतेऽपि तत्रैव निवसेद् धर्ममाचरन् तपस्तप्स्यंश्चेष्टं साधयेत् ॥ २४७ ॥

भाषार्थः—जन्मभर गुरुकुल में वसता हुआ शिष्य (आचार्ये खलु प्रेते) गुरु के मरजाने पर भी (गुणान्विते) गुणवान् गुरु के पुत्रों (गुरुदारे) धर्मनिष्ठ गुरुस्त्री (सपिण्डे वा) अथवा गुणवान् गुरु की सप्त पीढ़ी में (गुरुवद्वृत्तिम्) गुरु के तुल्य वर्त्ताव (आचरेत्) करे ॥

भा०—मरणपर्यन्त गुरुकुल में वसने की प्रतिज्ञा करने वाला ब्रह्मचारी गुरु के मरजाने पर भी वहीं गुरु के आश्रम में वसे और धर्म वा तप करता हुआ इष्ट को सिद्ध करे ॥ २४७ ॥

एतेष्वविद्यमानेषु स्थानासनविहारवान् ।
प्रयुञ्जानोऽग्निशुश्रूषां साधयेद्दृहमात्मनः ॥२४८॥

अ०—एतेषु गुरुपुत्रादिष्वविद्यमानेषु गुरोः स्थानासनेषु

विहरणशीलः शिष्योऽग्निशुश्रूषां प्रयुञ्जानो नियमेनाग्नि-होत्रं ब्रह्मयज्ञं चानुतिष्ठन्नात्मनः स्वस्य देहं साधयेत् ॥

भा०—गुरुपुत्रादीनामभावेऽपि गुरोर्धर्मात्मतां स्मरन् गुरोः स्थानासनयोर्निवसन् सर्वदुराचरणाद्देहेन्द्रियाणि नि-वर्त्त्य शुद्धानि सम्पादयेत् ॥ २४८ ॥

भाषार्थः—(एतेष्वविद्यमानेषु) इन गुरुपुत्रादि के भी न होने वा न रहने पर (स्थानासनविहारवान्) गुरु के स्थान बैठने के स्थल में रहता (अग्नि-शुश्रूषां प्रयुञ्जानः) नियम से अग्निहोत्र और ब्रह्मयज्ञ करता हुआ (आत्मनो देहं साधयेत्) अपने शरीर मन इन्द्रियों को शुद्ध करे ॥

भा०—गुरुपुत्रादि के न होने पर भी गुरु के स्थान में बसता और गुरु की धर्मनिष्ठता का स्मरण करता हुआ सब दुराचरणों से देह और इन्द्रियों को निवृत्त कर शुद्ध करे ॥ २४८ ॥

एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविप्लुतः ।
स गच्छत्युत्तमं स्थानं न चेहाजायते पुनः ॥२४९॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां द्वितीयोऽध्यायः॥

अ०—एवं योऽविप्लुतोऽखण्डितव्रतो विप्रो ब्रह्मचर्यमा-मरणाच्चरति स उत्तमं स्थानं सर्वविघ्नोपशान्तं मुक्तिपदं गच्छति नचेह पुनराजायते ॥

भा०—जन्मावध्यखण्डितव्रतएव मोक्षभाग्भवति नतु खण्डितव्रतइति ॥ २४९ ॥

भाषार्थः—(एवम्) इस उक्तप्रकार (योऽविप्लुतः) जो अखण्डित व्रतधारी (विप्रः) ब्राह्मण ब्रह्मचारी मरणपर्यन्त (ब्रह्मचर्यम्, चरति) ब्रह्मचर्य के नियमों से रहता है (सउत्तमं स्थानम्) वह सर्वविघ्नों से रहित उत्तम स्थान को (ग-च्छति) प्राप्त होता है (नचेह पुनराजायते) फिर इस जगत् में जन्म नहीं लेता ॥

भा०—जन्मभर अखण्डित ब्रह्मचर्य व्रत वाला ही मोक्ष का भागी होता है किन्तु खण्डित व्रत वाला नहीं ॥ २४९ ॥

इति भीमसेनशर्मनिर्मिते मानवधर्ममीमांसाभाष्ये
द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥